

जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन  
एक  
तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० विजय कुमार

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

# जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन

## एक तुलनात्मक अध्ययन

सादर भेंट

लेखक

डॉ० विजय कुमार

एम०ए० (दर्शनशास्त्र), पी-एच०डी०

प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ,

वाराणसी



पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी

२००३

**पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं० - १४२**

पुस्तक	: जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन
लेखक	: डॉ० विजय कुमार
प्रकाशक	: पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई०टी०आई०, रोड, करौंदी, वाराणसी-५
दूरभाष संख्या	: ०५४२-२५७५५२१
प्रथम संस्करण	: २००३
मूल्य	: २००.०० रुपये मात्र
अक्षर सज्जा	: सरिता कम्प्यूटर्स, डी ५५/४८, औरंगाबाद, वाराणसी फोन नं० : २३५९५२१.
मुद्रक	: वर्द्धमान मुद्रणालय, भेलूपुर, वाराणसी.
©	: पार्श्वनाथ विद्यापीठ
I.S.B.N.	: 81-86715-74-6

**Pārśwanātha Vidyāpīṭha Series No. : 142**

Title	: Jaina Evam Bauddha Śikṣā Darśana : Ek Tulnātmaka Adhyayana
Writer	: Dr. Vijaya Kumar
Publisher	: Pārśwanātha Vidhyāpīṭha I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5.
Telephone No.	: 0542-2575521
First Edition	: 2003
Price	: Rs. 200.00 only
Typesetting at	: Sarita Computers, D. 55/48, Aurangabad, Varanasi-5. Phone No. 2359521.
Printed at	: Vardhaman Mudranalaya, Bhelupur, Varanasi.

# संमर्पण



पूज्य सास-ससुर श्रीमती किरण देवी खटेड़

एवं

श्री धनराज सिंह खटेड़

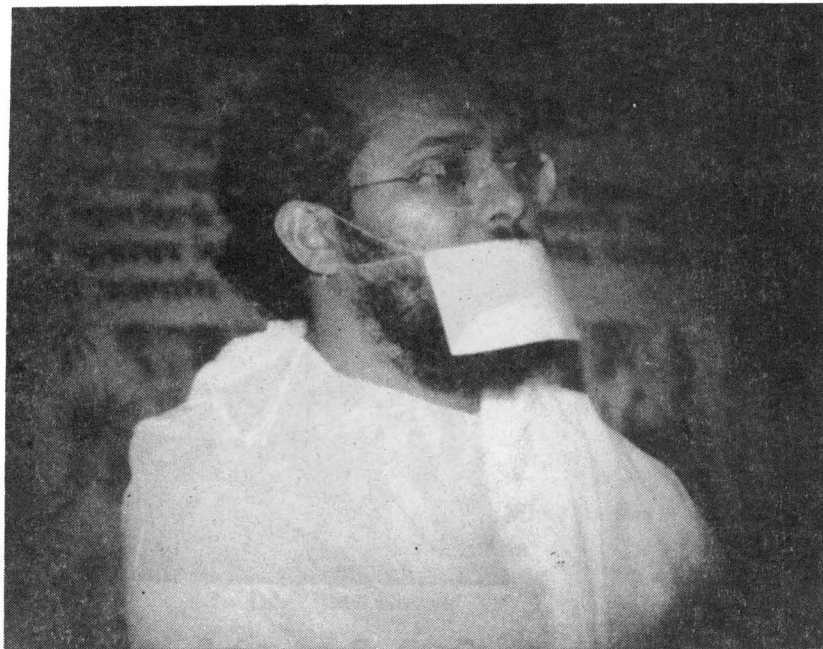
को

सादर

विजय



मानव मिलन प्रेरक पूज्य मुनि श्री मणिभद्रजी म० सा०



की प्रेरणा से  
पंजाब जैन भ्रातृसभा, कानपुर ने  
इस पुस्तक के प्रकाशन हेतु  
१०,००० रुपये का  
अनुदान दिया

## प्रकाशकीय

‘सा विद्या या विमुक्तये’ अर्थात् विद्या वही है जो विमुक्ति प्रदान करे। दैहिक-जीवन मूल्यों में उदरपूर्ति व्यक्ति की प्रथम आवश्यकता है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता है। किन्तु इसे ही शिक्षा का ‘अथ एवं इति’ नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि यह कार्य शिक्षा के अभाव में भी सम्भव है। यदि उदरपूर्ति ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य हो तो फिर मनुष्य पशु से भिन्न नहीं होगा। जैन मान्यतानुसार उस शिक्षा या ज्ञान का कोई अर्थ नहीं है जो हमें चारित्रिक शुद्धि या आचारशुद्धि की दिशा में गतिशील न करता हो। शिक्षा से व्यक्ति अज्ञान का नाश करता है तथा संक्लेश को प्राप्त नहीं होता है। जिस प्रकार धागे से युक्त सूई गिर जाने पर भी विनष्ट नहीं होती है अर्थात् खोजी जा सकती है, उसी प्रकार श्रुतसम्पन्न जीव संसार में विनष्ट नहीं होता है। दूसरे शब्दों में जैन परम्परा में उस शिक्षा को निरर्थक ही माना गया है जो व्यक्ति के चारित्रिक विकास या व्यक्तित्व विकास करने में समर्थ नहीं है। जो शिक्षा मनुष्य को पाशविक वासनाओं से ऊपर नहीं उठा सके, वह वास्तविक शिक्षा नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में मान्य शिक्षा-पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुये वर्तमान शिक्षा में आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की शिक्षा की महती आवश्यकता पर बल दिया है, अतः उन्हें मेरा साधुवाद।

सुन्दर अक्षर-सज्जा के लिये सरिता कम्प्यूटर्स एवं सत्त्वर मुद्रण हेतु वर्द्धमान मुद्रणालय को धन्यवाद देता हूँ।

दिनांक-११.०४.२००३  
शाजापुर

सागरमल जैन  
सचिव  
पार्श्वनाथ विद्यापीठ





## स्वकथ्य

विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम्।

पात्रत्वाद्धनमाप्नोति, धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

विद्या मनुष्य को विनयशील बनाती है। विनय से वह योग्य हो जाता है। योग्यता से धन अर्जित होता है और धर्म की प्राप्ति होती है। विद्या, बुद्धि और विवेक के आधार पर मनुष्य को समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ माना जाता है। शिक्षा के माध्यम से ही मनुष्य की बुद्धि और विवेक का विकास होता है। मनुष्य जीवनपर्यन्त शिक्षा की प्राप्ति विविध रूपों में करता है तथा अपने ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास के लिये शिक्षा का सहारा लेता है।

आज की शिक्षण-प्रणाली में व्यक्ति के विकास के साधनों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। एक ओर हमारी प्राचीन शिक्षा जहाँ व्यक्तित्व के चरम विकास और निर्वाण की बातें करती है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक शिक्षा व्यक्ति को अर्थ और काम तक ही सीमित करने के प्रयास में संलग्न है। परिणामतः आज की शिक्षा व्यक्ति को पूर्ण संस्कृत एवं विकसित करने में असमर्थ-सी प्रतीत हो रही है। यद्यपि आज के इस कम्प्यूटर युग में मोक्ष या निर्वाण की बातें करना हास्यास्पद जान पड़ती हैं, फिर भी धर्म की बातें तो कर सकते हैं। शिक्षा में धर्म को तो स्थान दिया जा सकता है। धर्म, नैतिकता, सत्यनिष्ठा तथा आध्यात्मिकता से हीन वर्तमान शिक्षा राष्ट्र के प्रत्येक स्तर पर अस्थिरता एवं अशांति का कारण बन रही है। आज शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अनेक युवक-युवतियाँ बेरोजगारी की शिकार बनती जा रही हैं। इन सब बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी शिक्षा का हमारे समाज के साथ कोई सामंजस्य नहीं हो पा रहा है। इन्हीं समस्याओं को दृष्टिगत कर मैंने श्रमण परम्परा की प्राचीन शिक्षण-प्रणाली को देखना उचित समझा।

भारतीय संस्कृति में तीन प्रकार की परम्पराएँ देखने को मिलती हैं- ब्राह्मण, जैन एवं बौद्ध। प्रस्तुत पुस्तक में जैन एवं बौद्ध दो परम्पराओं के शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों के तुलनात्मक विवेचन को प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम अध्याय में शिक्षा-दर्शन का सामान्य परिचय देते हुये शिक्षा का शाब्दिक अर्थ, परिभाषा, शिक्षा का जीवन और दर्शन से सम्बन्ध, शिक्षा की समस्याएँ आदि

पर विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में जैन एवं बौद्ध धर्म-दर्शन तथा उनके साहित्य का वर्णन किया गया है। इस अध्याय के अन्तर्गत जैन एवं बौद्ध धर्म-दर्शन का संक्षिप्त परिचय देते हुये उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि तथा शिक्षा से सम्बन्धित साहित्य को समाहित किया गया है।

तृतीय अध्याय में जैन एवं बौद्ध शिक्षा के उद्देश्य तथा विषय की चर्चा की गयी है। दोनों परम्पराओं की शिक्षाओं को दो भागों में विभक्त किया गया है- आध्यात्मिक और लौकिक। आध्यात्मिक शिक्षा के अन्तर्गत जैन धर्म के त्रिरत्न, पंचमहाव्रत आदि तथा बौद्धधर्म के चार आर्यसत्य और अष्टांगिकमार्ग आदि को निरूपित किया गया है। लौकिक शिक्षा के अन्तर्गत जैन एवं बौद्ध शिक्षा में मान्य कलाओं तथा तत्कालीन पाठ्य विषयों को समाहित किया गया है। तत्पश्चात् दोनों परम्पराओं में मान्य सिद्धान्तों की तुलना की गयी है।

चतुर्थ अध्याय में जैन एवं बौद्ध शिक्षा-पद्धति को निरूपित करते हुये जैन शिक्षण-पद्धति के अन्तर्गत पाठ-विधि, प्रश्नोत्तर-विधि, शास्त्रार्थ-विधि आदि नौ विधियों तथा बौद्ध शिक्षण-पद्धति के अन्तर्गत भी पाठ-विधि, प्रश्नोत्तर-विधि, शास्त्रार्थ-विधि आदि सात विधियों को विवेचित किया गया है। तत्पश्चात् दोनों परम्पराओं में मान्य पद्धतियों की तुलना की गयी है।

पंचम अध्याय में शिक्षक की योग्यता एवं दायित्व को विवेच्य विषय बनाया गया है। इसके अन्तर्गत दोनों परम्पराओं में मान्य गुरु के स्वरूप को विश्लेषित करते हुये गुरु की परिभाषा, लक्षण, पद पर नियुक्त होने की योग्यताएँ, गुरु के प्रकार, कर्तव्य आदि विषयों को समाहित किया गया है। तत्पश्चात् तुलना की गयी है।

षष्ठ अध्याय में दोनों परम्पराओं में मान्य शिक्षार्थी की योग्यतायें, विद्यारम्भ सम्बन्धी संस्कार, शिक्षार्थी की योग्यतायें, विनय और विनय के फल, शिक्षार्थी के कर्तव्य, शिक्षार्थी के प्रकार आदि विषयों को निरूपित किया गया है।

सप्तम अध्याय में गुरु और शिष्य के सम्बन्ध तथा तत्कालीन दण्ड-व्यवस्था को विवेचित किया गया है।

अष्टम अध्याय उपसंहार के रूप में लिया गया है जिसके अन्तर्गत जैन एवं बौद्धकालीन शिक्षा और आधुनिक शिक्षा को समायोजित करने का प्रयास किया गया है।

सन् १९८६ में मैंने इस विषय पर दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में

शोध छात्र के रूप में कार्य प्रारम्भ किया था। सन् १९८९ में मुझे इस विषय पर पी-एच० डी० की उपाधि से सम्मानित किया गया। इस कार्य के प्रणयन में जो भी मेरे पथ-प्रदर्शक एवं सहायक रहे हैं उनमें सर्वप्रथम मैं गुरुद्वय प्रो० हरिश्चन्द्र सिंह 'राठौर' शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं प्रो० बद्रीनाथ सिंह, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रति श्रद्धावनत हूँ जिनके सस्नेह मार्गदर्शन एवं निर्देशन में प्रस्तुत कार्य पूर्ण हो सका। मेरी अनियमितताओं एवं त्रुटियों पर लेशमात्र भी ध्यान न देकर गुरुद्वय सदा मुझे अपने कार्य के लिये उत्साहित करते रहे। अतः पुनश्च श्रद्धेय गुरुद्वय के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

विशेष रूप से प्रो० सागरमल जैन, पूर्व निदेशक एवं सचिव, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इस विषय पर कार्य करने की सलाह दी तथा समय-समय पर शोध-सम्बन्धी कठिनाईयों को भी दूर करते रहे, अतः उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

प्रो० लक्ष्मीनिधि शर्मा (पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०, वाराणसी), प्रो० रामजीसिंह (पूर्व कुलपति, जैन विश्व भारती, लाडनू), प्रो० रघुनाथ गिरि (पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, म० गा० काशी विद्यापीठ, वाराणसी), प्रो० मृत्युञ्जय नारायण सिन्हा (पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर), प्रो० शच्चिन्द्र कुमार सिंह (अध्यक्ष, दर्शन विभाग, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर), प्रो० रेवतीरमण पाण्डेय (कुलपति, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर), प्रो० रामलाल सिंह (दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद), प्रो० शम्भूनाथ सिंह (अध्यक्ष, समाजकार्य विभाग, म० गा० काशी विद्यापीठ, वाराणसी), प्रो० परमानन्द सिंह (अध्यक्ष, इतिहास विभाग, म० गा० काशी विद्यापीठ, वाराणसी), प्रो० रघुवीर सिंह 'तोमर' (राजनीतिशास्त्र विभाग, म० गा० काशी विद्यापीठ, वाराणसी), प्रो० गीतारानी अग्रवाल (अध्यक्ष, दर्शन विभाग, म० गा० काशी विद्यापीठ, वाराणसी), प्रो० कमलाकर मिश्र (पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०, वाराणसी), प्रो० डी० ए० गंगाधर (अध्यक्ष, दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०, वाराणसी), प्रो० उमेशचन्द्र दूबे (दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०), प्रो० एस० विजय कुमार (दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०, वाराणसी), प्रो० मुकुलराज मेहता (दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०, वाराणसी) एवं प्रो० कृपाशंकर जी (दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०, वाराणसी) आदि गुरुवर्य का हृदय से आभारी हूँ जिन लोगों ने सदा मुझे शिक्षा जगत में अग्रसर होने के लिये प्रेरित किया है।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो० महेश्वरी प्रसाद एवं मेरे सहयोगी डॉ० अशोक कुमार सिंह, डॉ० शिवप्रसाद जी, डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, श्री ओमप्रकाश सिंह, श्री राजेश

चाँबे, श्री राकेश सिंह एवं अन्य कर्मचारीगण के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ जिन लोगों से हमेशा अकादमीय सहयोग मिलता रहता है। विशेषकर अपनी धर्मपत्नी डॉ० सुधा जैन जो पार्श्वनाथ विद्यापीठ में मेरी अकादमीय सहयोगी हैं, के प्रति आभार ज्ञापित करके मैं उन्हें शर्मिन्दा नहीं करना चाहता क्योंकि उन्होंने घर एवं घर से बाहर सदा मेरा साथ देकर मुझे गौरवान्वित किया है। मित्रवर डॉ० जगत राम भट्टाचार्य (उपाचार्य, प्राकृत भाषा विभाग, जैन विश्व भारती, लाडनू), डॉ० रज्जन कुमार (उपाचार्य, दर्शन विभाग, रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली), डॉ० सुनीता कुमारी (उपाचार्य, एस०एम०एस० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रुड़की), डॉ० जयन्त कुमार (प्राचार्य, आदर्श विद्या मंदिर, कुचामन सिटी) के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनकी मित्रता ने मुझे हमेशा बल प्रदान किया है।

अपने पूज्य माता-पिता स्व० श्रीमती शान्ति सिन्हा एवं डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा का अत्यन्त ऋणी हूँ जिन लोगों ने मुझे प्यार ही नहीं बल्कि गुरु रूप में विद्या और ज्ञान भी प्रदान किया है। पूज्य चाचीजी-चाचाजी श्रीमती शान्ति सिंह एवं श्री रवीन्द्र नाथ सिंह जो मेरे द्वितीय माता-पिता हैं और जिन लोगों ने सदा मुझे अध्ययनरत रहने में प्रोत्साहित किया है, के वात्सल्य एवं आशीर्वाद के लिये सदैव ऋणी हूँ। पूज्य भ्राता प्रोफेसर प्रभात कुमार सिंह (अंग्रेजी विभाग, म०गा० काशी विद्यापीठ, वाराणसी) जो शैक्षणिक जगत में मुझे प्रोत्साहित करते रहे हैं और जिनकी कर्मठता सदा मुझे प्रेरित करती रही है, के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। आदरणीय मामाजी डॉ० शशिरंजन सिंह के प्रति अपना अभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने हमेशा स्नेह एवं सहयोग प्रदान किया है। अग्रज स्व० डॉ० संजय कुमार, डॉ० अजय कुमार एवं श्री धनंजय कुमार तथा परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूँ जिन लोगों ने पारिवारिक कार्यों में मुझे सहयोग देकर अध्ययन के लिये सदा प्रोत्साहित किया है।

इसे स्वीकार करने में मुझे कोई हिचक नहीं है कि इस पुस्तक में जो कुछ भी है वह सन्तों, गुरुजनों, विद्वज्जनों का है, जिन्हें मैंने अपनी अल्पमति के आधार पर सुनियोजित करने का प्रयास किया है। अतः इस कार्य में यदि कोई दोष दिखाई पड़ता है तो वह निश्चित ही मेरा है और इसके लिये उदारमना विद्वानों से मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

अन्त में सुन्दर अक्षर-सज्जा हेतु सरिता कम्प्यूटर व स्वच्छ मुद्रण के लिये वर्द्धमान मुद्रणालय को धन्यवाद देता हूँ।

११.०४.२००३

रामनवमी

**विजय कुमार**





# विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

प्रकाशकीय :	i
स्वकथ्य :	ii-v
विषयानुक्रमणिका :	vi
प्रथम अध्याय :	शिक्षा-दर्शन : एक सामान्य परिचय १-२२
द्वितीय अध्याय :	जैन एवं बौद्ध धर्म-दर्शन तथा उनके साहित्य २३-५९
तृतीय अध्याय :	जैन एवं बौद्ध शिक्षा के उद्देश्य एवं विषय ६०-१०३
चतुर्थ अध्याय :	शिक्षा-पद्धति १०४-१३२
पंचम अध्याय :	शिक्षक की योग्यता एवं दायित्व १३३-१६७
षष्ठ अध्याय :	शिक्षार्थी की योग्यता एवं दायित्व १६८-२००
सप्तम अध्याय :	गुरु-शिष्य सम्बन्ध एवं दण्ड-व्यवस्था २०१-२१५
अष्टम अध्याय :	उपसंहार २१६-२२५
सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची :	२२६-२३५





## प्रथम अध्याय

# शिक्षा-दर्शन : एक सामान्य परिचय

मनुष्य द्वारा प्राप्त ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने के लिए जिस विधि या प्रक्रिया का सहारा लिया जाता है, वह 'शिक्षा' है। शिक्षा के अभाव में मनुष्य को बिना सींग और पूँछ के जानवर तक की उपमायें दी गयी हैं। कहा भी गया है— 'ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः।' शिक्षा का अभाव ही व्यक्ति और समाज में व्याप्त अन्धकार का मूल कारण है। शिक्षा ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास होता है, उसके ज्ञान और कला-कौशल में वृद्धि तथा व्यवहार में परिवर्तन होता है। शिक्षा के कारण ही मानव में विचारशीलता, बुद्धिमत्ता, सदाचारित्व आदि गुण देखने को मिलते हैं। शिक्षा के द्वारा ही मानव सभ्य एवं सुसंस्कृत बनता है। अन्य प्राणी भी प्रशिक्षित होते हैं लेकिन उनमें विवेक का अभाव होता है। शिक्षा मानव में विवेक को जाग्रत एवं समृद्ध करती है। सही अर्थों में शिक्षा प्रकाश का स्रोत है जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सद्मार्ग को प्रकाशित करती है।

शिक्षा के लिए ज्ञान, विद्या आदि शब्दों के प्रयोग भी किये जाते हैं। ऐसी मान्यता है कि ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है जो उसे तत्त्वों के मूल को समझने में समर्थ बनाता है तथा सत्-कार्यों में प्रवृत्त करता है।<sup>१</sup> विद्या से जिस ज्योति की प्राप्ति होती है उससे व्यक्ति संशयों का उच्छेद करता है, कठिनाइयों को दूर भगाता है और जीवन के वास्तविक महत्त्व को समझने के योग्य बनता है। जिसे ज्ञान की ज्योति उपलब्ध नहीं होती वह अन्धे के समान होता है।<sup>२</sup> विद्या को माता, पिता तथा पत्नी के समान बताते हुये कहा गया है— विद्या माता की भाँति हमारी रक्षा करती है, पिता की भाँति हित-कार्यों में लगाती है तथा पत्नी की भाँति खेदों को दूर कर प्रसन्नता प्रदान करती है।<sup>३</sup> 'इसिभासियाइ' में कहा गया है— 'वही विद्या महाविद्या है, वही विद्या समस्त विद्याओं में उत्तम है जिसकी साधना करने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है। विद्या दुःख-मोचनी है। जैन आचार्यों ने उसी विद्या को उत्तम माना है जिसके द्वारा दुःखों से मुक्ति हो और आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार हो।'<sup>४</sup> 'आदिपुराण' में शिक्षा (विद्या) की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए आचार्य जिनसेन ने कहा है— 'विद्या ही मनुष्य को यश देनेवाली है, विद्या ही आत्मकल्याण करनेवाली है, विद्या ही चिन्तामणि है, विद्या ही धर्म, अर्थ

और काम रूप फल से युक्त सम्पदाओं की परम्परा उत्पन्न करती है। विद्या ही बन्धु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करनेवाली है, विद्या ही साथ-साथ जानेवाली सम्पदा है और विद्या ही सब प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाली है।<sup>५</sup> शिक्षा इहलोक और परलोक दोनों में पुरुषार्थों को सिद्ध करती है।<sup>६</sup> इस प्रकार सम्यक्-शिक्षा वही है जो मानवीय दुःखों के स्वरूप को समझे, उनके कारणों का विश्लेषण करे, उनके निवारण के उपाय खोजे और उन उपायों का प्रयोग करके दुःखों से मुक्त कराये।

### ‘शिक्षा’ का शाब्दिक अर्थ

‘शिक्षा’ शब्द संस्कृत के ‘शिक्ष’ धातु में ‘अ’ प्रत्यय लगने से बना है जिसका अर्थ है ‘सीखना’। लेकिन जब हम ‘शिक्षण’ शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसका अर्थ केवल अध्यापन ही नहीं होता वरन् सीखना भी होता है क्योंकि शिक्षण शब्द की निष्पत्ति भी ‘शिक्ष’ धातु से हुई है। इसलिए शिक्षण शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों अर्थात् ‘सीखना और सिखाना’ में होता है।

अंग्रेजी में शिक्षा के लिए एजुकेशन (Education) शब्द का प्रयोग किया जाता है। एजुकेशन (Education) शब्द लैटिन भाषा के एडुकेटम (Educatum) शब्द से बना है। एडुकेटम शब्द उसी भाषा के एडुको (Educo) अर्थात् ए (E) और डुको (Duco), दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ होता है ‘अन्दर से निकालकर देना’। इस प्रकार एजुकेशन का अर्थ होता है— ‘आन्तरिक शक्तियों को बाहर की ओर निकालना या निकालने की प्रक्रिया।’

दूसरे विश्लेषण के अनुसार ‘एजुकेशन’ (Education) शब्द अंग्रेजी भाषा के एडुकेयर (Educare) से बना है जिसका अर्थ पालन-पोषण करना या विकसित करना होता है।

हिन्दी में शिक्षा के लिए ‘विद्या’ शब्द का भी प्रयोग किया जाता है, जिसका हम पहले वर्णन कर चुके हैं। यहाँ हम विद्या शब्द के शाब्दिक अर्थ को देखेंगे। ‘विद्या’ संस्कृत-भाषा का शब्द है और इसकी निष्पत्ति ‘विद्’ धातु से हुई है। विद् धातु के अनेक अर्थ होते हैं—

१. ज्ञान के अर्थ में ‘वेत्ति’ ‘वेद’ आदि शब्द इसी से बनते हैं।
२. सत्ता के अर्थ में विद्यते रूप चलता है और ‘विद्यमान’ आदि शब्द बनते हैं।
३. लाभ के अर्थ में विदति-ते रूप सम्पन्न होता है।
४. विचार या सोचने-विचारने के अर्थ में विङ्क्ते रूप चलता है।

५. चेतना, अनुभूति, आख्यान, कथन, निवास के अर्थ में वेदयते रूप सम्पन्न होता है। इस प्रकार 'विद्' के कम से कम पाँच अर्थ होते हैं— ज्ञान, वास्तविकता, उपलब्धि, विचारण और श्रेष्ठ भावनाएँ।

शिक्षा के सम्बन्ध में विभिन्न शिक्षाविदों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया है जिनमें कुछ भारतीय शिक्षाविद् हैं तो कुछ भारतीयतर। भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ हैं- वैदिक एवं श्रमण। श्रमण परम्परा के अन्तर्गत दो शाखाएँ मुख्य रूप से हैं- जैन एवं बौद्ध। जैन चिन्तन जैनगमों पर, बौद्ध विचार त्रिपिटकों पर तथा वैदिक मान्यताएँ वेदों पर आधारित हैं। अतः भारतीय शिक्षा सम्बन्धी जो भी मान्यताएँ हैं उन सबकी जानकारी इन्हीं स्रोतों से होती है। जहाँ तक पाश्चात्य शिक्षा सिद्धान्त की बात है तो इसका विस्तार यूनानी, जर्मन, फ्रांसीसी, ब्रिटिश, अमेरिकी आदि विभिन्न चिन्तनों में देखा जाता है। उनमें प्रतिपादित आदर्शवाद, यथार्थवाद, फलवाद आदि सिद्धान्तों को समझ लेने से पाश्चात्य शिक्षा सिद्धान्तों का समुचित बोध हो सकता है। पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारकों के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों के विवेचन निम्न प्रकार हैं—

### भारतीय विचारक

जैन विदुषी साध्वी चन्दना का कहना है कि 'शिक्षा वह है जो स्वयं को तथा दूसरों को मुक्ति दिलाये अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कराये।'७

बौद्ध जीवन-पद्धति के अनुसार केवल विद्वान् बन जाना ही शिक्षा का परम लक्ष्य नहीं है, बल्कि व्यक्ति को सत्यान्वेषण करना चाहिए और नैतिक गुणों को व्यवहार में उतारना चाहिए।८

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार- 'ज्ञान मनुष्य में स्वभाव सिद्ध है। वह जन्म से ही पूर्ण है। अतः मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।'९

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर के विचार न सैद्धान्तिक शिक्षा के पक्ष में हैं और न बौद्धिक शिक्षा के, बल्कि उनका मानना है कि शिक्षा सृजनात्मक होनी चाहिए। उनका मत है - 'शिक्षा वह है जिसका मानव-जीवन के आर्थिक, बौद्धिक, कलात्मक, सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन के साथ पूर्ण संस्पर्श हो।'१०

महात्मा गांधी ने शिक्षा को व्याख्यायित करते हुए लिखा है— 'शिक्षा से मेरा तात्पर्य मनुष्य तथा बालक में जो कुछ श्रेष्ठतर है उसका सम्पूर्ण विकास करना है और वह शरीर, आँख, कान, नाक आदि शारीरिक अवयवों के उचित अभ्यास और प्रशिक्षण से हो सकता है। ..... बुद्धि के शुद्ध विकास के लिए आत्मा और शरीर का विकास

साथ-साथ तथा एक ही गति से होना चाहिए।<sup>११</sup> आगे उन्होंने कहा है— ‘मात्र साक्षरता ही शिक्षा नहीं है जिसके माध्यम से स्त्री और पुरुष को शिक्षित किया जा सकता है। इसीलिए मैं बाल शिक्षा का प्रारम्भ उसे कोई एक महत्वपूर्ण हस्तकला (हैण्डिक्राफ्ट) की शिक्षा देकर करना चाहता हूँ। इससे हर स्कूल स्वावलम्बी बनाये जा सकते हैं और इस शिक्षा-पद्धति में बुद्धि तथा आत्मा का उच्चतम विकास सम्भव है। किसी भी हस्तकला की शिक्षा सिर्फ यान्त्रिक रूप से ही नहीं, बल्कि वैज्ञानिक रूप से देनी चाहिए।’<sup>१२</sup>

सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन् ने भी शिक्षा को परिभाषित करते हुए कहा है— ‘शिक्षा सूचना प्रदान करने एवं कौशलों का प्रशिक्षण देने तक सीमित नहीं है। इसे शिक्षित व्यक्ति को मूल्यों का विचार भी प्रदान करना है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी व्यक्ति भी नागरिक है, अतः जिस समुदाय में वे रहते हैं, उस समुदाय के प्रति उनका भी सामाजिक उत्तरदायित्व है।’<sup>१३</sup> शिक्षा के सम्बन्ध में श्री पाठक एवं त्यागी का कहना है कि ‘शिक्षा का अर्थ बालक की जन्मजात शक्तियों या गुणों को विकसित करके उसका सर्वाङ्गीण विकास करना है न कि उसके मस्तिष्क में ज्ञान को ठूसना।’<sup>१४</sup>

आज की जो शिक्षा-पद्धति है वह यही है कि बालक के मस्तिष्क को सूचनाओं से भर देना। किन्तु जब तक हम बालक के समक्ष जीवन-मूल्यों को स्पष्ट नहीं करते, तब तक हम शिक्षा के प्रयोजन को न तो सम्यक् प्रकार से समझ पायेंगे और न ही मनुष्य के दुःखों का निराकरण ही कर पायेंगे।

### पाश्चात्य विचारक

पाश्चात्य शिक्षाविदों में प्लेटो का नाम अग्रणीय है। प्लेटो ने भी शिक्षा के क्षेत्र में बहुत गम्भीरता से विचार किया है। उनके अनुसार शिक्षा उस प्रशिक्षण को कहेंगे जो बच्चों में उचित आदतें डाले जिससे उनके अन्दर सदगुणों, सद्विचारों आदि का विकास हो। आगे वे कहते हैं— ‘शिक्षा द्वारा युवक उस उचित तर्क की ओर प्रेरित होते हैं जो नियमानुमोदित है तथा जो वयोवृद्ध एवं उत्तम व्यक्तियों के अनुभवों द्वारा सच्चे अर्थ में समर्पित हैं।’<sup>१५</sup> तात्पर्य है शिक्षा वह है जो बालकों की मूल प्रवृत्तियों को अच्छी आदतों की ओर लगाती है, उचित-अनुचित सुख-दुःख एवं मित्रता आदि के भाव का भली-भाँति बोध कराती है। घृणा करनेवाली वस्तु से घृणा तथा प्रेम करनेवाली वस्तु से प्रेम करना सिखाती है।

प्लेटो के अनुगामी अरस्तु ने मानव के शारीरिक और मानसिक विकास पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार— ‘स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण ही शिक्षा है।’<sup>१६</sup>

रस्क के अनुसार— 'शिक्षा बालक को केवल भौतिक वातावरण में ही समायोजित नहीं करती अपितु हर प्रकार के परिवेश से समायोजित कराती है, शिक्षा का प्रयोजन बालक को वास्तविकता की सभी अभिव्यक्तियों से समन्वय करने योग्य बनाना है, केवल प्राकृतिक परिवेश से ही अपने अनुकूल कराना नहीं है।' १७

जॉन डीवी ने शिक्षा को परिभाषित करते हुये कहा है- 'शिक्षा समाज में निहित विषय-वस्तु को विकसित तथा गम्भीर बनाने के लिये अनुभवों के पुनर्निर्माण की एक अनवरत प्रक्रिया है, जिसके साथ व्यक्ति उन अनुभवों के पुनर्निर्माण सम्बन्धी सभी क्रियायों पर पूर्णरूपेण नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है या पूर्णरूप से उसका अभ्यस्त हो जाता है।' १८

टी० रेमण्ट के अनुसार- 'शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें मानव में बचपन से प्रौढ़ावस्था तक की अवधि निहित है या ऐसी प्रक्रिया है जिसमें वह धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार से अपने को भौतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बनाता है।' १९

ए०एन० ह्वाइटहेड ने शिक्षा द्वारा शैली निर्माण पर विशेष बल दिया है। शैली क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है— 'अपने सर्वोत्तम अर्थ में शैली ही एक शिक्षित मस्तिष्क की अन्तिम प्राप्ति है। यह सर्वाधिक उपयोगी भी है। यह पूर्वदृष्ट लक्ष्य की सरल, सार्थक एवं प्रत्यक्ष प्राप्ति की प्रशंसा पर आधारित सौन्दर्यानुभूति है। कला में शैली, साहित्य में शैली, विज्ञान में शैली तथा तर्क में शैली— व्यर्थता से घृणा करती है अर्थात् अपव्यय से हमें बचाती है। शिक्षा मन की चरम नैतिकता है। शैली से आप अपने लक्ष्य को और केवल लक्ष्य को ही प्राप्त करते हैं।' २०

प्रसिद्ध समाजशास्त्री दुर्खीम ने शिक्षा को परिभाषित करते हुए कहा है— 'शिक्षा अधिक आयु के लोगों के द्वारा ऐसे लोगों के प्रति की जानेवाली क्रिया है जो अभी सामाजिक जीवन में प्रवेश करने योग्य नहीं हैं, बल्कि शिक्षा शिशु में उन भौतिक, बौद्धिक और नैतिक विशेषताओं का विकास करती है जो उसके लिए सम्पूर्ण समाज और पर्यावरण से अनुकूलन करने के लिए आवश्यक है।' २१

फिलिप्स महोदय ने शिक्षा को एक संस्था के रूप में स्वीकार किया है। उनका कथन है— 'शिक्षा वह संस्था है जिसका केन्द्रीय मूल्य तत्त्व-ज्ञान का संग्रह है।' २२

शिक्षा के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के उपर्युक्त विचारों से भिन्न जे०एस० मैकेन्ज़ी साहब का विचार है। उनके अनुसार शिक्षा दो प्रकार की है— (१) व्यापक शिक्षा, (२) संकुचित शिक्षा।



व्यापक अर्थ में 'शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवन भर चलती रहती है और जीवन के प्रत्येक अनुभव से इसके भण्डार में वृद्धि होती है।'<sup>२३</sup> दूसरे शब्दों में शिक्षा एक सामान्य प्रक्रिया है जो व्यक्तित्व का विकास करती है और जिसके द्वारा व्यक्ति को पारस्परिक तथा विश्व के सम्बन्धों की जानकारी होती है। मनुष्य जब जन्म लेता है तब वह असहाय की स्थिति में रहता है, किन्तु कुछ ही दिनों बाद वह अपनी जाति तथा समाज में व्यक्तियों का अनुकरण करके चलना-फिरना, खाना-पीना-बोलना आदि सीख लेता है। तत्पश्चात् यह प्रक्रिया विद्यालय में चलती है और फिर विद्यालय छोड़ने के बाद भी यह सीखने-सिखाने का क्रम जारी रहता है। इस प्रकार सीखने-सिखाने की प्रक्रिया जीवनपर्यन्त चलती रहती है। जन्म से मृत्युपर्यन्त तक हम एक-दूसरे के सम्पर्क में आते रहते हैं तथा अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त करते रहते हैं और इन अनुभवों से हमारे विचार, व्यवहार आदि में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अतः व्यापक अर्थ में जीवनपर्यन्त चलनेवाली, सीखने-सिखाने की यह प्रक्रिया ही शिक्षा है।

सीमित अर्थ में 'शिक्षा का अर्थ हमारी शक्तियों के विकास व सुधार के लिए चेतनापूर्वक किये गये प्रयासों से लिया जाता है।'<sup>२४</sup> साधारणतः आरम्भिक शिक्षा परिवार में दी जाती है और अधिक ज्ञानार्जन के लिए बच्चे को विद्यालय में भेज दिया जाता है, जहाँ एक निश्चित शिक्षा का विधान होता है, शिक्षा की विधियाँ निश्चित होती हैं, जो बच्चे की एक निश्चित आयु से प्रारम्भ होती है और एक निश्चित आयु तक चलती है। अतः सीमित अर्थ में ज्ञान प्राप्त करने की यह प्रक्रिया ही शिक्षा है।

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में शिक्षा को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि शिक्षा मानव समाज के ऐसे प्रयत्न को कहते हैं जो अपने समुदायगत आदर्शों के अनुसार ही अपनी आगामी पीढ़ी के विकास को एक आकार प्रदान करती है।<sup>२५</sup>

उपर्युक्त वक्तव्यों में हम देखते हैं कि पाश्चात्य विचारक जीवन की सामान्य प्रक्रिया तक ही सीमित हैं जबकि भारतीय विचारक जीवन की सामान्य प्रक्रिया से लेकर उसके चरमोत्कर्ष पर भी बल देते हैं। अतः कहा जा सकता है कि पाश्चात्य शिक्षा भौतिकता प्रधान है तो भारतीय शिक्षा अध्यात्म प्रधान। किन्तु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि भारतीय शिक्षा में लौकिकता का अभाव है। आध्यात्मिकता के साथ-साथ लौकिकता का भी समावेश इसमें देखने को मिलता है जिसका वर्णन आगे के अध्याय में किया जायेगा।

## शिक्षा और जीवन

जीवन को समुन्नत बनाना ही शिक्षा का लक्ष्य है। प्राचीनकाल में शिक्षा और जीवन

में कोई अन्तर नहीं था। जीवनयापन के साथ-साथ शिक्षा की प्रक्रिया भी चलती रहती थी। जब भी जिस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता होती थी, समाज के लोग बालकों को उसी प्रकार की शिक्षा देते थे। शिक्षा देने के लिए अलग से कोई व्यवस्था नहीं थी। तत्कालीन समाज और परिवार स्वयं में एक सर्वोत्तम पाठशाला था जिसमें माता-पिता सच्चे शिक्षक का काम करते थे। प्राचीनकाल में पिता के द्वारा ही बालक पेशे की जानकारी कर लेता था और अभ्यास करते-करते उस कार्य में दक्षता प्राप्त कर लेता था, किन्तु आज औद्योगिक शिक्षा के लिए बड़े-बड़े विद्यालय खोले गये हैं। आज विद्यालय में जो बालकों को सिखाया जाता है, वह कभी-कभी उसके जीवन में काम नहीं आता, अनुपयोगी हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में जीवन और शिक्षा में कोई अन्तर नहीं था, लेकिन आज अन्तर आ गया है। फिर भी अगर शिक्षा और जीवन पर सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो दोनों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं। शिक्षा के अभाव में मानव पशु के समान है और जीवन के अभाव में शिक्षा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए शिक्षण-प्रक्रिया भी आनन्दमयी होनी चाहिए, क्योंकि हम जीवनयापन करते हैं, उसे भारस्वरूप ढोते नहीं हैं। यदि जीवन भारस्वरूप होता तो हम उससे जल्द से जल्द छुटकारा पाना चाहते। इसी तरह शिक्षण को भी आनन्ददायक होना चाहिए, नहीं तो उससे भी मुक्ति पाना चाहेंगे। विनोबा भावे ने इसी भाव की ओर संकेत करते हुए कहा है—

‘वस्तुतः छात्र की जैसे ही यह धारणा हुई कि मैं शिक्षा ग्रहण कर रहा हूँ, तो समझ लीजिए कि शिक्षा का सारा मजा किरकिरा हो गया। छोटे बच्चों के लिए खेलना उत्तम कहा जाता ही है, इसका भी रहस्य यही है। खेलने में व्यायाम तो हो जाता है, पर हम व्यायाम कर रहे हैं, ऐसा अनुभव नहीं होता। खेलते समय आसपास की दुनियाँ मर गयी होती है। बच्चे तद्रूप होकर अद्वैत का अनुभव करते रहते हैं। देह की सुध-बुध नहीं रह जाती। भूख, प्यास, थकान, पीड़ा आदि कुछ भी नहीं मालूम पड़ती। अर्थात् खेल का अर्थ आनन्द या मनोरंजन रहता है। यह व्यायाम रूप कर्तव्य नहीं बन पाता। यही बात सभी प्रकार की शिक्षाओं पर लागू करनी चाहिए। शिक्षा एक कर्तव्य है, ऐसी कृत्रिम भावना की अपेक्षा शिक्षा का अर्थ आनन्द है, यह प्राकृत और उत्साह भरी भावना पैदा होनी चाहिए।’<sup>२६</sup>

## दर्शन का अर्थ

मानव एक चिन्तनशील प्राणी है। जब वह विचार करना प्रारम्भ करता है तब दर्शन का प्रारम्भ होता है। व्यक्ति जिस वातावरण में रहता है उसे वह जानने का प्रयत्न करता है। व्यक्ति के मन में यह जिज्ञासा होती है कि वह गतिशील जगत के लक्ष्य

का पता लगाये। यह विश्व क्या है? सृष्टि क्या है? सृष्टि की प्रक्रिया क्या है? जड़ क्या है? चेतन क्या है? आदि विभिन्न प्रकार के सवाल मन में उठते हैं और जब व्यक्ति इन तमाम सवालों पर विचार करना प्रारम्भ करता है, वहीं से दर्शन का प्रारम्भ होता है।

‘दर्शन’ शब्द की निष्पत्ति ‘दृश’ धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है— देखना। दर्शन का पारिभाषिक रूप है— ‘दृश्यते अनेन इति दर्शनम्,’ अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाये वह दर्शन है। यहाँ स्वाभाविक रूप से प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि किसके द्वारा देखा जाये और क्या देखा जाये? सामान्यतः हम आँखों से देखते हैं और रूप आदि को देखते हैं, किन्तु आँखों से रूप का ज्ञान होना दर्शन नहीं है। आँखों द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान को चाक्षुष दर्शन कहते हैं जिसका सम्बन्ध बाह्य-दृष्टि से है। अतः देखना दर्शन का साधारण अर्थ है। भारतीय दर्शन में दर्शन शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है— ‘तत्त्व के प्रकृत स्वरूप का अवलोकन करना दर्शन है। तत् के भाव को तत्त्व कहते हैं। तत् सर्वनाम है और सर्व ब्रह्म। चूँकि ब्रह्म को तत् के नाम से जानते हैं, अतः ब्रह्म के भाव को, उसके यथार्थ स्वरूप को तत्त्व कहते हैं।’<sup>२७</sup> तत्त्व का सम्यक्-ज्ञान ही दर्शन कहलाता है। बाहर की ओर न देखकर अन्दर की ओर देखना आत्मदर्शन है जिसे अन्तर्दृष्टि भी कहते हैं। आत्मदर्शन ही जैन दर्शन में सम्यक्-ज्ञान तथा बौद्ध दर्शन में सम्यक्-प्रज्ञा है। इस प्रकार दर्शन शब्द का प्रयोग तीन रूपों में देखने को मिलता है— चाक्षुष ज्ञान, साक्षात्कार और श्रद्धान्। दर्शन शब्द की व्याख्या करते हुए डॉ० उमेश मिश्र ने स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों दृष्टियों को स्वीकार करते हुए ‘प्रत्यक्ष’ अर्थात् आँख से देखने पर विशेष बल दिया है। उनका मानना है—

‘कुछ लोगों का कहना है कि प्राकृतिक या बौद्धिक जगत के बहुत से तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म हैं। उन्हें चक्षु के द्वारा देखना असम्भव है। इसलिए ‘दर्शन’ शब्द का ज्ञान प्राप्त किया जाये— यही अर्थ करना उचित है। प्रगतिवादी का कहना कुछ अंश में तो सत्य है, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के पदार्थ दर्शनशास्त्र के विषय हैं और परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए दोनों का साक्षात्कार आवश्यक है। इसलिए चार्वाक, न्याय, वैशेषिक आदि स्थूल दृष्टिवाले दर्शनों में सूक्ष्म पदार्थों को तथा सांख्य, योग, वेदान्त आदि सूक्ष्म दृष्टिवाले दर्शनों में सूक्ष्म पदार्थों को देखने के लिए प्रत्येक मनुष्य में एक विशेष चक्षु होता है, जिसे साधारणतया ‘प्रज्ञाचक्षु’ या ‘ज्ञानचक्षु’ आदि कहा जाता है। गीता में भी विश्वरूप को देखने के लिए भगवान् ने अर्जुन को ‘दिव्यचक्षु’ ही दिया था। कठिन तपस्या करने पर या भगवान् के अनुग्रह से इसका उन्मीलन होता है और जब एक बार यह चक्षु खुल जाता है तो फिर उस व्यक्ति को इस चक्षु द्वारा

सभी सूक्ष्म पदार्थ हथेली पर आँवले की तरह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं।

दर्शन के लिए हमें दोनों प्रकार के चक्षुओं की अपेक्षा होती है। स्थूल तत्त्वों को स्थूल नेत्र से तथा सूक्ष्म तत्त्वों को सूक्ष्म नेत्र से हम देखते हैं। यही कारण है कि उपनिषदों ने दृश धातु का प्रयोग किया है और यही भाव भारतीय दर्शन के 'दर्शन' शब्द में भी है। बिना चाक्षुष प्रत्यक्ष के किसी भी तत्त्व का ज्ञान निश्चित रूप से नहीं हो सकता।<sup>२८</sup>

दर्शन के लिए अंग्रेजी में 'फिलॉसफी' शब्द का प्रयोग किया जाता है जो ग्रीक भाषा के दो शब्दों से मिलकर बना है— फिलॉस (Philos) और सॉफिया (Sophia)। फिलॉस का अर्थ होता है प्रेम (Love) तथा सॉफिया का अर्थ होता है बुद्धि (Wisdom)। अतः दोनों शब्दों का संयुक्त अर्थ होता है— बुद्धि का प्रेम या बुद्धि (ज्ञान) के प्रति प्रेम (Love of Wisdom)। यहाँ बुद्धि शब्द से सामान्य विचारशक्ति या प्राकृतिक बुद्धि न ग्रहण कर विवेकयुक्त बुद्धि ग्रहण किया जाता है।

डॉ० राधाकृष्णन् ने दर्शन को परिभाषित करते हुए कहा है— 'दर्शनशास्त्र यथार्थ के स्वरूप का तार्किक विवेचन है।'<sup>२९</sup> इसी प्रकार दत्ता एवं चटर्जी ने युक्तिपूर्वक तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को दर्शन कहा है।<sup>३०</sup> पं० विजयमुनिजी ने कहा है— 'दर्शन सम्पूर्ण विश्व और जीवन की व्याख्या तथा मूल्य निर्धारण करने का प्रयास है।'<sup>३१</sup> वस्तुतः पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना ही दर्शन है।

## दर्शन और जीवन

मानव के सामने प्रायः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जीवन के साथ दर्शन का क्या सम्बन्ध है? जीवन और दर्शन एक-दूसरे के अत्यन्त समीप हैं। चिन्तन मानव का स्वभाव है और जब तक यह स्वभाव बना रहेगा तब तक मानव जीवन में दर्शन का अस्तित्व बना रहेगा। चिन्तन मानव के जीवन से दूर हो जाये यह कभी भी सम्भव नहीं है। जहाँ चिन्तन है वहाँ दर्शन अवश्य रहेगा, क्योंकि जब जीवन है तो जीवन का कुछ न कुछ दर्शन भी होगा। जीवन में कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं, यथा— यह जीवन क्या है? इसका स्वरूप क्या है? इसका आदि क्या है? मृत्यु क्या है? क्या मृत्यु कष्टदायक है? क्या मृत्यु का अन्त है? क्या उससे बचा जा सकता है? आदि-आदि प्रश्नों पर विचार करना ही पड़ता है। इन प्रश्नों से बड़े-बूढ़े ही नहीं बल्कि छोटा बच्चा भी परेशान रहता है। वह अपने परिवार में मृत्यु की घटना देख कर सहज ही पूछ बैठता है— मृत्यु क्या है? क्या दादा फिर नहीं मिलेंगे? आदि। ये प्रश्न उतने ही सत्य हैं जितना सत्य जीवन। फिर इन प्रश्नों से हम नाता कैसे तोड़ सकते हैं? दर्शन हमें जीवन के प्रति उपयुक्त दृष्टिकोण अपनाने की सलाह देता है।

उपर्युक्त प्रश्नों को देखकर ही कुछ एक विद्वानों का आरोप है कि भारतीय दर्शन मानव-जीवन में निराशा का संचार करता है, किन्तु ऐसी बात अधिकांशतः वे ही व्यक्ति करते हैं जो भारतीय दर्शन से अपरिचित होते हैं। भारतीय दर्शन दुःख से निवृत्ति की बात करता है न कि प्रवृत्ति की। दुःख से निवृत्ति का सिद्धान्त देकर जीवन में आशावादिता का संचार करता है।

जीवन और दर्शन एक-दूसरे से अभिन्न हैं। अतः कहा जा सकता है कि आदिकाल में जीवन और दर्शन में कोई अन्तर नहीं था और न आज है तथा न भविष्य में रहेगा।

## शिक्षा और दर्शन

जीवन को समुन्नत बनाने के लिए शिक्षा और दर्शन दोनों की आवश्यकता पड़ती है। समाज और व्यक्ति की उन्नति तब होती है जब सिद्धान्त व्यवहार में उतरता है। लेकिन समस्या उठ खड़ी होती है कि सिद्धान्त को व्यवहार में कैसे उतारा जाये? यह काम शिक्षा के द्वारा होता है। शिक्षा दार्शनिक सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप प्रदान करती है, किन्तु ऐसा नहीं है कि इनका सम्बन्ध एकपक्षीय है। कोई भी सम्बन्ध तब तक ही बरकरार रहता है जब तक दोनों पक्ष मजबूत होते हैं। वे सम्बन्ध जिसमें एक देता है और दूसरा लेता है, ज्यादा दिन तक बरकरार नहीं रहते। दर्शन में मानव जीवन के अन्तिम उद्देश्यों तथा उसकी प्राप्ति के उपायों पर विचार किया जाता है और शिक्षा व्यक्ति के आचार-विचारों में परिवर्तन करती है तथा नये ज्ञान की खोज करने के लिए अवलोकन, परीक्षण, चिन्तन और मनन आदि शक्तियों का विकास करती है। फलतः ज्ञान और कौशल के आधार पर दर्शन का पुनर्निर्माण होता है। इस प्रकार नयी शिक्षा नये दर्शन को जन्म देती है और नया दर्शन नयी शिक्षा को जन्म देता है। दोनों एक-दूसरे से प्रभावित हैं। शिक्षा का दर्शन पर प्रभाव है तो दर्शन का शिक्षा पर, यथा— दर्शन में सृष्टि-स्रष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, जन्म-मृत्यु आदि की व्याख्या होती है और उस व्याख्या के आधार पर मानव-जीवन के उद्देश्यों को निश्चित किया जाता है तथा शिक्षा उन उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायिका होती है। इतना ही नहीं शिक्षा हमारे पूर्वजों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को सुरक्षित रखती है। शिक्षा के अभाव में दार्शनिक सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अतः शिक्षा और दर्शन में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि दर्शन और शिक्षा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक में दूसरा निहित है। दर्शन जीवन का विचारात्मक पक्ष है तो शिक्षा क्रियात्मक पक्ष।

फिक्ते ने अपनी पुस्तक 'एड्सेजे टू दि जर्मन नेशन' में शिक्षा तथा दर्शन के

अन्योन्याश्रय सम्बन्ध का समर्थन करते हुए लिखा है— ‘दर्शन के अभाव में शिक्षण कला भी पूर्ण स्पष्टता नहीं प्राप्त कर सकती। दोनों के बीच एक अन्योन्याश्रय क्रिया चलती रहती है और एक के बिना दूसरा अपूर्ण तथा अनुपयोगी है।’<sup>३२</sup> अमरीकी विद्वान जॉन डीवी ने कहा है— ‘दर्शन शिक्षा विषयक सिद्धान्त का सामान्यीकृत रूप है।’<sup>३३</sup> शिक्षा ही दार्शनिक विचारों को मूर्त रूप प्रदान करती है। इसलिए जॉन एडम्स महोदय ने शिक्षा को दर्शन का गत्यात्मक पक्ष बताया है। रॉस ने अपनी पुस्तक में उनके विषय में लिखा है— ‘सर जॉन एडम्स अपने छात्रों को बताया करते थे कि ‘शिक्षा’ दर्शन का गत्यात्मक पक्ष है। दार्शनिक विश्वास का यह क्रियाशील पक्ष है, जीव के उद्देश्यों को प्राप्त करने का व्यावहारिक साधन है।’<sup>३४</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा दर्शन की सहायता करती है तथा उसके उद्देश्यों को साकार बनाती है; किन्तु अधिकांश विद्वान शिक्षा की समस्याओं के दार्शनिक हल को ही शिक्षा दर्शन कहते हैं। जैसे हेण्डरसन महोदय ने शिक्षा-दर्शन को परिभाषित करते हुए कहा है— ‘शिक्षा-दर्शन, शिक्षा की समस्याओं के अध्ययन में दर्शन का प्रयोग है।’<sup>३५</sup> इसी प्रकार कनिंघम महोदय ने कहा है— ‘दर्शन वस्तुओं का विज्ञान है, इसलिए शिक्षा दर्शन की समस्या के सभी पक्षों पर विचार करता है।’<sup>३६</sup>

शिक्षा और दर्शन कभी भी एक-दूसरे से अलग नहीं हो सकते। उनका अलगाव निश्चित ही दोनों के लिए दुर्भाग्यपूर्ण होगा। शिक्षा और दर्शन का सम्बन्ध एक अन्य प्रकार से इस तरह समझा जा सकता है— कोई भी व्यक्ति चाहे वह उच्चकोटि का विद्वान हो या निम्नकोटि का, दार्शनिक जगत की समस्याओं पर विचार करते-करते अन्ततः शिक्षा के विषय में विचार करने ही लगता है। शिक्षा के विषय में विचार करना स्वाभाविक भी है, क्योंकि उनके दार्शनिक सिद्धान्तों को व्यावहारिकता का रूप शिक्षा द्वारा ही प्राप्त होता है। यद्यपि कुछ आधुनिक दर्शनशास्त्री शिक्षा को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और इस प्रकार वे अपने क्षेत्र के साथ ही विश्वासघात करते हैं। प्राचीन भारतीय विचारक जैसे- वशिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, गौतम आदि तथा पाश्चात्य विचारक जैसे- सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, रूसो, रसेल आदि दार्शनिकों ने शिक्षा की उपेक्षा नहीं की, बल्कि इन लोगों ने भी शिक्षा पर विचार किया है। जॉन डीवी भी इसी विचारधारा के समर्थक थे। उनका कहना है -‘शिक्षा-दर्शन, सामान्य दर्शन का एक दीन सम्बन्धी नहीं है, यद्यपि अधिकांश दार्शनिक उसे ऐसा ही मानते हैं। अंशतः शिक्षा-दर्शन दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण चरण है, क्योंकि शिक्षा की प्रक्रिया से ही ज्ञान प्राप्त होता है।’<sup>३७</sup>

इस प्रकार शिक्षा और दर्शन के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचारों से यह

स्पष्ट है कि शिक्षा और दर्शन दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, दोनों एक-दूसरे पर आधारित हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि दर्शन सूक्ष्म अर्थात् आत्मा-परमात्मा से सम्बन्धित होता है जब कि शिक्षा मूर्त अर्थात् मनुष्यों के व्यवहारों से सम्बन्धित होता है। इसलिए इनमें आपस में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि एक सैद्धान्तिक है तो दूसरा व्यावहारिक। इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि दर्शन भी मानव को दृष्टि में रखकर ही बौद्धिक दुनियाँ में घूमता है और शिक्षा भी मानव को एक नया रूप प्रदान करती है। लेकिन शिक्षा-सिद्धान्तों के पीछे जब तक कोई दर्शन नहीं होता है तब तक उन्हें तय (निश्चित) कर पाना बड़ा ही कठिन हो जाता है। मिशाल के तौर पर लौकिक शिक्षा और पारलौकिक शिक्षा को ही देखा जा सकता है। यहाँ प्रश्न उठ खड़ा होता है कि बच्चे को लौकिकता का ज्ञान कराया जाये या पारलौकिकता का। यदि सामाजिक परिवेश पारलौकिकता में विश्वास रखता है तो उस समाज में उसकी उपयोगिता है, परन्तु यदि समाज पारलौकिकता में विश्वास नहीं रखता है तो फिर पारलौकिकता की शिक्षा उसके लिए व्यर्थ है। इस प्रकार बिना दर्शन के शिक्षा के सिद्धान्त नहीं निर्धारित किये जा सकते। जब तक यह ज्ञान नहीं लिया जाता है कि मानव के लिए क्या हितकर है, क्या अहितकर है, तब तक शिक्षा के सिद्धान्त तथा उसके उद्देश्य का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। यह बात रमनबिहारी लाल जी के कथन से और स्पष्ट हो जाती है। उनका कहना है— ‘हमारे विचार चाहे वे सूक्ष्म का विश्लेषण करते हों चाहे पदार्थ (स्थूल) का, पर वे हमारे दर्शन के अंग होते हैं। जिन विचारों में हमारा विश्वास होता है उनकी प्राप्ति के लिए हम शिक्षा का सहारा लेते हैं। यदि किसी शिक्षा के पीछे कोई दर्शन नहीं है तो उसके उद्देश्य स्पष्ट नहीं होंगे, उद्देश्यों की अनिश्चितता के कारण पाठ्यचर्या भी निश्चित नहीं होगी और तब उचित शिक्षण विधियों का निर्माण भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार बिना दर्शन के शिक्षा चल ही नहीं सकती।’<sup>३८</sup>

शिक्षा और दर्शन के सम्बन्ध पर एच०एच० हार्न ने अपना विचार बहुत ही स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है— ‘सभी लक्ष्य अन्त में एक-सा ही अर्थ रखते हैं, पर उनके अर्थों की समानता में अपना स्वयं का अनोखापन है। जिस प्रकार सड़कों पर लगे हुए संकेत बोर्ड विभिन्न मार्गों से एक ही नगर को जाने का संकेत करते हैं, उसी प्रकार विभिन्न तथ्य एक ही अर्थ की ओर संकेत करते हैं। वस्तुतः जीवन की वास्तविकता ही दर्शन का ईश्वरीय नगर है और अनेक संकेत बोर्डों में से शिक्षा भी एक है।’<sup>३९</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा और दर्शन का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा अधूरा है। जिस प्रकार एक चक्के के अभाव में गाड़ी की गति निश्चित रूप से अवरुद्ध हो जाती है, ठीक उसी प्रकार शिक्षा और दर्शन दोनों में से



किसी एक के अभाव में ज्ञानरूपी गाड़ी नहीं चल पाती। शिक्षा और दर्शन एक-दूसरे के सहायक हैं। दर्शन के बिना शिक्षा के उद्देश्य का निर्धारण नहीं किया जा सकता है और शिक्षा के बिना दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

लेकिन कुछ विचारक ऐसे हैं जो शिक्षा को ही प्रधानता देते हैं तथा दर्शन को शिक्षा का सामान्य सिद्धान्त मानते हैं। इस विचारधारा के समर्थकों में जॉन डीवी का नाम प्रमुख है। डीवी ने स्पष्ट लिखा है कि 'शिक्षा-दर्शन में बाहर से सिद्धान्त बनाकर लागू नहीं किये जा सकते। शिक्षा-दर्शन में तो तत्कालीन सामाजिक जीवन की कठिनाइयों के प्रति उचित दृष्टिकोण बनाने की समस्या का स्पष्टीकरण होता है। अतः शिक्षा-दर्शन को बाह्य सिद्धान्तों का व्यवहृत रूप नहीं समझना चाहिए। उनके अनुसार तो दर्शन स्वयं ही शिक्षा का सिद्धान्तीकरण है।'<sup>४०</sup> अभिप्राय है कि दर्शन ही शिक्षा-दर्शन है अथवा दर्शन को शिक्षा-दर्शन होना चाहिए।

### शिक्षा-दर्शन के विषय

शिक्षा का विषय सम्पूर्ण मानव जीवन है क्योंकि शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है और उसका सम्बन्ध मानव के सम्पूर्ण जीवन से होता है। शिक्षा-दर्शन के अन्तर्गत हम विभिन्न दर्शनों द्वारा निश्चित शिक्षा के स्वरूप, उद्देश्य, पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों का अध्ययन करते हैं। शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक-शिक्षार्थी के सापेक्षिक महत्त्व पर प्रायः सभी दार्शनिक विचारधाराओं ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। शिक्षा-दर्शन में अनुशासन पर विशेष बल दिया गया है। सभी शिक्षाविदों ने अपनी-अपनी दृष्टि से अनुशासन पर विचार किया है। शिक्षा-दर्शन के विषय के अन्तर्गत शिक्षक और शिक्षार्थी के अधिकार और कर्तव्य की आचारसंहिता का भी समावेश होता है। इतना ही नहीं बल्कि इसमें शिक्षा पर पड़नेवाले सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रभावों का भी अध्ययन किया जाता है और दार्शनिक तथा शिक्षाशास्त्री उन प्रभावों को अपनी मान्यताओं के अनुसार दिशा प्रदान करने की विधियों पर भी विचार करते हैं।'<sup>४१</sup>

यद्यपि कुछ विचारकों ने प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा, यथा- आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, प्रयोजनवाद और यथार्थवाद आदि के प्रत्येक गुण और विचार को शिक्षा में तलाश करने या फिर आरोपित करने का प्रयत्न किया है। जब शिक्षा किन्हीं बिन्दुओं पर किसी विशेष दार्शनिक विचारधारा से समायोजित नहीं हो पायी तो उसमें बहुत से ऐसे तथ्यों की भी परिकल्पना कर ली गयी जो वास्तविक नहीं थे। इस दृष्टिकोण में शिक्षा-दर्शन को एक समायोजनात्मक दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया गया और उसे जबरदस्ती किसी न किसी प्रकार दर्शन की किसी न किसी विचारधारा से उसका अंग-प्रत्यंग

बांधने का प्रयत्न किया गया।<sup>४२</sup> ऐसे विचारकों के विषय में अग्रवाल और उनियाल का कहना है कि वे इसी प्रकार की गलती करते हैं जिस प्रकार कि कुछ विचारक दर्शन को सूक्ष्म तथा जटिल विषय कहकर वैचारिक क्षेत्र से भागते हैं, जो कि एक ओर आत्मपराजय तथा आत्मप्रवंचना का द्योतक है तो दूसरी ओर शिक्षा-दर्शन जैसे विषय को बोधगम्य तथा उपयोगी बनाने से रोकती है।<sup>४३</sup> लेकिन समस्या उठ खड़ी होती है कि यदि दर्शन बोधगम्य नहीं है तो फिर शिक्षा के उद्देश्य और उसकी दिशाओं का निर्धारण कौन करेगा? इसका उत्तर एक है— दर्शन। समाज और राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा की क्या दिशा होनी चाहिए, इसका समाधान दार्शनिक करते हैं। शिक्षा-दर्शन का मुख्य विषय तो है— शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करना। शिक्षा-दर्शन के क्षेत्र में तो मुख्य रूप से विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के अनुरूप शिक्षा के स्वरूप, उद्देश्य, पाठ्यचर्या, शिक्षण-विधियाँ, अनुशासन, शिक्षक और शिक्षार्थी का आपेक्षिक स्थान और विद्यालयों की आवश्यकता एवं उनके स्वरूप की चर्चा होनी चाहिए न कि आदर्शवाद, यथार्थवाद आदि की।

इस प्रकार शिक्षा-दर्शन के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत समस्त शैक्षणिक समस्याएँ और उनके दार्शनिक हल आ जाते हैं। इस प्रकार शिक्षा-दर्शन का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

### दर्शनशास्त्र एवं शिक्षा-दर्शन

शिक्षा-दर्शन हो या समाज-दर्शन, जब भी वह 'दर्शन' संज्ञा से सम्बोधित होता है तो निश्चित ही वह दर्शनशास्त्र की समग्रता में समाहित हो जाता है। शिक्षा-दर्शन दर्शनशास्त्र का एक अंग है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। दोनों के बीच अंग-अंगी या अंश-अंशी का सम्बन्ध है। चूँकि दर्शनशास्त्र अंशी है और शिक्षा-दर्शन उसका एक अंश है, इसलिए दोनों अभिन्न हैं। परन्तु अंश का एक अपना रूप होता है और एक अपना कार्य भी होता है जिसके कारण अंश का एक अलग नाम होता है, जो अंशी और उसके बीच भेद उत्पन्न करता है। शरीर का एक अंग हाथ होता है, परन्तु हाथ का नाम हाथ इसलिए होता है कि वह सम्पूर्ण शरीर से भेद रखता है। शरीर का काम हाथ नहीं करता और हाथ का काम शरीर नहीं करता। इसलिए दोनों में भेद होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर दर्शनशास्त्र और शिक्षा-दर्शन में भेद है, भिन्नता है। इन दोनों के भेद और अभेद को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि दोनों में भेदाभेद अथवा भिन्नाभिन्न सम्बन्ध है।

दर्शनशास्त्र मुख्यतः सैद्धान्तिक होता है जिसका व्यावहारिक रूप शिक्षा के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। कोई भी सिद्धान्त यदि प्रतिपादक के द्वारा अन्य लोगों को

सिखलाया नहीं जाता है तो वह व्यवहार में नहीं आ पाता है और यदि व्यवहार में नहीं आता है तो वह धीरे-धीरे मिट जाता है। इस प्रकार दार्शनिक सिद्धान्त को शिक्षा ही नष्ट होने से बचाती है। परन्तु वह शिक्षा भी कोई अर्थ नहीं रखती जिसमें कोई मौलिक सिद्धान्त या दर्शन न हो। शिक्षा को खोखलापन से बचाने के लिए उसमें दर्शन की प्रतिष्ठा आवश्यक होती है। इस प्रकार दर्शन और शिक्षा दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, दोनों में अन्योन्याश्रयिता का सम्बन्ध है और इन दोनों के बीच की कड़ी शिक्षा-दर्शन है। यदि शिक्षा-दर्शन न हो तो दर्शन और शिक्षा में कोई सम्बन्ध न बने। इस प्रकार शिक्षा-दर्शन, दर्शनशास्त्र और शिक्षाशास्त्र के बीच मध्यस्थता करनेवाला है या कहा जा सकता है कि दर्शन और शिक्षाशास्त्र के सम्बन्ध का आधार शिक्षा-दर्शन ही है।

प्रधानतः दर्शनशास्त्र के तीन अंग हैं— तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और आचारमीमांसा। इनमें प्रथम दो अंग विधेयात्मक या तथ्यात्मक पक्ष की पुष्टि करते हैं, परन्तु आचारमीमांसा या नीतिशास्त्र नियामक विज्ञान (Normative Science) है जो यह बताता है कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए? हमें क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए? शिक्षा-दर्शन में शिक्षा क्या है? के रूप में जब समस्या उपस्थित होती है तो बहुत ही आसान ढंग से कह दिया जाता है कि जो कुछ भी हम व्यवस्थित ढंग से सीखते हैं वह शिक्षा है। परन्तु शिक्षा क्या है? यह उतना महत्त्व नहीं रखता जितना कि शिक्षा कैसी होनी चाहिए और शिक्षा किस प्रकार दी जानी चाहिए?

इस तरह शिक्षा-दर्शन में विधि पक्ष से ज्यादा महत्त्वपूर्ण नियामक पक्ष है जबकि दर्शनशास्त्र में नियामक पक्ष से प्रबल विधि पक्ष है। इस दृष्टि से दर्शनशास्त्र मुख्य रूप से विधेयात्मक विज्ञान (Positive Science) है तो शिक्षा-दर्शन मुख्य रूप से नियामक विज्ञान (Normative Science) है।

### शिक्षा-दर्शन की समस्याएं

शिक्षा-दर्शन का कार्य उस सिद्धान्त को प्रस्तुत करना है जिसके आधार पर शिक्षा की व्यावहारिक गतिविधियाँ होती हैं। किन्तु हम शिक्षा के क्षेत्र में अनेक समस्याओं का सामना कर रहे हैं। हमारी प्राचीन शिक्षा जो आदर्शवाद पर आधारित तथा पूर्व निश्चित नियमों द्वारा निर्धारित थी उस पर आज भौतिकता का नियंत्रण है जिससे मूल्यों की अवहेलना हो रही है और शिक्षा को अनेक समस्याओं का सामना करना पर रहा है, जैसे— सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक समस्याएँ आदि। फिर भी शिक्षा दर्शन इन समस्याओं का समाधान ढूँढ़ता है।

### शिक्षा-दर्शन की सामाजिक समस्यायें

समाज में ऊँच-नीच छोटे-बड़े का भेद-भाव देखा जाता है। वह जाति ऊँची है तो वह जाति नीची है। नर-नारी के बीच भी यह भेदभाव देखा जाता है। समाज में पुरुष को श्रेष्ठ माना जाता है तो महिलाएँ हीन समझी जाती हैं। समाज के पथ-प्रदर्शक यह शिक्षा देते हुए देखे जाते हैं कि सभी मनुष्य बराबर हैं, कोई बड़ा या छोटा नहीं है, सबके अधिकार और कर्तव्य समान हैं। परन्तु ऐसा होता नहीं है क्योंकि इसके पीछे मानव विसंगतियाँ कार्य करती हैं। इस भेद-भाव को दूर करने के लिए समाज में कैसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे कि समाज में समता और सद्भाव के बीज वपन हो सकें? इसका उत्तर शिक्षा-दर्शन अपनी तत्त्वमीमांसीय मीमांसा के आधार पर यह प्रतिपादित करता है कि सभी प्राणी मूलतः समान हैं क्योंकि पंचतत्त्वों से बना हुआ शरीर और उसमें पायी जानेवाली चेतना सभी में समान है। यदि कोई अन्तर है तो वह कर्मणा है, जन्मना नहीं।

### शिक्षा-दर्शन की आर्थिक समस्यायें

शिक्षा में आर्थिक समस्यायें तब उत्पन्न होती हैं जब किसी न किसी रूप में शिक्षा और अर्थ का सम्बन्ध आवश्यक हो जाता है। शिक्षा और अर्थ दो तरह से सम्बन्धित होते हैं— (क) शिक्षा के लिए अर्थ तथा (ख) अर्थ के लिए शिक्षा।

प्राचीनकाल में शिक्षक और शिक्षार्थी जंगलों में रहा करते थे और उनकी आवश्यकतायें बहुत कम थीं। परन्तु धीरे-धीरे शिक्षक और शिक्षार्थी की आवश्यकतायें बढ़ती गयीं और शिक्षा के लिए अर्थ का महत्त्व भी बढ़ता गया। शिक्षा के लिए पाठशाला, भवन, विद्यार्थियों के लिये छात्रावास, शिक्षकों के लिये वेतन इत्यादि ऐसी अनिवार्यताएँ सामने आती गयीं जिन्हें छोड़कर बदलते हुए परिवेश में शिक्षा देना अथवा ग्रहण करना सम्भव नहीं माना गया और अर्थ शिक्षा के साधन के रूप में सामने आया। यह भी बात दृष्टि में आयी कि शिक्षा ग्रहण करके कोई व्यक्ति क्या कर सकता है? भविष्य में शिक्षा का क्या उपयोग होगा? तो लौकिक दृष्टि से यह समझा गया कि शिक्षा प्राप्त करके कोई व्यक्ति नौकरी कर सकता है, व्यवसाय कर सकता है और अर्थोपार्जन करके अपना जीवन सुखी बना सकता है। यहाँ पर अर्थ साध्य और शिक्षा साधन के रूप में देखी गयी। अर्थ को शिक्षा के साधन अथवा साध्य के रूप में यदि मान्यता दी जाती है तो उसकी कौन-सी सीमा या मर्यादा हो सकती है, किस हद तक अर्थ शिक्षा का साधन या साध्य हो सकता है। इस प्रश्न का उत्तर शिक्षा ही देती है और यही शिक्षा-दर्शन के समक्ष आर्थिक समस्या आती है कि वह शिक्षा और अर्थ के

सम्बन्ध की मर्यादा निश्चित करे। वह यह स्पष्ट करे कि किन-किन रूपों में अर्थ को शिक्षा का साधन अथवा साध्य बनना चाहिए।

### शिक्षा-दर्शन की राजनैतिक समस्याएँ

शिक्षा का सम्बन्ध राज अथवा राजनीति से भी होता है। शिक्षा-व्यवस्था जब जंगलों से आकर गाँवों और शहरों में स्थापित हुई तब उसे राज और राजनीति से सम्बन्धित होना पड़ा। अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा-व्यवस्था को अनुदान की आवश्यकता हुई और उसे सरकार से अनुदान प्राप्त होने लगे। देश की राजनीति और देश में प्रसारित शिक्षा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और निकटता का सम्बन्ध रखते हैं। शिक्षा के अनुकूल आगे की राजनीति निर्धारित होती है और जैसी राजनीति होती है, वैसी शिक्षा भी दी जाती है। देश में राजतन्त्र हो अथवा प्रजातन्त्र, उसका विकास तभी होता है, जब उसके अनुकूल वहाँ के लोग शिक्षित या प्रशिक्षित हों। यहाँ भी यह समस्या उत्पन्न होती है कि शिक्षा-व्यवस्था को किस सीमा तक राज्य से अनुदान ग्रहण करना चाहिए और देश की राजनीति के लिए किस हद तक शिक्षा-व्यवस्था को काम करना चाहिए। इसके औचित्य का निर्धारण करना शिक्षा-दर्शन का ही काम है। शिक्षा-दर्शन ही उन मूल सिद्धान्तों को निरूपित करता है जिनसे शिक्षा और राजनीति के सम्बन्ध बनते हैं।

### शिक्षा-दर्शन की धार्मिक समस्याएँ

समाज में धर्म का प्रचार-प्रसार धर्मगुरुओं के द्वारा होता है, परन्तु पाठशालाओं में भी बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा के रूप में धर्माचरण की बातें सिखलायी जाती हैं जैसे— सत्य बोलो, धर्माचरण करो, माता-पिता एवं आचार्य देवतुल्य होते हैं इत्यादि। यह सामान्य धार्मिक शिक्षा है, परन्तु पाठशालाओं में कहीं-कहीं विशेष धर्म की भी शिक्षा दी जाती है। विशेष धर्म की शिक्षा समाज में रहनेवालों की धार्मिक मान्यता तथा सरकार की सहमति से होती है परन्तु समग्रता और उदारता की दृष्टि से शिक्षा-व्यवस्था वैसी धार्मिक शिक्षा दे अथवा न दे यह निर्धारित करना शिक्षा-दर्शन का ही कार्य है क्योंकि शिक्षा-दर्शन हर शिक्षण अथवा प्रशिक्षण के पीछे एक दार्शनिक पृष्ठभूमि देखना चाहता है।

### शिक्षा-दर्शन की दार्शनिक समस्याएँ

शिक्षा-दर्शन, दर्शन का एक अंग है, अतः यह कहना कठिन है कि शिक्षा-दर्शन की दार्शनिक समस्या क्या हो सकती है? फिर भी, इतना तो कहा ही जा सकता है कि शिक्षा-दर्शन की दार्शनिक समस्या वहाँ सामने आती है जब वह दर्शन की समग्रता

में से कुछ ऐसे अंशों को ग्रहण करना चाहता है जिस पर वह अपनी संज्ञा को प्रतिष्ठित कर सके। ऐसी स्थिति में शिक्षा के लिए शिक्षा-दर्शन के द्वारा मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही उसकी दार्शनिक समस्या बन जाती है।

### जैन-बौद्ध परम्पराएँ एवं शिक्षा-दर्शन

शिक्षा सामान्यतः दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दी जाती है— लौकिक उपलब्धि तथा पारलौकिक उपलब्धि। लौकिक उपलब्धि अर्थात् लौकिक सुख-सुविधाओं की पूर्ति और पारलौकिक उपलब्धि अर्थात् स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति। जैन एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराएँ निवृत्तिमार्गी हैं। अतः उनमें पारलौकिक उपलब्धियाँ ही प्रधानता रखती हैं, पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि लोक से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा होता तो जैन परम्परा के आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव असि, मषि और कृषि के साथ ही लिपि, गणित और विभिन्न कलाओं की शिक्षा नहीं देते। उनके द्वारा असि, मषि, कृषि आदि की शिक्षा देना ही प्रमाणित करता है कि उनका ध्यान परलोक के साथ-साथ लोक पर भी था। बौद्ध परम्परा के प्रतिष्ठापक गौतम बुद्ध ने तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों को त्याग कर सांसारिक दुःख और उससे मुक्ति पाने पर विचार किया जिसके कारण उन्हें ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन को निराशावादी कहा गया, परन्तु उन्होंने भी जब चौथे आर्यसत्य में अष्टाङ्ग मार्ग का प्रतिपादन किया तो उसमें सम्यक्-आजीव नाम का एक पक्ष रखा जो यह बताता है कि व्यक्ति को अपनी जीविका उचित ढंग से अर्जित करनी चाहिए। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध लौकिकता और पारलौकिकता दोनों से ही है। आजीविका के साथ औचित्य का निर्वाह सामाजिक-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने और पारलौकिकता के लिए सन्मार्ग निरूपित करने में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त यह भी समझा जा सकता है कि लोकमर्यादा को अवहेलित करके परलोक मर्यादा की पुष्टि बहुत हद तक सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में कोई भी परम्परा मात्र परलोक को ही अपने ध्यान में रखकर चले तो उसका समाज में अपना अस्तित्व बनाये रखना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि जैन एवं बौद्ध परम्पराओं ने शिक्षा की दोनों उपलब्धियों को अपने में समाहित किया है। लौकिक मर्यादाएँ जिस रूप में भी स्वीकार की गयी हैं वे पारलौकिक उपलब्धियों के साधन अथवा साधन की पुष्टि के रूप में हैं। जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में शिक्षा के तत्त्व लौकिक एवं पारलौकिक दोनों उपलब्धियों को प्राप्त करने की दृष्टि से प्रतिपादित किये गये हैं।

**सन्दर्भ :**

१. ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्ततत्त्वार्थविलोकिदक्षम्।  
तेजोऽनपेक्षं विगतान्तरायं प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेऽपि। 'सुभाषितरत्नसंग्रह', पृ०-१९४.
२. अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।  
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥  
'सुभाषितरत्नभाण्डार', पृ०-३०-३२.
३. मातेव रक्षति पितेव हिते नियुक्ते, कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।  
लक्ष्मी तनोति वितनोति च दिक्षुकीर्तिं, किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥  
वही, ३१/२/१४.
४. इमा विज्जा महाविज्जा, सव्वविज्जाण उत्तमा।  
जं विज्जं साहइत्ताणं, सव्वदुक्खाण मुच्चती॥  
जेण बन्धं च मोक्खं च, जीवाणं गतिरागतिं।  
आयाभावं च जाणाति, सा विज्जा दुक्खमोयणी॥ 'इसिभासियाई', १७/१-२.
५. विद्या यशस्करी पुंसां विद्या श्रेयस्करी मता।  
सम्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी॥  
विद्याः कामदुहा धेनुर्विधा चिन्तामणिर्नृणाम्।  
त्रिवर्णफलितां सूते विधा संपत्-परम्पराम्।  
विद्या बन्धुश्च मित्रं च विद्या कल्याणकारकम्।  
सहयायि धनं विद्या विद्या सर्वार्थसाधनी॥  
तद् विद्याग्रहणं यत्नं पुत्रिके कुरुतं युवाम्।  
सत्संग्रहणकालोऽयं युवयोर्वर्ततेऽधुना॥ 'आदिपुराण', १६/९९-१०२
६. विद्या तु वैदुष्यमुपार्जयन्ति जगर्ति लोकद्वयसाधनाय॥  
'प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति', अल्तेकर, पृ०-४.
७. 'उत्तराध्ययन', पृ०-४९.
८. "Education according to the Buddhist way of life, therefore, should concern itself with selective cultivation. The man who is liberated is one who is no more becoming. Merely to have become a scholar or a mendicant is not the final goal. It may be a tremendous achievement for man to have probed into earth's other space, but, it is not the be all one and all of his existence. Buddha's message that man's significant efforts should be directed to the pursuit of truth and the practice of moral virtues has tremendous significance to education today." Ratna Navaratnam, *New Frontier's in East-West Philosophies of Education*. p.- 40.



9. Education is the manifestation of the perfection already in man."  
*Teachings of S. Vivekanand*, p. 50.
१०. 'भारतीय सामाजिक विचारधारा', पृ०-२२२.
११. 'हरिजन', १३.७.१९३७.
१२. वही,
१३. "Education is not limited to the imparting of information or the training in skills. It has to give the educated a proper sense of values. Scientists and technologists are also citizens and so have a social responsibility to the community in which they live." Dr. S. Radhakrishnan, quoted by Ratna Navaratnam, (Forewords to *New Frontiers in East-West Philosophies of Education*).
१४. शिक्षा के सिद्धान्त, पृ० ४.
१५. "Education is the constraining and directing of youth towards the right reason, which the law affirms and which the experience of the oldest and best has agreed to be truly right." Plato : *Laws*.
16. "Education is the creation of a sound mind in a sound body".  
Aristotle.
17. *The Philosophical bases of Education*, R. Rusk, University of London, P.169
18. Education may be defined of continuous reconstruction of experiences with the purpose of widening and deepening its social contents, while at the same time the individual gains control of the methods. Articles on Education in Paul Monroe's, *Encyclopaedia of Education*, Vol. II, P. 400.
19. Education is the process of development in which consists the passage of a human being from infancy to maturity, the process hereby he adopts himself gradually in various ways to his physical, social and spiritual environments. T. Raymont, *Principles of Education*, p. 4.
२०. "Style in its finest sense is the last acquirement of the educated mind, it is also the most useful. It is an aesthetic sense, based on admiration for the direct attainment of a foreseen end, simple and without waste. Style in art, style in literature, style in science, style in logic hastes wastes, style in the ultimate morality of mind. With style you attain your end and nothing but your end." A.N. Whitehead : *Aims of Education*. उद्धृत 'शिक्षा-दर्शन', पृ० ३०,

२१. 'समाजशास्त्र', द्वितीय खण्ड, जी०के० अग्रवाल, पृ०-१३४.
२२. "Education is the institution whose central values have to do with the acquisition of knowledge." B.S. Phillips, *Sociology, Social Structure and Change*, p. 305.
२३. 'समाजदर्शन की रूपरेखा', जे०एस० मैकेजी, पृ०-८२.
२४. वही
२५. Education is an attempt on the adult members of the society to shape the development of the coming generation in accordance with its own ideals of life. Welton James, *Encyclopaedia Britanica*, Vol. III, p. 951
२६. विनोबा भावे, उद्धृत- 'शिक्षा-दर्शन', पृ० ७५-७६.
२७. तदिति सर्वनाम, सर्वं च ब्रह्म, तस्य नाम तदिति तद्भावः तत्त्वं ब्रह्मणो याथात्म्यं। शंकराचार्य, 'गीताभाष्य', २/१६, पृ० १०३-१०४.
२८. 'भारतीय दर्शन', पृ०-६.
२९. Philosophy is a logical enquiry into the nature of reality. S. Radhakrishnan.
३०. 'भारतीय दर्शन', पृ०-१.
३१. 'विश्वदर्शन की रूपरेखा', पृ०-९.
३२. जे०पी० फिख्टे, 'एड्सेज टू जर्मन नेशन', आर०एफ० जोन्स तथा जी०एच० टर्नुबल द्वारा अनूदित, पृ०-१०३.
३३. Philosophy is the theory of education in its most general phases John Dewey, *Democracy and Education*, p. 386.
34. Sir John Adams used to tell his students that education is the dynamic side of philosophy. It is the active aspect of philosophical belief, the practical means of realizing ideas of life James, S. Ross : *Ground Work of Educational Theory*, p. 16.
- ३५-३६. 'शिक्षा का दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त', पृ०-५४.
३७. The philosophy of education is not a poor relation of general philosophy even though it is often so treated even by philosophers. It is ultimately the most significant phase of philosophy. For it is through the processes of education that knowledge is obtained. John Devey, *Problem of Man*, p. 165.
३८. 'शिक्षा के दार्शनिक तथा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त', पृ०-५२.
३९. All facts ultimately mean the same, but they mean the same in their own

unique way, just as signboards on roads leading to the same city point by different ways to the same goal. Reality is the heavenly city of philosophy and education is one of the signboards." H.H. Horn, उद्धृत- शिक्षा के 'दार्शनिक तथा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त', पृ०-१२३.

४०. Philosophy of education is not an external application of readymade ideas to a system of practice having a radically different origin and purpose; it is only on explicit formulation of the problem of the formation of right mental and moral attitudes in respect of the difficulties of contemporary social life. The most penetrating definition of philosophy which can be given is, then, that it is the theory of education in its most general phases." J. Dewey : *Democracy and Education*, p.386.
४१. 'शिक्षा के दार्शनिक तथा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त', पृ०-५५.
४२. 'भारतीय शिक्षा की समस्याएँ एवं प्रवृत्तियाँ', पृ०-४.
४३. वही, पृ०-४.



## द्वितीय अध्याय

# जैन एवं बौद्ध धर्म-दर्शन तथा उनके साहित्य

श्रमण-संस्कृति भारतवर्ष की एक विशिष्ट संस्कृति है जिसके अन्तर्गत दो प्रकार की परम्पराएँ देखने को मिलती हैं— (१) जैन परम्परा और (२) बौद्ध परम्परा। इन दोनों परम्पराओं का विकास ई०पू० छठी शताब्दी में हुआ। ई०पू० छठी शताब्दी धार्मिक आन्दोलन के नाम से विख्यात है। यह आन्दोलन केवल भारत में नहीं, बल्कि सम्पूर्ण एशिया में जोर पकड़े हुए था। सभी जगह पुरानी मान्यताओं को खण्डित कर नयी मान्यताओं एवं सम्प्रदायों का उदय हो रहा था। चीन में लाओत्से और कानफ्यूसियस, ग्रीस में पाइथेगोरस, सुकरात और प्लेटो, ईरान और पर्सिया में जरशुस्त्र आदि चिन्तक अपनी नयी-नयी विचारधाराएँ प्रस्तुत कर रहे थे। जैन एवं बौद्ध धर्म भी वैदिक धर्म में व्याप्त कुरीतियों के विरोध में संलग्न थे। नगेन्द्रनाथ घोष ने कहा है कि छठी शताब्दी पूर्व दो धार्मिक आन्दोलनों के लिए प्रसिद्ध है। इसमें जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के सुधारक के रूप में उत्पन्न हुए। लूथर और कालविन की तरह महावीर और गौतम बुद्ध ने हिन्दूधर्म में प्रचलित बुराईयों के विरोध में आवाज उठायी। अतः जैनधर्म तथा बौद्धधर्म उसी प्रकार विरोधी अथवा सुधारवादी हिन्दू धर्म (Protestant Hinduism) कहे जा सकते हैं जिस प्रकार लूथरवाद (Lutheranism) तथा कालविनवाद (Calvinism) को विरोधी ईसाई धर्म (Protestant Christianity) कहते हैं।<sup>१</sup> किन्तु दोनों के सम्बन्ध के विषय में विद्वानों में मतभेद पाये जाते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म का अंग है, तो कुछ का कहना है कि बौद्ध धर्म जैन धर्म से निकला हुआ धर्म है। जैसा कि बुद्धर महोदय का कहना है कि कोलब्रुक, स्टिवेन्सन और थामस के मत में बौद्ध धर्म के संस्थापक भगवान् बुद्ध जैन धर्म के प्रतिष्ठापक के ऐसे शिष्य थे जिन्होंने गुरु से विद्रोह करके एक अलग सिद्धान्त एवं धर्म की स्थापना की।<sup>२</sup> इसके विपरीत एक मत है जिसके समर्थकों में एच०एन० विल्सन, ए० बेकर आदि विद्वानों के नाम आते हैं। उनलोगों का मत है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म का एक पुराना अंग था। लेकिन सत्य तो यह है कि जैन धर्म एक स्वतन्त्र धर्म है और इसके संस्थापक एवं सिद्धान्त बौद्ध धर्म के संस्थापक तथा सिद्धान्त से बिल्कुल भिन्न हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डॉ० हरमन जैकोबी ने लिखा है— 'जैन धर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है। मेरा विश्वास है

कि वह किसी का अनुकरण नहीं है और इसलिए प्राचीन भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान और धर्म-पद्धति के अध्ययन करनेवालों के लिए बड़े महत्त्व की चीज है।<sup>३</sup> जैन धर्म की प्राचीनता पर प्रकाश डालते हुए लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपने 'केसरी' समाचारपत्र में लिखा है— 'श्री महावीर स्वामी जैन धर्म को पुनः प्रकाश में लाये, इस बात को आज २५०० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। बौद्ध धर्म से पहले भी जैनधर्म भारत में फैला हुआ था, यह बात विश्वास करने योग्य है। महावीर स्वामी चौबीस तीर्थङ्करों में अन्तिम तीर्थङ्कर थे, इससे भी जैन धर्म की प्राचीनता जानी जाती है।'<sup>४</sup> डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने कहा है— 'जैन धर्म तब से संसार में प्रचलित है, जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ है। मुझे इसमें किसी बात का उज्र नहीं कि यह वेदान्त आदि दर्शनों से पूर्व का है।'<sup>५</sup> इन सब विद्वानों के वक्तव्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म स्वतन्त्र धर्म है, बौद्ध धर्म से उसका अलग अस्तित्व है तथा इसका विकास छठी ई०पू० में हुआ था।

जैन धर्म में अब तक चौबीस तीर्थङ्कर हो चुके हैं। इसके संस्थापक के रूप में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का नाम आता है। उनके पश्चात् जैन धर्म में तेईस तीर्थङ्कर हुए जिनमें २१वें, २२वें तथा २३वें तीर्थङ्कर क्रमशः भगवान् अरिष्टनेमि, भगवान् पार्श्वनाथ तथा भगवान् महावीर माने जाते हैं।

### ऋषभदेव

जैन धर्म में दो प्रकार के काल माने गये हैं— अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। जिन्हें छः कालों में बाँटा गया है— सुषमा-सुषमा (सुख-सुख), सुषमा (सुख), सुषमा-दुषमा (सुख-दुःख), दुषमा-सुषमा (दुःख-सुख), दुषमा (दुःख) और दुषमा-दुषमा (दुःख-दुःख)। यह संसार एक बार सुख से दुःख की ओर जाता है तो दूसरी बार दुःख से सुख की ओर आता है। जब कालचक्र सुख से दुःख की ओर घूमता है तब उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं और जब दुःख से सुख की ओर घूमता है तब उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में करोड़ों वर्ष होते हैं और इन दोनों में हर एक के दुषमा-सुषमा भाग में २४ तीर्थङ्करों का प्रादुर्भाव होता है। सुषमा-दुषमा नाम के तीसरे काल में १५ कुलकरों का जन्म होता है। वर्तमान कालचक्र के कुलकर तथा तीर्थङ्कर हो चुके हैं। जैन परम्परा इस अवसर्पिणी काल में जैन धर्म का प्रारम्भ भगवान् ऋषभदेव से मानती है। ऋषभदेव इस युग की मानवीय सभ्यता के आदिपुरुष माने जाते हैं। वे न केवल प्रथम तीर्थंकर थे अपितु जैन मान्यतानुसार वे मानवीय सभ्यता के आदि पुरोधा भी थे। समाज व्यवस्था, राज्य व्यवस्था और धर्म व्यवस्था तीनों के आदि पुरोधा माने गये हैं। इस देश में ऋषि, मुनि की जिस निवृत्तिमार्गी परम्परा का विकास हुआ

उसके भी वे प्रथम प्रस्तोता माने जाते हैं। उनकी जीवनी और उनकी धर्मक्रान्ति के सम्बन्ध में न केवल जैन ग्रन्थों में उल्लेख मिलते हैं बल्कि जैनोत्तर ग्रन्थों में भी मिलते हैं।

भगवान् ऋषभदेव की ऐतिहासिकता जानने व प्रमाणित करने के लिये हमारे समक्ष दो आधारबिन्दु हैं- १. पुरातत्त्व उत्खनन से प्राप्त सामग्री और २. साहित्यिक साक्ष्य। मोहनजोदड़ो जिसका काल ३२५०-२७५० ई०पू० माना जाता है, की खुदाई में प्राप्त मुहरों में एक ओर नग्न ध्यानस्थ योगी की आकृति बनी है तो दूसरी ओर वृषभ का चिह्न है। वृषभ भगवान् ऋषभदेव का लांछन माना जाता है। सर जॉन मार्शल ने लिखा है कि मोहनजोदड़ो में एक त्रिमुखी नरदेवता की मूर्ति मिली है। वह देवता एक कम उँचे पीठासन पर योगमुद्रा में बैठा है। उसके दोनों पैर इस प्रकार मुड़े हैं कि एड़ी से एड़ी मिल रही है, अंगूठे नीचे की ओर मुड़े हुए हैं एवं हाथ घुटने के ऊपर आगे की ओर फैले हुये हैं।<sup>६</sup> मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर अंकित चित्र में त्रिरत्न का मुकुट विन्यास, नग्नता, कायोत्सर्ग मुद्रा, नासाग्रदृष्टि, योगचर्या, बैल आदि के चिह्न मिले हैं जो जैन धर्म की प्राचीनता को दर्शाते हैं। खुदाई में प्राप्त मुहरों के अध्ययन के पश्चात् प्रो० रामप्रसाद चन्दा ने लिखा है- सिन्धु मुहरों में से कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण देव मूर्तियाँ न केवल योगमुद्रा में अवस्थित हैं और न उस प्राचीन युग में सिन्धु घाटी में प्रचलित योग परम्परा पर प्रकाश डालती हैं वरन् उन मुहरों में खड़े हुये देवता योग की खड़ी मुद्रा को भी प्रकट करते हैं। खड़ी कायोत्सर्ग मुद्रा जैन परम्परा में प्रचलित साधना-पद्धति की परिचायक है।<sup>७</sup> ऋषभदेव की प्राचीनता पर प्रकाश डालते हुये श्री रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं- मोहनजोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे कालान्तर में वह शिव के साथ सम्बन्धित थी। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं दिखता कि ऋषभदेव वेदोल्लेखित होने पर भी वेदपूर्व हैं।<sup>८</sup>

ऋग्वेद में ऋषभदेव की स्तुति करते हुये कहा गया है- हे देव! मुझे समान पदवाले व्यक्तियों में श्रेष्ठ बना, शत्रुओं (कषायरूपी) को विशेष रूप से पराजित करने में समर्थ कर, शत्रुओं का नाश करनेवाला और विशेष प्रकार से अत्यन्त शोभायमान होकर गायों का स्वामी बना।<sup>९</sup> अथर्ववेद में ऋषभदेव को तारणहार के रूप में प्रतिष्ठित करते हुये कहा गया है कि जो ब्राह्मण ऋषभ को अच्छी तरह से प्रसन्न करता है वह शीघ्र सैकड़ों प्रकार के संतापों से मुक्त हो जाता है, उसको सब दिव्य गुण तृप्त करते हैं।<sup>१०</sup>

उपर्युक्त उद्धरणों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि ऋषभदेव ऐतिहासिक पुरुष थे व जैन धर्म के प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और धर्मचक्रवर्ती

थे। इस प्रकार ऐतिहासिक अस्तित्व के विषय में जो भी साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध होते हैं उनके आधार पर हम इतना तो कह सकते हैं कि वे कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं थे। परम्परा की दृष्टि से उनके सम्बन्ध में हमें जो भी सूचनायें उपलब्ध हैं उनको पूरी तरह से नकारा नहीं जा सकता है। उनमें कहीं न कहीं सत्यांश अवश्य है। जहाँ तक जैन ग्रन्थों का प्रश्न है उनके जीवनवृत्त का उल्लेख हमें जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, आवश्यकचूर्णि एवं जैन पुराणों तथा चरित काव्यों में विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है।

ऋषभदेव का जन्म अन्तिम कुलकर नाभि की महारानी मरुदेवी के गर्भ से हुआ। सामाजिक व्यवस्था के रूप में ऋषभदेव ने सर्वप्रथम असि (सैन्यवृत्ति), मषि (लिपिविद्या) और कृषि की शिक्षा दी। कोई बाहरी शक्ति राज्य शक्ति को चुनौती न दे इसलिए सैन्य-व्यवस्था को संगठित किया। अपनी दोनों पुत्रियों को लिपिज्ञान कराकर शिक्षा-व्यवस्था की नींव डाली। अपनी प्रथम पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अङ्गारह लिपियों का ज्ञान कराया तथा द्वितीय पुत्री सुन्दरी को बायें हाथ से गणित का अध्ययन कराया जिसके अन्तर्गत मान, उन्मान, अवमान, प्रतिमान आदि मापों से अवगत कराया। ब्राह्मी को अ, आ, इ, ई, उ, ऊ आदि को पट्टिका पर लिखकर वर्णमाला का ज्ञान कराया।<sup>११</sup> शिक्षा को सुदृढ़ करने के लिये पुरुषों को बहत्तर कलाओं व स्त्रियों को चौसठ कलाओं का परिज्ञान कराया। ऋषभदेव ने ही लोगों को अग्नि जलाना, भोजन बनाना, बर्तन बनाना, वस्त्र आदि बनाने की विधियाँ बतायीं। घोड़े, हाथी, गाय आदि पशुओं का उपयोग करना लोगों को सिखाया।<sup>१२</sup> कर्म के आधार पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तीन वर्णों की स्थापना की।<sup>१३</sup>

### पार्श्वनाथ

पार्श्वनाथ वर्तमान अवसर्पिणी काल के तेइसवें तीर्थङ्कर थे। उनके पिता का नाम अश्वसेन, माता का नाम वामा और जन्मस्थान वाराणसी था। पार्श्वनाथ तीस वर्ष तक गृहस्थावस्था में रहे, ७० वर्ष साधु-जीवन व्यतीत किया और ८४ दिन घोर तप करने के पश्चात् उन्हें कैवल्यज्ञान की प्राप्ति हुई। तत्पश्चात् उन्होंने अपने साधु जीवन में अहिच्छन्ना, श्रावस्ती, साकेत, राजगृह, हस्तिनापुर और कौशाम्बी आदि नगरों में परिभ्रमण किया तथा अनार्य जातियों में उपदेश का प्रचार कर सम्मेदशिखर पर सिद्धि प्राप्त की।<sup>१४</sup>

पार्श्वनाथ ने श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका नाम से चार संघों की स्थापना की और उसकी देखभाल के लिए गणधरों की नियुक्ति की। उन्होंने बिना किसी जाति-पाति या लिंग भेद-भाव के चारों वर्णों और स्त्रियों के लिए धर्म का मार्ग खोल दिया। तप, त्याग और इन्द्रिय-निग्रह पर उन्होंने विशेष बल दिया तथा वेद-विहित हिंसा के विरुद्ध

अहिंसा को मुख्य बताते हुए चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया।<sup>१५</sup> वे चार धर्म हैं— हिंसा न करना (अहिंसा), झूठ न बोलना (सत्य), चोरी न करना (अस्तेय) और धनसंचय न करना (अपरिग्रह)। पार्श्वनाथ का समय महावीर से २५० वर्ष पूर्व माना जाता है।

### वर्धमान महावीर

वर्धमान महावीर जैनधर्म के चौबीसवें और अन्तिम तीर्थङ्कर हैं। उनका जन्म बिहार प्रान्त के वैशाली जिले में स्थित कुण्डपुर ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ एवं माता का नाम त्रिशला था। महावीर ने तीस वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण किया और दीर्घ साधना के बाद ४२ (बयालिस) वर्ष की अवस्था में उन्हें कैवल्यज्ञान की प्राप्ति हुई। कैवल्य प्राप्ति के बाद वे लगभग तीस वर्षों तक उपदेश देते रहे और ७२ वर्ष की अवस्था में (ई०पू० ५२७ के लगभग) मध्यम पावा में निर्वाण को प्राप्त हुए।

ई०पू० छठी शताब्दी धार्मिक आन्दोलन का युग था। सभी सम्प्रदाय अपने-अपने मत एवं पन्थ को श्रेष्ठ बताकर दूसरों की निन्दा कर रहे थे। ऐसे समय में विभिन्न मतों एवं सम्प्रदायों के आपसी वैमनस्य को दूर करने के लिए वर्द्धमान महावीर ने अनेकान्त का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। यद्यपि महावीर ने किसी नये दर्शन या धर्म की स्थापना नहीं की बल्कि पार्श्वनाथ की निर्ग्रन्थ परम्परा में प्रचलित विचारधाराओं और आचार सम्बन्धी नियमों को संशोधित कर उसे प्रचारित-प्रसारित किया, यथा— सर्वप्रथम पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया तो महावीर ने उसमें ब्रह्मचर्य को जोड़कर पञ्चमहाव्रतों का उपदेश दिया। पार्श्वनाथ ने सचेल धर्म का निरूपण किया तो महावीर ने अचेल धर्म का।

### महात्मा बुद्ध

जैन धर्म के समान बौद्ध धर्म भी निवृत्तिमार्गी धर्म है। बौद्धधर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध का जन्म वैशाख पूर्णिमा को ५६३ ई०पू० हिमालय की तराई में स्थित कपिलवस्तु नामक नगर में हुआ। माता का नाम मायादेवी तथा पिता का नाम राजा शुद्धोधन था। बचपन में वे सिद्धार्थ के नाम से जाने जाते थे। उनका विवाह राजकुमारी यशोधरा से हुआ। सिद्धार्थ ने युवावस्था में ही घर-परिवार छोड़कर संन्यास धारण कर लिया। जिस समय सिद्धार्थ ने गृह-त्याग किया उस समय उनके पुत्र राहुल की अवस्था सात दिन की थी।<sup>१६</sup> घोर तपस्या के बाद उन्हें बोधि की प्राप्ति हुई और बुद्ध कहलाये। बुद्ध नाम उन्हें माता-पिता या किसी अन्य के द्वारा नहीं बल्कि बुद्धत्व प्राप्त करने पर प्राप्त हुआ। खुदकनिकाय में कहा भी गया है— 'बुद्ध' यह नाम माता-पिता, भाई-बहन, मित्र-सम्बन्धी,



श्रमण, ब्राह्मण एवं देवताओं द्वारा दिया हुआ नहीं है वरन् बोधिमूल में विमोक्ष-पुरस्सर सर्वज्ञता के अधिगम के साथ उपलब्ध एक प्रज्ञप्ति है।<sup>१७</sup> सामान्यतया बुद्ध का अर्थ होता है— ज्ञाता, समझनेवाला। बुद्ध व्यक्तिवाचक नाम नहीं है बल्कि जातिवाचक सम्बोधन है। जिसने बोधत्व प्राप्त कर लिया है वह बुद्ध है।

महात्मा बुद्ध के समय तक उनके अनुयायियों में किसी प्रकार का मतभेद उत्पन्न नहीं हुआ था। लेकिन समय के साथ-साथ अनुयायियों में विचार-भेद होना स्वाभाविक था। यह प्रकृति का नियम भी है कि देश और काल के अनुसार विचार बदलते रहते हैं। हर व्यक्ति एक ही सिद्धान्त को अपने-अपने अनुरूप ढालना चाहता है। बुद्ध के निर्वाण के बाद संघ दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया — हीनयान तथा महायान। हीनयान और महायान में मुख्य अन्तर यह है कि हीनयान का आदर्श संकुचित है तथा महायान का सार्वभौम। हीनयान स्वावलम्बन पर अधिक बल देता है तो महायान दूसरों के उद्धार पर। पुनः हीनयान और महायान की दो-दो शाखायें हैं— वैभाषिक और सौत्रान्तिक तथा योगाचार और माध्यमिक। आगे चलकर बौद्ध संघ अठ्ठारह सम्प्रदायों में विभक्त हो गया।

### जैन धर्म की दार्शनिक पृष्ठभूमि

भारतीय विचारधारा की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि धर्म और दर्शन साथ-साथ चलते हैं। भारतीय दार्शनिकों (चार्वाक को छोड़कर) ने कभी धर्म और दर्शन को अलग स्वीकार नहीं किया है। यहाँ जो दर्शन है वही धर्म भी है। इनमें निकटता और पूरकता के सम्बन्ध पाये जाते हैं। व्यवहार में धर्म जिस रूप में देखा जाता है उसका सिद्धान्त पक्ष दर्शन में ही होता है। दर्शन भी अपने को लोगों के पास धर्म के ही माध्यम से पहुँचाता है। धर्म दर्शन के बिना अन्धविश्वास के सिवा और कुछ नहीं रह जाता वह खोखला हो जाता है। इसी तरह दर्शन भी धर्म के बिना पंगु हो जाता है। भारतीय दर्शन में चार्वाक को छोड़कर सभी के धर्म भी हैं। जैन, बौद्ध और वैदिक दर्शनों के क्रमशः जैन, बौद्ध और वैदिक धर्म भी हैं। इसलिए प्राचीनकाल में प्रतिपादित दर्शन आज भी जिज्ञासा एवं रुचि के साथ पढ़ा एवं समझा जा रहा है। सम्पूर्ण जैन दर्शन को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है— व्यवहार-पक्ष और विचार-पक्ष। जैन दर्शन के जो भी व्यवहार-पक्ष अथवा आचार-पक्ष हैं वे अहिंसा पर आधारित हैं और जितने भी विचार-पक्ष हैं वे अनेकान्त पर आधारित हैं। अहिंसा श्रद्धाप्रधान है और अनेकान्त तर्कप्रधान।

भारतीय दर्शन में जैन दर्शन का अपना एक वैशिष्ट्य है। अहिंसा, अनेकान्तवाद और कर्मवाद— ये तीन ऐसे सिद्धान्त हैं जिनके कारण भारतीय दर्शन में जैन दर्शन का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। अहिंसा, अनेकान्तवाद और कर्मवाद का संक्षिप्त परिचय निम्न है—

## अहिंसा

जैन परम्परा में अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। अहिंसा को परिभाषित करते हुए आचारांग में कहा गया है— सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब तत्त्वों को न मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति के द्वारा मरवाना चाहिए, न बलात् पकड़ना चाहिए, न परिताप देना चाहिए, न उन पर प्राणापहार उपद्रव करना चाहिए; यह अहिंसा, रूप धर्म ही शुद्ध है।<sup>१८</sup> अहिंसा की पूर्ण परिभाषा 'आवश्यकसूत्र' में मिलती है जिसके अनुसार किसी भी जीव की तीन योग (अर्थात् मन, वचन और काय) और तीन करण (अर्थात् करना, करवाना और अनुमोदन करना) से हिंसा न करना ही अहिंसा है।<sup>१९</sup>

अहिंसा के दो रूप देखे जाते हैं— भाव-अहिंसा तथा द्रव्य-अहिंसा।<sup>२०</sup> मन में हिंसा न करने की भावना का जाग्रत होना भाव-अहिंसा है, यथा- कोई व्यक्ति संकल्प करता है कि मैं किसी जीव का घात नहीं करूँगा। मन में आये हुए अहिंसा भाव को क्रियारूप देना द्रव्य-अहिंसा है।<sup>२१</sup>

अहिंसा निषेधात्मक ही नहीं, बल्कि विधेयात्मक भी होती है। जैन-दर्शन में निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों ही प्रकार की अहिंसा मानी गयी हैं। निषेधात्मक और विधेयात्मक अहिंसा का विवेचन करते हुए डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा ने लिखा है— निषेध का अर्थ होता है किसी चीज को रोकना, न होने देना। अतः निषेधात्मक अहिंसा का मतलब होता है किसी भी प्राणी के प्राणघात का न होना या किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न देना। अहिंसा का निषेधात्मक रूप ही अधिक लोगों के ध्यान में आता है, किन्तु अहिंसा सिर्फ कुछ विशेष प्रकार की क्रियाओं को न करने में ही नहीं होती, बल्कि कुछ विशेष प्रकार की क्रियाओं के करने में भी होती है, जैसे- दया करना, सहायता करना, दान करना आदि।<sup>२२</sup> इस प्रकार जैन दर्शन का अहिंसा-सिद्धान्त संसार के समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान प्रिय मानने की प्रेरणा देता हुआ मैत्री भावना का पाठ सिखाता है।

## अनेकान्त

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का आधार है। जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा इसी अनेकान्त के सिद्धान्त पर आधारित है। 'अनन्तधर्मात्मक वस्तु' अर्थात् किसी भी वस्तु अथवा तत्त्व के अनन्त धर्म या लक्षण होते हैं। चाहे वह पदार्थ या तत्त्व छोटा-सा कण हो या विराट हिमालय, उसके अनन्त धर्म होते हैं। इन अनन्त धर्मों के दो प्रकार होते हैं— गुण और पर्याय। जो धर्म वस्तु के स्वरूप का निर्धारण करते हैं अर्थात् जिनके बिना वस्तु का अस्तित्व कायम नहीं रह सकता उन्हें गुण कहते हैं, यथा- मनुष्य में

मनुष्यत्व, सोना में सोनापन। मनुष्य में यदि मनुष्यत्व न हो तो वह और कुछ हो सकता है, मनुष्य नहीं। वैसे ही यदि सोना में सोनापन न हो तो वह अन्य कोई द्रव्य होगा, सोना नहीं। गुण वस्तु में स्थायी रूप से रहता है। वह कभी नष्ट नहीं होता और न बदलता ही है क्योंकि उसके नष्ट होने से वस्तु नष्ट हो जायेगी। गुण वस्तु का आन्तरिक धर्म होता है जो वस्तु की बाह्याकृतियों अर्थात् उसके रंग-रूप को निर्धारित करता है। इसी प्रकार जो बदलता रहता है, उत्पन्न और नष्ट होता रहता है उसे पर्याय कहते हैं, जैसे-मनुष्य कभी बच्चा, कभी युवा, और कभी बूढ़ा रहता है। गुण जो वस्तु में स्थायी रहता है, जैसे मनुष्य बच्चा हो या बूढ़ा, स्त्री हो या पुरुष, मोटा हो या पतला, उसमें मनुष्यत्व रहेगा ही। किन्तु जब कोई व्यक्ति बालक से युवा होता है तो उसका बालपन नष्ट हो जाता है और युवापन उत्पन्न होता है। ठीक इसी प्रकार सोना कभी अंगूठी, कभी माला, कभी कर्णफूल के रूप में देखा जाता है जिसमें सोना का अंगूठी वाला रूप नष्ट होता है तो माला का रूप बनता है, माला का रूप नष्ट होता है तो कर्णफूल का रूप बनता है। ये बदलनेवाले धर्म हमेशा उत्पन्न एवं नष्ट होते रहते हैं और गुण स्थिर रहता है। अतः जगत के सभी पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश इन तीन धर्मों से युक्त होते हैं। एक ही साथ एक ही वस्तु में तीनों धर्मों को देखा जा सकता है। मिशाल के तौर पर एक स्वर्णकार स्वर्णकलश तोड़कर मुकुट बना रहा है। उसके पास तीन ग्राहक पहुँचते हैं। जिनमें से एक को स्वर्णघट चाहिए, दूसरे को स्वर्णमुकुट चाहिए, और तीसरे को केवल सोना। लेकिन स्वर्णकार की प्रवृत्ति देखकर पहले ग्राहक को दुःख होता है, दूसरे को हर्ष और तीसरे को न तो दुःख ही होता है और न हर्ष अर्थात् वह मध्यस्थ भाव की स्थिति में होता है। तात्पर्य यह है कि एक ही समय में एक स्वर्ण में विनाश, उत्पत्ति और ध्रुवता देखी जा सकती है। इसी आधार पर जैन दर्शन में तत्त्व को परिभाषित करते हुये कहा गया है- सत् उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य युक्त है— 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।' २३

जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा से जो लोग परिचित नहीं हैं वे तुरन्त यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि एक ही वस्तु में ध्रुवता, उत्पत्ति और विनाश कैसे हो सकता है? क्योंकि स्थायित्व और अस्थायित्व दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। अतः एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय कैसे हो सकता है? जैन दर्शन इसका समाधान करते हुये कहता है कि कोई भी वस्तु गुण की दृष्टि से ध्रुव है, स्थायी है तथा पर्याय की दृष्टि से अस्थायी है, उसमें उत्पत्ति और विनाश है। कोई भी वस्तु सर्वथा सत् या असत् नहीं हो सकती। सभी वस्तु सत्-असत्, नित्य-अनित्य, भावरूप-अभावरूप हैं। अतः विरोधी धर्मों का समन्वय करना ही जैन दर्शन का अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तवाद के व्यावहारिक पक्ष को स्याद्वाद के नाम से विभूषित किया जाता है। स्याद्वाद अनेकान्तवाद का ही विकसित रूप है। स्यात् शब्द अनेकान्त का द्योतक है। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों एक ही हैं। इसका कारण यह है कि स्याद्वाद में जिस पदार्थ का कथन होता है, वह अनेकान्तात्मक होता है। दोनों में यदि कोई अन्तर है तो मात्र शब्दों का। स्याद्वाद में स्यात् शब्द की प्रधानता है तो अनेकान्तवाद में अनेकान्त की। किन्तु मूलतः दोनों एक ही हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र ने 'न्यायकुमुदचन्द्र' में कहा है- अनेकान्तात्मक अर्थ के कथन को स्याद्वाद कहते हैं।<sup>२४</sup> स्याद्वाद का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ बताते हुये कहा गया है- स्यादिति वादः स्याद्वादः।<sup>२५</sup> यहाँ हमें स्यात् शब्द के दो अर्थ देखने को मिलते हैं- पहला अनेकान्तवाद और दूसरा अनेकान्त के कथन करने की शैली। जैन दार्शनिकों ने अनेकान्त एवं स्यात् दोनों शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। इन दोनों शब्दों के पीछे एक ही हेतु रहा है और वह है- वस्तु की अनेकान्तात्मकता। यह अनेकान्तात्मकता अनेकान्तवाद शब्द से भी प्रकट होती है और स्याद्वाद शब्द से भी। अतः स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों एक ही हैं। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अन्तर है तो इतना कि एक प्रकाशक है तो दूसरा प्रकाश्य, एक व्यवहार है तो दूसरा सिद्धान्त।

### कर्म-सिद्धान्त

अहिंसा और अनेकान्त के समान जैन दर्शन का कर्मवाद भी व्यापक और विशाल है। प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करने के लिए किसी न किसी कारण की आवश्यकता होती है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य नहीं होता। प्रत्येक कारण किसी न किसी कार्य को उत्पन्न करता है। यह कार्य-कारण सम्बन्ध ही जगत की विचित्रता और विविधता की भूमिका है। जैन दर्शन में कर्म-विज्ञान पर बहुत ही गम्भीर, विशद और वैज्ञानिक पद्धति से चिन्तन किया गया है। जैन दर्शन का यह मानना है कि जब आत्म-प्रदेश में कम्पन होता है तब उस कम्पन से पुद्गल के परमाणु पुंज आकर्षित होकर आत्मा के साथ मिल जाते हैं। पुद्गल परमाणु पुंज का आत्मा के साथ मिलना ही कर्म है। 'प्रवचनसार' के टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है— आत्मा के द्वारा प्राप्य क्रिया को कर्म कहते हैं।<sup>२६</sup> आचार्य अकलंकदेव का कहना है कि जिस प्रकार पात्र विशेष में रखे गये अनेक रसवाले बीज, पुष्प तथा फलों का मद्य रूप में परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गलों के परिस्पन्दन रूप योग के कारण कर्म रूप परिणमन होता है।<sup>२७</sup>

जैन दर्शन कर्म को स्वतन्त्र तत्त्व मानता है। कर्म अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध है। कर्म के आठ प्रकार हैं— ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय,

आयुष्य, नामावरणीय, गोत्र और अन्तराय। आठ कर्मों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**ज्ञानावरणीय**— मोह के उदय से व्यक्ति जो कुछ भी करता है वह सकर्मात्मा है। सकर्मात्मा अशुभ कर्म का बन्धन करती है और उससे ज्ञान आवृत्त होता है। ज्ञान को आच्छादित करके उसके प्रकाश को घटा देनेवाली प्रकृति ज्ञानावरणीय-कर्म है। जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को ढँक देते हैं, उसी प्रकार जो कर्मवर्णाएँ आत्मा की ज्ञानशक्ति को ढँक देती हैं और ज्ञान-प्राप्ति में बाधक बनती हैं वे ज्ञानावरणीय कर्म हैं।

**दर्शनावरणीय**— दर्शन को आवृत्त करके उसके प्रकाश को घटानेवाली प्रकृति दर्शनावरणीय-कर्म है। ज्ञान से पूर्व होनेवाला वस्तुतत्त्व का निर्विशेष बोध जिसमें किसी विशेष गुणधर्म की प्राप्ति नहीं होती दर्शन है। दर्शनावरणीय-कर्म आत्मा के इसी दर्शन गुण को आवृत्त करता है।

**वेदनीय**— इष्ट और अनिष्ट बाह्य विषयों या भोगों का संयोग व वियोग कराने वाली प्रकृति वेदनीय-कर्म है। इसके दो प्रकार हैं— साता और असाता। इष्ट शरीर, इष्ट कुल और इष्ट भोगों को प्राप्त करानेवाली प्रकृति सातावेदनीय तथा इसके विपरीत भोगों को प्राप्त करानेवाली प्रकृति का नाम असातावेदनीय है।

**मोहनीय**— चेतना को विकृत या मूर्च्छित करनेवाली प्रकृति मोहनीय-कर्म है। जिस प्रकार नशीली वस्तु के सेवन से विवेकशक्ति कुंठित हो जाती है उसी प्रकार जिन कर्म-पुद्गलों से आत्मा की विवेकशक्ति कुंठित हो जाती है और अनैतिक आचरण में प्रवृत्ति होती है वे मोहनीय-कर्म कहलाती हैं। मोहनीय प्रकृति के कारण ही आत्मा में राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं।

**आयुष्य**— नारक, देव, मनुष्य व तिर्यच गतियों या शरीरों में किसी निश्चित कालपर्यन्त तक जीवद्रव्य को रोक रखनेवाला आयुष्य-कर्म है।

**नाम**— शरीर के विभिन्न अंगों का यथायोग्य निर्माण होना नाम-कर्म के उदय पर आधारित होता है। शुभ नाम-कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक उत्कर्ष की ओर बढ़ता है तथा अशुभ नाम-कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक अपकर्ष को प्राप्त करता है। हमारे पूरे शरीर का निर्माण, यश-अपयश, सुन्दर-असुन्दर, सौभाग्य-दुर्भाग्य आदि नाम-कर्म पर ही निर्भर करते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में नाम-कर्म को व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्धारक तत्त्व कहा जा सकता है।

**गोत्र**— जीव का उच्च कुल में होना, निम्न कुल में होना, दीन होना आदि गोत्र कर्म पर निर्भर करता है।

**अन्तराय**— अभीप्सित वस्तु की प्राप्ति में बाधा पहुँचानेवाला कर्म अन्तराय-कर्म कहलाता है। जिस प्रकार राजा की इजाजत होने पर भी भण्डारी के दिये बिना कोई वस्तु इजाजत प्राप्त व्यक्ति को नहीं मिलती, वैसे ही अन्तराय कर्मबन्ध के दूर हुए बिना इच्छित वस्तु सरलता से नहीं मिलती।

जैन दर्शन की मान्यता है कि जीव अपने कर्म के आधार पर ही अगला जीवन धारण करता है। अतीत कर्मों का फल हमारा वर्तमान जीवन है और वर्तमान कर्मों के फल के आधार पर ही हमारा भावी जीवन होता है। जैन कर्म-साहित्य में समस्त संसारी जीवों का समावेश चार प्रकार की गतियों में किया गया है— तिर्यञ्च, नारक, मनुष्य और देव। अतः वर्तमान जीवन का आयुष्य परिपूर्ण होने पर जीव अपने गति नामकर्म के अनुसार इन चार गतियों में से किसी एक गति में उत्पन्न होता है।

### बौद्ध धर्म की दार्शनिक पृष्ठभूमि

बौद्ध धर्म विश्व के धर्मों में अपना अलग स्थान रखता है। बौद्धधर्म के तीन मौलिक सिद्धान्त हैं जिनके निरूपण से बौद्ध धर्म की दार्शनिक पृष्ठभूमि जानी जा सकती है। वे सिद्धान्त हैं— प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणभंगवाद और अनात्मवाद। मूलतः प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसके आधार पर ही अन्य सिद्धान्तों की व्याख्या की जाती है। जिस प्रकार जैन सिद्धान्तों की व्याख्या अनेकान्त के आधार पर की जाती है, उसी प्रकार बौद्ध दर्शन के सभी सिद्धान्तों की व्याख्या प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर की जाती है। कर्मवाद, क्षणिकवाद, संघातवाद आदि के मूल में प्रतीत्यसमुत्पाद ही है।

### प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात् प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम। प्रतीत्य अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर, समुत्पाद अर्थात् अन्य वस्तु की उत्पत्ति।<sup>२८</sup> तात्पर्य है कि एक वस्तु के प्राप्त होने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति का सिद्धान्त या कारण के आधार पर कार्य की निष्पत्ति का सिद्धान्त। भगवान् बुद्ध ने कहा है— इस चीज के होने पर यह चीज होती है। जगत की वस्तुओं या घटनाओं में सर्वत्र यह कार्य-कारण नियम जागरूक होता है।<sup>२९</sup> कारण के रहने से ही कार्य होता है। इसी कारण-कार्य के आधार पर बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद की बारह कड़ियाँ प्रस्तुत की हैं जिसे भवचक्र के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इन बारह भंगों (अंगों) को द्वादशनिदान भी कहा गया है। इन बारह

कड़ियों के द्वारा ही संसार की सत्ता प्रमाणित होती है। वे बारह कड़ियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) अविद्या, (२) संस्कार, (३) विज्ञान, (४) नामरूप, (५) षडायतन, (६) स्पर्श, (७) वेदना, (८) तृष्णा, (९) उपादान, (१०) भव, (११) जाति, (१२) जरामरण।

अविद्या को समस्त दुःखों का मूल माना गया है— अविद्या से ही संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामकरण, नामकरण से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, जाति से जरा और जरा से मरण की उत्पत्ति होती है।

प्रतीत्यसमुत्पाद की उपर्युक्त बारह कड़ियों का सम्बन्ध तीन जन्मों से होता है जिसे आचार्य वसुबन्धु ने त्रिकाण्डात्मक नाम से सम्बोधित किया है।<sup>३०</sup> प्रथम दो अविद्या और संस्कार का सम्बन्ध अतीत जन्म से होता है, मध्य के आठ विज्ञान से लेकर उपादान तक का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से होता है तथा अन्तिम दो जाति और जरामरण का सम्बन्ध भविष्य जन्म से होता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद को मध्यम प्रतिपदा भी कहते हैं। इस सिद्धान्त में शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद का समन्वय होता है। शाश्वतवाद के अनुसार कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका न आदि है और न अन्त। उनका कोई कारण भी नहीं है तथा वे किसी वस्तु पर अवलम्बित नहीं हैं। उच्छेदवाद के अनुसार वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है। बुद्ध ने इन ऐकान्तिक मतों को छोड़कर मध्यम-मार्ग का अनुसरण किया है। उनका कहना है कि वस्तुओं के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं है, किन्तु वे न तो सर्वथा नित्य ही हैं और न उनका पूर्ण विनाश ही होता है। प्रत्येक वस्तु अपने कारण से उत्पन्न होती है। कार्य न तो कारण से अलग होता है और न भिन्न ही। बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, पर बीज अंकुर नहीं होता है, दूसरी ओर अंकुर भी बीज से बिल्कुल भिन्न वस्तु नहीं होता। अतः बीज नित्य और स्थिर नहीं है, क्योंकि वह अंकुर के रूप में परिवर्तित होता है। बीज नष्ट भी नहीं होता है, क्योंकि अंकुर में बीज का ही रूपान्तरण होता है।<sup>३१</sup> इस प्रकार बुद्ध ने न कार्य को कारण से अन्य माना और न कार्य को कारण रूप ही माना है।

### क्षणभंगवाद

जन्म और मरण संसार का स्वभाव है। जहाँ जन्म है वहाँ मरण भी है। जो महान मालूम पड़ता है, उसका पतन भी होता है। जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है। बौद्ध दर्शन के अनुसार जगत में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो सर्वथा स्थिर हो, नित्य

हो। वस्तु में क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है। जो वस्तु आज है वह कल नहीं होगी। जिस प्रकार एक प्रवाह दूसरे को जन्म देती है, उसी प्रकार एक क्षण दूसरे क्षण को जन्म देता है। संसार की प्रत्येक वस्तु अनित्य धर्मों का संघातमात्र है। यही अनित्यवाद आगे चलकर क्षणभंगवाद के रूप में परिवर्तित हो जाता है। क्षणभंगवाद में वस्तु केवल अनित्य ही नहीं है, अपितु उसकी सत्ता क्षणभर के लिए ही होती है। संसार की ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो परिवर्तनशील या विनाशशील न हो। परिवर्तित होना जागतिक वस्तुओं की विशेषता है। जो देखने में स्थायी या नित्य प्रतीत होता है वह भी नश्वर है, परिवर्तनशील है। बुद्ध ने प्रत्येक वस्तु को अनित्य और अस्थिर माना है। अनित्यतावाद और क्षणिकवाद में साम्य इन बातों से है कि दोनों ही परिवर्तन को मान्यता देते हैं, दोनों ही वस्तु के आदि एवं अन्त में विश्वास करते हैं। किन्तु इस बात के कारण दोनों में भेद है कि अनित्यवाद में जहाँ परिवर्तन का कोई समय निश्चित नहीं है वहाँ क्षणिकवाद में क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है। क्षणिकवाद के समर्थन में परवर्ती बौद्धों ने अपने ढंग से तर्क प्रस्तुत किया है। उन लोगों ने अस्तित्व या सत्ता को परिभाषित करते हुये कहा है कि 'अर्थक्रियाकारित्वम् सत्।' अर्थात् अस्तित्व उसी का है जिसमें कार्य करने की क्षमता है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिसमें कार्य करने की या परिवर्तन करने की क्षमता है उसी का अस्तित्व है। अतः कहा जा सकता है कि अस्तित्व का अर्थ स्थायित्व नहीं बल्कि परिवर्तनशीलता है। अपनी इस मान्यता के समर्थन में बुद्ध के शिष्यों ने बीज का उदाहरण प्रस्तुत किया है। बीज में अंकुर देने, पौधा उत्पन्न करने की क्षमता है इसलिए उसका अस्तित्व है, किन्तु बीज में स्थायित्व नहीं है वह परिवर्तित होता रहता है, इसलिए बीज को स्थायी नहीं माना जा सकता। यदि इसे स्थायी मान लिया जाता है तो इसका अभिप्राय होगा कि प्रत्येक क्षण बीज में समान रूप से उत्पन्न करने की क्षमता है, अन्यथा इसका स्थायित्व भंग होगा। किन्तु ऐसा नहीं होता। कोई भी बीज समान रूप से उत्पन्न करने की क्षमता नहीं रखता, क्योंकि बीज जब घर में रखा हुआ होता है तब उससे पौधा नहीं निकलता। बीज से पौधा तब उत्पन्न होता है जब उस बीज को मिट्टी में डाला जाता है। घर में बीज से पौधा नहीं निकलता और मिट्टी में बीज डालने पर बीज से पौधा का अंकुरित होना बीज में होनेवाले परिवर्तन को बताता है। यदि कोई ऐसा कहे कि बीज चाहे घर में रहे अथवा खेत में पौधा उत्पन्न करने की क्षमता उसमें सदा बनी रहती है अर्थात् वह किसी खास क्षण में नहीं बल्कि हमेशा ही स्थायी ढंग से पौधे को उत्पन्न कर सकता है तो यह क्षणिकवादियों को मान्य नहीं होगा। उनके अनुसार यदि बीज में पौधा पैदा करने की क्षमता स्थायी रूप से रहती और किसी भी क्षण वह पौधा पैदा कर सकता तब तो उसे मिट्टी में डालने की आवश्यकता ही नहीं



पड़ती। घर में बीज से पौधा का न निकलना तथा मिट्टी में डालने पर बीज से पौधा का निकल जाना यह प्रमाणित करता है कि बीज प्रत्येक क्षण में बदलता रहता है। इसी प्रकार विश्व की प्रत्येक वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं, क्षणिक हैं।

### अनात्मवाद

अनात्मवाद का सिद्धान्त भगवान् बुद्ध ने ब्राह्मण दर्शन के आत्मवाद के निषेध के रूप में दिया है। ब्राह्मण दर्शन में आत्मा को नित्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव माना गया है। संसार में आत्मा ही परम प्रिय वस्तु है तथा संसार में जो भी प्रिय वस्तु है वे सब आत्मा के कारण ही हैं। आत्मा की कामना के लिए सब प्रिय होता है। आत्मा के लिए प्राणी सुखों की कामना करता है। यहाँ तक कि स्त्री, पुत्रादि के प्रति जो हमारी आसक्ति है, वह इसी आत्मरूपी स्वार्थ पर अवलम्बित है और जब तक व्यक्ति आत्मरूपी सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग नहीं कर लेता तब तक उसे मुक्ति या निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

बुद्ध ने आत्मा की सत्ता का परिहास करते हुए कहा है- जो यह मेरी आत्मा अनुभवकर्त्री है, अनुभव का विषय है और जहाँ-तहाँ अपने बुरे कर्मों के विषयों का अनुभव करती है, यह मेरी आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील है, अनन्त वर्षों तक वैसी ही रहेगी— हे भिक्षुओं, यह मानना दृष्टिविशूक है।<sup>३२</sup> हम जिसे नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अपरिवर्तनशील समझते हैं, वह अनित्य, अध्रुव, अशाश्वत और परिवर्तनशील है। रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सारे धर्म अनात्म हैं।<sup>३३</sup> इतना ही नहीं बुद्ध ने चक्षु आदि इन्द्रियाँ, उनके विषय, उनसे होने वाले ज्ञान, मन, मानसिक धर्म और मनोविज्ञान आदि सबको अनित्य, दुःखात्मक तथा अनात्म घोषित किया है। बुद्ध ने कहा है कि आत्मा की सत्ता को स्वीकार करना उसी प्रकार हास्यास्पद है जिस प्रकार कोई व्यक्ति देश की सुन्दर स्त्री से प्रेम करता है, परन्तु न तो उसके गुणों से परिचित है, न उसके रंग से, न उसका कद ही जानता है कि वह बड़ी है अथवा छोटी या मझोली और न उसके नाम, गोत्र से ही भिन्न है।<sup>३४</sup> अभिप्राय यह है कि व्यक्ति आत्मा के गुण-धर्म को जाने बिना उसके सुख के लिए नाना प्रकार के कर्मों को करता है।

परन्तु मन में सवाल उत्पन्न होता है कि आत्मा जिसे नित्य ध्रुव माना गया है उसे बुद्ध ने अनात्म घोषित किया, आखिर क्यों? जैसा कि बुद्ध का मानना है कि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना ही सभी दोषों का मूल है। इसकी पुष्टि नागार्जुन के इस कथन से होती है कि जो आत्मा को देखता है उसी पुरुष का 'अहं' के लिये सदा स्नेह

बना रहता है, स्नेह से तृष्णा उत्पन्न होती है जो दोषों को ढक लेती है। गुणदर्शी पुरुष इस विचार से कि 'विषय मेरे हैं' साधनों को ग्रहण करता है। तृष्णा से उपादान की उत्पत्ति होती है। अतः जब तक आत्माभिनिवेश है तब तक यह संसार है। आत्मा के रहने पर ही पर का ज्ञान होता है। स्व और पर के विभाग से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और राग-द्वेष के कारण ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। अतः इसको हटाने से ही सभी दोषों का निराकरण हो सकता है।<sup>३५</sup>

परन्तु ऐसा नहीं है कि बुद्ध ने आत्मा की सत्ता को स्वीकार ही नहीं किया है बल्कि उन्होंने आत्मा की पारमार्थिक सत्ता को छोड़कर व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया है। बुद्ध के अनुसार आत्मा की व्यावहारिक सत्ता है जो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान आदि पञ्चस्कन्धों का समुदाय मात्र है। इनके अतिरिक्त आत्मा कोई स्वतन्त्र परमार्थभूत पदार्थ नहीं है। अतः बौद्ध दर्शन पञ्चस्कन्धों के संघात को ही आत्मा मानता है। संघात के कारण ही मनुष्य अथवा आत्मा का बोध होता है, संघात न हो तो न मनुष्य की प्रतीति हो सकती है और न आत्मा की ही। इस संघात के विषय में नागसेन तथा राजा मिलिन्द का संवाद अतिप्रसिद्ध है। मिलिन्द ने नागसेन से आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्न किया जिसका उत्तर नागसेन ने संघातवाद को प्रस्तुत करते हुये दिया, किन्तु नागसेन के उत्तर से मिलिन्द को सन्तुष्टि नहीं हुई। नागसेन ने रथ का उदाहरण सामने रखा। नागसेन ने राजा मिलिन्द से पूछा, राजन्! आप पैदल यहाँ आये हैं अथवा किसी वाहन से। राजा ने उत्तर दिया— मैं रथ पर सवार होकर आया हूँ। तब नागसेन ने पूछा— रथ क्या है? क्या चक्र को रथ कहते हैं? क्या नेमि को रथ कहते हैं या जुआ को रथ कहते हैं? राजा ने इन सभी प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक ढंग से दिया। तब नागसेन ने उन्हें समझाया। इन विभिन्न अंगों में जो संघात है, समन्वय है, उसे ही रथ कहते हैं। अलग से रथ जैसी कोई चीज नहीं है। यदि रथ जैसी कोई चीज अलग से अपना अस्तित्व रखती तो अंगों के अलग हो जाने पर भी रथ हमारे सामने होता अथवा रथ का कार्य होता, किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए हे राजन्! जिस प्रकार चक्र, नेमि, जुआ आदि विभिन्न अंगों के संघात का नाम रथ है, उसी प्रकार पञ्चस्कन्धों के संघात का नाम आत्मा है।<sup>३६</sup> आत्मा, जीव, सत्ता, पुद्गल, मन, चित्त, विज्ञान आदि शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची तथा समानार्थक हैं। बौद्धानुयायी आत्मा के लिये एक विशेष शब्द 'सन्तान' का प्रयोग करते हैं। यद्यपि बुद्ध ने आत्मा की स्वतंत्र एवं नित्य सत्ता को स्वीकार नहीं किया है फिर भी उन्होंने मानसिक वृत्तियों को सहर्ष स्वीकार किया है। हमारी मानसिक वृत्तियाँ, जैसे- आँखें कोई खट्टी चीज को देखती हैं और जिह्वा से पानी टपकने लगता है, नाक दुर्गन्ध सूँघती है और हाथ नाक पर पहुँच जाता है। जबकि

हम जानते हैं कि आँख और जिह्वा एक-दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी वे किसी न किसी रूप में एक-दूसरे से जुड़े हुये हैं, एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि दोनों को मिलानेवाला कोई तीसरा है और वह है- मन। पं० राहुल सांकृत्यायन का मानना है कि मन से परे आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है, अर्थात् मन ही आत्मा है।<sup>३७</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध ने आत्मा की व्यवहारिक सत्ता को स्वीकार किया है।

आत्मा अनित्य है, क्षण-क्षण बदलती रहती है, लेकिन उसके अविरल प्रवाह को हम भ्रमवश नित्य मान लेते हैं। यह ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार हमें भ्रमवश एक ही दीपक रात भर जलता हुआ प्रतीत होता है जबकि यह अयथार्थ है, क्योंकि रात के पहले प्रहर की दीपशिखा दूसरी थी, दूसरे प्रहर की उससे भिन्न। किन्तु देखने वाले को एक ही दीपशिखा जान पड़ती है जबकि वह प्रतिक्षण बदलती रहती है। प्रवाह की दो अवस्थाओं के बीच एक क्षण का भी अन्तर नहीं रहता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा भी प्रतिक्षण बदलती रहती है। इस प्रकार बुद्ध का अनात्मवाद, आत्मा का न तो बिल्कुल निषेध ही करता है और न उसकी सत्ता को स्वीकार ही करता है।

### जैन साहित्य

जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति का मूलाधार आगम-साहित्य है। आगम-साहित्य की सुदृढ़ नींव पर ही जैन दर्शन का भव्य प्रासाद खड़ा है। आगम को परिभाषित करते हुए 'विशेषावश्यकभाष्य' में कहा गया है— 'जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है, वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।'<sup>३८</sup> आचार्य मल्लिषेण के अनुसार 'आप्तवचन से उत्पन्न अर्थ यानी पदार्थ ज्ञान आगम कहलाता है। उपचार से आप्तवचन भी आगम माना जाता है।'<sup>३९</sup> इसी प्रकार 'न्यायसूत्र' में कहा गया है कि 'आप्तकथन आगम है।'<sup>४०</sup>

आगम के लिए विभिन्न शब्दों के प्रयोग देखने को मिलते हैं, यथा— सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम,<sup>४१</sup> आप्तवचन, ऐतिह्य, आमनाय, जिनवचन<sup>४२</sup> तथा श्रुत; किन्तु वर्तमान में आगम शब्द ही ज्यादा प्रचलित है।

सम्पूर्ण जैन-साहित्य दो भागों में विभक्त है। पहला वह भाग जिसके अन्तर्गत महावीर से पहले के साहित्य हैं जिन्हें पूर्व के नाम से जाना जाता है और दूसरा वह भाग जिसमें महावीर के बाद के साहित्य हैं जिन्हें अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। पूर्व साहित्य के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। आचार्य अभयदेव का कहना

है कि द्वादशांगी से पहले पूर्व-साहित्य निर्मित किया गया था। इसी से उसका नाम पूर्व रखा गया। इनकी संख्या चौदह है।<sup>४३</sup> वीरसेनाचार्य का कहना है कि पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा की श्रुतराशि है। श्रमण भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती होने के कारण उसे 'पूर्व' कहा गया है।<sup>४४</sup> इसमें कोई सन्देह नहीं है कि महावीर से पूर्व भी साहित्य थे क्योंकि महावीर से पहले तेइस तीर्थङ्कर हो चुके थे।

महावीर के बाद के साहित्य जिनमें उनके उपदेश संकलित हैं, दो भागों में विभक्त हैं— अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य। अंग-प्रविष्ट वे शास्त्र हैं जो गणधरों के द्वारा सूत्र रूप में बनाये गये हैं या जो गणधर के द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थङ्कर द्वारा प्रतिपादित हैं। अंगबाह्य वे हैं जो स्थविरों अर्थात् बाद के आचार्यों द्वारा रचित हैं। आचार्य अकलंक ने कहा है कि आरातीय आचार्यों के द्वारा निर्मित आगम अंग प्रतिपादित अर्थ के निकट या अनुकूल होने के कारण अंगबाह्य कहलाते हैं।<sup>४५</sup> अंग-प्रविष्ट के अन्तर्गत द्वादशांगी आते हैं।

भाषा की दृष्टि से जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी है। वैयाकरण इसे आर्ष प्राकृत कहते हैं। सम्पूर्ण जैन साहित्य का संकलन चार महासम्मेलनों के द्वारा किया गया है। प्रथम सम्मेलन वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी में अर्थात् १६० वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में आचार्य भद्रबाहु के समय हुआ जिनका काल ई०पू० ४थी शती का दूसरा दशक है।<sup>४६</sup> आगम संकलन का दूसरा महासम्मेलन वीर निर्वाण ८२७ और ८४० के बीच आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में हुआ। इसे माथुरी वाचना के नाम से जाना जाता है। ठीक इसी समय दक्षिण और पश्चिम भारत में विचरण करने वाले श्रमणों की तृतीय वाचना आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी में हुई जिसे वल्लभी वाचना या नागार्जुनीय वाचना भी कहते हैं।<sup>४७</sup> चतुर्थ महासम्मेलन वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी में (९८० या ९९३ वर्ष पश्चात्) वल्लभी में आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में हुआ। आचार्य देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने एक और महासम्मेलन की चर्चा की है और उसे ग्रन्थ संकलन का द्वितीय प्रयास बताया है। यह सम्मेलन द्वितीय शती के मध्य सम्राट् खारवेल के समय हुआ था।<sup>४८</sup>

### शिक्षा से सम्बन्धित ग्रन्थ

अंग, उपांग, मूल, छेद, प्रकीर्णक आदि जैन साहित्य के विभिन्न भाग हैं जिनके अन्तर्गत जैन धर्म, दर्शन और संस्कृति निर्बाध रूप से प्रवाहित हो रही है। जैन शिक्षा से सम्बन्धित विभिन्न ग्रन्थ हैं, यथा— 'आचारांग', 'सूत्रकृतांग', 'स्थानांग', 'समवायांग', 'ज्ञाताधर्मकथा', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक', 'दशाश्रुतस्कन्ध', 'बृहत्कल्प', 'व्यवहारसूत्र',

‘गच्छाचार’, ‘चन्द्रवेध्यक’ आदि। इनमें से प्रमुख ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है-

### उत्तराध्ययन

जैनागमों में मूलसूत्रों का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। सामान्य रूप से मूल सूत्रों की संख्या चार है, जिसमें ‘उत्तराध्ययन’ को प्रथम स्थान प्राप्त है। इस ग्रन्थ में महावीर ने अपने अन्तिम चौमासे में जो बिना पूछे हुए ३६ प्रश्नों के उत्तर दिये थे, उन्हीं का संकलन है। पाश्चात्य विद्वान् लायमन का कहना है कि यह सूत्र उत्तर अर्थात् बाद का होने से अर्थात् अंग ग्रन्थों की अपेक्षा उत्तरकाल का रचा हुआ होने के कारण ‘उत्तराध्ययन’ कहलाता है।<sup>४९</sup> यह छत्तीस अध्ययनों में विभक्त है। इसमें विनय, परीषह, अकाममरण, प्रव्रज्या, यज्ञीय, सामाचारी आदि के वर्णन हैं। आचार्य भद्रबाहु ने इस ग्रन्थ पर निर्युक्ति तथा जिनदासगणि ने चूर्णि लिखी है। वादिवेताल शान्तिसूरि ने ‘शिष्यहिता टीका’ और नेमिचन्द्र ने ‘शान्तिसूरि की टीका’ के आधार से ‘सुखबोध टीका’ लिखी है। इसी प्रकार लक्ष्मीवल्लभ, जयकीर्ति, कमलसंयम, भावविजय, मुनि जयन्तविजय आदि विद्वानों ने भी टीकाएँ लिखी हैं। भाषा और विषय की दृष्टि से यह प्राचीन ग्रन्थ है जिसकी पुष्टि शार्पेन्टियर, जैकोबी, विण्टरनिट्ज आदि विद्वानों ने भी की है। पाश्चात्य विद्वान् जार्ज शार्पेन्टियर ने इस ग्रन्थ की अंग्रेजी प्रस्तावना लिखी है तथा इसके मूल पाठ में भी संशोधन किया है। एच० जैकोबी ने इसका अंग्रेजी अनुवाद किया है।<sup>५०</sup>

प्रस्तुत सूत्र के प्रथम अध्ययन में विनय का अर्थ बताते हुए उसके अनुवर्तन, प्रवर्तन, अनुशासन, शुश्रूषा और शिष्टाचार के परिपालन पर बल दिया गया है। विनीत तथा अविनीत शिष्य के लक्षणों, उनके कर्तव्यों आदि को प्रकाशित करते हुए कहा गया है कि जो गुरु की आज्ञा का पालन करनेवाला, गुरु के समीप रहनेवाला तथा उनके मनोभावों को जाननेवाला है वह विनीत शिक्षार्थी है तथा इसके विपरीत आचरण करनेवाला अविनीत शिक्षार्थी कहलाता है। अविनीत शिक्षार्थी ठीक उसी प्रकार है जैसे मरियल घोड़ा बार-बार चाबुक खाकर सही मार्ग पर आता है, जब कि अच्छे नस्ल का घोड़ा चाबुक देखते ही सही मार्ग पर चलने लगता है, वैसे ही विनीत शिष्य अकीर्ण घोड़े की तरह इंगित मात्र से ही पाप-कर्म का त्याग कर देता है।<sup>५१</sup> शिक्षार्थी के कर्तव्यों का निरूपण करते हुये कहा गया है- वाणी अथवा कर्म से प्रकट रूप में अथवा गुप्त रूप में गुरुजनों के विरुद्ध किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।<sup>५२</sup> यदि आचार्य क्रुध हो जाएँ तो उन्हें प्रेमपूर्वक प्रसन्न करना चाहिए, हाथ जोड़कर उनकी क्रोधाग्नि शान्त करनी चाहिए और उन्हें विश्वास दिलाना चाहिए कि भविष्य में वह ऐसा कार्य नहीं करेगा।<sup>५३</sup>

ग्यारहवें अध्ययन में मान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य आदि पाँच स्थानों को ज्ञान प्राप्ति का बाधक बताया गया है।<sup>५४</sup> विनीत शिक्षार्थी के लक्षणों को प्रकाशित करते हुये कहा गया है कि जो सदा गुरुकुल में रहकर योग और तप साधना करता है, प्रियकारी है और प्रिय बोलता है, वह शिष्य ही शिक्षा का अधिकारी होता है।<sup>५५</sup> वह पुरुषों में उसी प्रकार श्रेष्ठ है, जैसे पर्वत में मेरु।

बारहवाँ अध्ययन चाण्डाल कुल में उत्पन्न हरिकेशबल का शिक्षा प्राप्त कर भिक्षु रूप में ब्राह्मण की यज्ञशाला में भिक्षा के लिए जाना तथा अविनीत शिष्य द्वारा उन पर डण्डों से प्रहार करने से सम्बन्धित है।

सत्रहवें अध्ययन में पाप श्रमण का वर्णन किया गया है। जो श्रमण (भिक्षु) होकर यथेच्छ भोजन कर सदा निद्राशील रहता है वह पाप श्रमण कहलाता है। जो गुरुओं की आज्ञा का पालन नहीं करता, उनसे श्रुत और विनय प्राप्त करने के बाद उनकी निन्दा करता है, वह पाप श्रमण है। इसलिए साधक को दोषों का परित्याग कर व्रतों को ग्रहण करना चाहिए।<sup>५६</sup>

सत्ताइसवें अध्ययन में विनीत तथा अविनीत शिष्य को दुष्ट बैल द्वारा उपमित किया गया है। अविनीत शिष्य उस दुष्ट बैल की तरह है जो मार्ग में गाड़ी तोड़ देता है और मालिक को कष्ट पहुँचाता है।<sup>५७</sup> साथ ही, बताया गया है कि अविनीत शिष्य से रुष्ट होकर गर्गाचार्य अपने शिष्यों को छोड़कर एकान्तवास में तप करने चले गये।<sup>५८</sup>

बत्तीसवें अध्ययन में मुक्ति के उपाय बताये गये हैं। गुरुजनों और वृद्धों की सेवा करना, एकान्त में निवास करना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना धैर्य रखना आदि दुःख से मुक्त होने के उपाय हैं।

## दशवैकालिक

मूल आगमों में 'दशवैकालिक' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके रचयिता शय्यम्भव हैं। इस आगम के दो नाम उपलब्ध होते हैं— 'दसवैयालिय' और 'दसकालिया'।<sup>५९</sup> 'दशवैकालिक' 'दश' और 'कालिक' दो शब्दों के योग से बना है जिसमें 'दश' शब्द अध्ययन का सूचक है और 'कालिक' विकाल का, बेला का। इसकी रचना अपराह्न में शुरू हुई और विकाल में पूरी हुई, इसलिए इसे 'दशवैकालिक' कहते हैं। दूसरी मान्यता है कि इसे स्वाध्याय काल के बिना किसी भी समय पढ़ा जा सकता है इसलिए इसका नाम 'दशवैकालिक' रखा गया है। आचार्य हरिभद्र और समयसुन्दर ने इस पर टीका तथा आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखी है। इसकी महत्ता की पुष्टि इस बात से होती है कि प्राचीनकाल में 'आचारांग' के प्रथम श्रुतस्कन्ध पढ़ने के बाद 'उत्तराध्ययन' पढ़ा

जाता था, किन्तु 'दशवैकालिक' की रचना के पश्चात् वह 'दशवैकालिक' के बाद पढ़ा जाने लगा।<sup>६०</sup>

प्रस्तुत ग्रन्थ में दश अध्ययन हैं जिनमें पाँचवें अध्ययन में दो उद्देशक तथा नवें अध्ययन में चार उद्देशक हैं। शेष अध्ययनों में उद्देशक नहीं हैं। इस ग्रन्थ में गद्य एवं पद्य दोनों का समावेश है। चौथा व नौवां अध्ययन गद्य-पद्यात्मक है, बाकी अध्ययन पद्यों में निबद्ध हैं। नवें अध्ययन में विनय-समाधि का वर्णन किया गया है।

नवम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में विनीत तथा अविनीत के लक्षण व आचार्य की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। शिष्य का आचार्य के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए, इसका निरूपण किया गया है। कहा गया है कि यदि शिष्य अनन्त ज्ञानी भी हो जाये तो वह आचार्य की आराधना उसी प्रकार करता रहे जिस प्रकार वह पहले करता आया है और जिस गुरु के पास धर्मपद सीखता है, उसके प्रति विनय का प्रयोग करे।<sup>६१</sup> जो शिष्य गुरुओं के प्रति आशातना करते हैं वे उस पुरुष के समान हैं जो जलती हुई अग्नि को अपने पैरों से कुचलकर बुझाना चाहते हैं। साथ ही आचार्य को मेघरहित आकाश में शोभायमान चन्द्रमा के समान भिक्षुओं के मध्य शोभित होना बताया गया है।<sup>६२</sup>

द्वितीय उद्देशक में विनय और अविनय के फल बताते हुए कहा गया है कि अविनयशील विपत्ति में पड़ता है और विनयशील सम्पत्ति को प्राप्त करता है। जो आचार्य, उपाध्याय आदि की सेवा-शुश्रूषा करते हैं, उनकी शिक्षा जल से सींचे हुए वृक्षों की भाँति पल्लवित होती है और दुर्वचन बोलनेवाले, कपटी, धूर्त शिष्य संसार-सागर के प्रवाह में उसी प्रकार गोते मारते हैं जिस प्रकार जल-प्रवाह में पड़ा हुआ काष्ठ। शिष्य के कर्तव्य को उद्बोधित करते हुए कहा गया है कि वह अपनी शय्या, स्थान और आसन को गुरु से नीचे रखे, विनयपूर्वक उनकी वन्दना करे।

तृतीय उद्देशक में शिक्षार्थी के गुणों की महिमा बतायी गयी है। जो पीछे से अवर्णवाद नहीं बोलता, सामने विरोधी वचन नहीं कहता, जो निश्चयकारी और अप्रियकारिणी भाषा नहीं बोलता, वह सर्वत्र पूजनीय होता है।

चतुर्थ उद्देशक में विनय-समाधि के चार स्थानों का वर्णन है— विनय-समाधि, श्रुत-समाधि, तप-समाधि और आचार-समाधि। पुनः चारों के चार-चार भेद बताये गये हैं। इस प्रकार विनय के सोलह प्रकार हो जाते हैं।

## दशाश्रुतस्कन्ध

‘दशाश्रुतस्कन्ध’ छेदसूत्र हैं। छः छेदसूत्रों में ‘दशाश्रुतस्कन्ध’ का अपना अलग स्थान है। इसका ही दूसरा नाम ‘आचारदशा’ भी है जिसका उल्लेख स्थानांगसूत्र के दशवें स्थान में मिलता है। ‘दशाश्रुतस्कन्ध’ में दश अध्ययन हैं, इसलिए भी इसका नाम ‘दशाश्रुतस्कन्ध’ है। इसमें जैन श्रमणों के आचार से सम्बद्ध प्रत्येक विषय का विस्तार के साथ वर्णन उपलब्ध होता है। दश अध्याय निम्नप्रकार से हैं—

असमाधि-स्थान, सबल दोष, आशातना, गणि-सम्पदा, चित्त-समाधि-स्थान, उपासक-प्रतिमा, भिक्षु-प्रतिमा, पर्युषणाकल्प, मोहनीय-स्थान और आयति-स्थान।

इन दश अध्ययनों में से तीसरे और चौथे अध्ययनों में मुख्य रूप से सबल दोष और आशातना- इन दो दशाओं में साधु जीवन के दैनिक नियमों का विवेचन किया गया है तथा बलपूर्वक कहा गया है कि इन नियमों का परिपालन होना चाहिए। इनमें जो त्याज्य हैं उनका दृढ़ता से त्याग करना चाहिए और जो उपादेय हैं उनका पालन करना चाहिए। गुरु के प्रति शिष्य द्वारा किसी प्रकार की आशातना नहीं होनी चाहिए। शिष्य का गुरु के आगे, समश्रेणि में, अत्यन्त समीप में गमन करना, खड़ा होना, बैठना आदि तथा गुरु से पूर्व किसी से सम्भाषण करना, गुरु के वचनों की जानबूझकर अवहेलना करना, भिक्षा से लौटने पर आलोचना न करना आदि तैंतीस प्रकार की आशातनाएँ बतायी गयीं हैं।

चतुर्थ अध्ययन में गणि-सम्पदा के अन्तर्गत आचार्य पद पर विराजित व्यक्ति के व्यक्तित्व, प्रभाव तथा उसके शारीरिक प्रभाव का अत्यन्त उपयोगी वर्णन किया गया है। गणि-सम्पदा के आठ प्रकार बताये गये हैं— आचार-सम्पदा, श्रुत-सम्पदा, शरीर-सम्पदा, वचन-सम्पदा, वाचना-सम्पदा, मति-सम्पदा, प्रयोगमति-सम्पदा और संग्रहपरिज्ञा-सम्पदा। पुनः इन आठों के चार-चार भेद किये गये हैं।

## व्यवहारसूत्र

‘व्यवहारसूत्र’ में भी श्रमणों की आचार-संहिता पर चिन्तन किया गया है। इस ग्रन्थ की भद्रबाहु रचित निर्युक्ति और भाष्य दोनों प्राप्त होते हैं।<sup>६३</sup> अमोलकऋषिकृत हिन्दी अनुवाद और जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित गुजराती अनुवाद भी प्राप्त होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में दस उद्देशक हैं जिसके अन्तर्गत लगभग तीन सौ सूत्र हैं।<sup>६४</sup>

तृतीय उद्देशक में गच्छाधिपति की योग्यता, पदवीधारियों के आचार, तरुण श्रमणों के आचार, गच्छ में रहते हुए अथवा गच्छ का त्यागकर अनाचार सेवन करनेवाले के



लिए प्रायश्चित्त तथा मृषावादियों को पदवी न प्रदान करने का निरूपण किया गया है। आचार्य तथा उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित होने की योग्यताओं को बताते हुए कहा गया है— आचार्य वही बन सकता है जो कम से कम पाँच वर्ष का दीक्षित हो, श्रमण की आचारसंहिता में कुशल हो, 'दशाश्रुतस्कन्धकल्प', 'बृहत्कल्प', 'व्यवहार' आदि का ज्ञाता हो। उपाध्याय वही बन सकता है जो कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला हो, आगम का मर्मज्ञ हो, प्रायश्चित्तशास्त्र का पूर्ण ज्ञाता हो, चरित्रवान हो और बहुश्रुत हो। लेकिन अपवाद रूप में एक दिन दीक्षा पर्यायवाला भी आचार्य अथवा उपाध्याय बन सकता है पर उसके लिए प्रतीतिकारी, धैर्यशील, विश्वसनीय, समभावी, प्रमोदकारी, अनुमत, बहुमत तथा गुणसम्पन्न होना अनिवार्य है।

चतुर्थ उद्देशक में आचार्य और उपाध्याय के साथ कम से कम एक और वर्षावास में दो साधु का होना आवश्यक बताया गया है। आचार्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उनके अभाव में कैसे रहना चाहिए और किस तरह किसी मुनि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करना चाहिए इस पर विचार किया गया है।<sup>६५</sup>

षष्ठ उद्देशक में श्रमण-श्रमणी के कर्तव्यों को प्रकाशित करते हुये आचार्य तथा उपाध्याय के पाँच अतिशय (विशेषाधिकार) बताये गये हैं— यदि आचार्य या उपाध्याय बाहर से उपाश्रय में आवें तो उनके पाँव पोंछकर साफ करना, उनके प्रस्रवण अर्थात् मल-मूत्र आदि का यतनापूर्वक भूमि पर त्याग करना, यथाशक्ति उनकी वैयावृत्य करना, उपाश्रय के भीतर उनके साथ रहना, उपाश्रय से बाहर जाने पर उनके साथ जाना आदि।

सप्तम उद्देशक में साधु-साध्वियों के आचार की भिन्नता, पदवी प्रदान करने का समुचित समय आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

### गच्छाचार

'गच्छाचार' सातवाँ प्रकीर्णक है। प्रकीर्णक का अर्थ होता है- विविध। 'नन्दीसूत्र' में मलयगिरि ने लिखा है कि तीर्थङ्कर द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते हैं। इनकी संख्या १४००० (चौदह हजार) कही गयी है, किन्तु वर्तमान में इनकी संख्या मुख्यतया १० (दस) मानी जाती है। लेकिन संख्या को लेकर विद्वानों में मतभेद देखा जाता है। कोई 'मरणसमाधि' और 'गच्छाचार' के स्थान पर 'चन्द्रवेध्यक' और 'वीरस्तव' को गिनते हैं तो कोई 'देवेन्द्रस्तव' और 'वीरस्तव' को एक कर देते हैं तथा संस्तारक को नहीं गिनते, किन्तु इनके स्थान पर 'गच्छाचार' और 'मरणसमाधि' का उल्लेख करते हैं।<sup>६६</sup>

‘गच्छाचार’ में १३७ गाथाएं हैं जो ‘महानिशीथ’, ‘बृहत्कल्प’ व ‘व्यवहारसूत्रों’ पर आधारित हैं।<sup>६७</sup> विमलसूरि के शिष्य विजयमलगणि ने इस पर टीका लिखी है। प्रारम्भ में भगवान् महावीर को नमस्कार कर असदाचारी गच्छ और सदाचारी गच्छ में रहने के क्या फल होते हैं इसका वर्णन है। आध्यात्मिक साधना के लिए श्रमण को जीवनपर्यन्त गच्छ में ही रहने पर जोर दिया गया है। तत्पश्चात् गुरु-शिष्य के कर्तव्यों को बताते हुए कहा गया है कि जो गुरु शिष्य के द्वारा श्रमणाचार के विरुद्ध कार्य करने पर भी प्रायश्चित्त आदि देकर उसका शुद्धिकरण नहीं करता, शिष्य को हितमार्ग पर नहीं लगाता वह गुरु शिष्य के लिए शत्रु के समान है। इसी प्रकार यदि गुरु साधना के मार्ग से च्युत होकर असदमार्ग की ओर जाता है तो शिष्य का कर्तव्य है कि वह उन्हें सन्मार्ग अर्थात् धर्ममार्ग की ओर बढ़ाये, यदि वह नहीं बढ़ाता है तो वह शिष्य भी शत्रु के समान है।<sup>६८</sup> तत्पश्चात् असद्गुरु के लक्षणों का निरूपण किया गया है। गुरु आचार की प्रतिमूर्ति समझा जाता है, किन्तु कुछ भ्रष्टाचारी आचार्य, भ्रष्टाचारियों की अपेक्षा करने वाले आचार्य तथा उन्मार्ग स्थित आचार्य, ये तीनों मोक्षमार्ग का विनाश करनेवाले होते हैं।<sup>६९</sup>

गच्छ के महत्त्व को बतलाते हुए लिखा गया है कि गच्छ महान प्रभावशाली होता है। उसमें रहने से महानिर्जरा होती है तथा सारणा, वारणा, प्रेरणा आदि से नये दोषों की उत्पत्ति रुक जाती है।<sup>७०</sup> जिस गच्छ में दान, शील, तप और भावना आदि चार धर्मों का आचरण करनेवाले गीतार्थ मुनि अधिक हों वह सुगच्छ है।<sup>७१</sup>

श्रमणियों को गच्छ में किस प्रकार रहना चाहिए? किस प्रकार सोना चाहिए आदि मर्यादों का भी वर्णन मिलता है।<sup>७२</sup>

### चन्द्रवेध्यक

‘चन्द्रवेध्यक’ का अर्थ होता है- राधावेद। मृत्यु के समय जरा भी प्रमाद का आचरण करने वाला सर्वसाधन से सम्पन्न साधक उसी प्रकार सिद्धि को नहीं प्राप्त कर पाता है जिस प्रकार अन्तिम समय में जरा भी प्रमाद करनेवाला वेधक राधावेद का वेधन नहीं कर पाता है। अतः आत्मारथी को सदैव अप्रमादी रहना चाहिए।<sup>७३</sup>

प्रस्तुत ग्रन्थ में निम्नलिखित सात विषयों को विस्तृत रूप में विवेचित किया गया है— विनय, आचार्यगुण, शिष्यगुण, विनयनिग्रहगुण, ज्ञानगुण, चरणगुण एवं मरणगुण।<sup>७४</sup>

### मूलाचार

‘मूलाचार’ के रचयिता वट्टकेराचार्य माने जाते हैं। कुछ विद्वानों का यह मानना

है कि 'मूलाचार' कुन्दकुन्दाचार्य की कृति है। 'मूलाचार' पर लिखी गई वसुनन्दि रचित 'आचारवृत्ति' नामक टीका से यह तथ्य प्रमाणित होता है। जैसा कि ग्रन्थ के समापन पर उन्होंने लिखा है- 'इति मूलाचारविवृत्तौ द्वादशोऽध्यायः इति कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृत्तिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्री श्रमणस्या' इसके टीकाकारों में श्री वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य तथा मेघचन्द्राचार्य का नाम आता है।<sup>७५</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ में बारह अधिकार तथा १२५२ गाथाएँ हैं। इसके चौथे अधिकार अर्थात् सामाचाराधिकार में श्रमणों को एकलविहार करने का निषेध, गुरु से अन्य धर्मक्षेत्रों में जाने की आज्ञा माँगना, एकल विहारी कौन हो सकता है? शिक्षार्थी को किस प्रकार के गुरुकुल में निवास करना चाहिए? गुरु के लक्षण, शरणागत साधु की आचार्य द्वारा परीक्षा, योग्य तथा अयोग्य शिक्षार्थी का क्रमशः आश्रय तथा परिहार करना, भावशुद्धि और विनयपूर्वक अध्ययन करना आदि विषय सम्मिलित हैं। साथ ही परगण में गुरु, बाल, वृद्धादि मुनियों की वैयावृत्य करनी चाहिए तथा आर्यिकाओं का गणधर कैसा होना चाहिए तथा उनकी चर्यापद्धति कैसी होनी चाहिए इसका निरूपण किया गया है।

### भगवती आराधना

इसके रचनाकार आचार्य शिवार्य हैं। 'भगवती आराधना' का यथार्थ नाम आराधना ही है, क्योंकि इसके टीकाकार श्री अपराजित सूरि ने अपनी टीका के अन्त में उसका नाम आराधना टीका ही दिया है।<sup>७६</sup> भगवती तो उसके प्रति आदरभाव व्यक्त करने के लिए प्रयोग किया गया है। इस ग्रन्थ पर अपराजितसूरि ने टीका लिखी जो 'विजयोदया टीका' के नाम से जानी जाती है। दूसरी टीका 'मूलाराधना दर्पण' है, जो प्रसिद्ध ग्रन्थकार पं० आशाधर द्वारा रचित है। इसकी गाथा संख्या में विभिन्नता पायी जाती है। किसी में २१७० है तो किसी में २१६४।<sup>७७</sup> लेकिन देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने अपनी पुस्तक में २१६६ गाथाओं का वर्णन किया है।<sup>७८</sup> भगवती आराधना के आधार पर ही आचार्य देवसेन ने 'आराधनासार' ग्रन्थ की रचना की है।<sup>७९</sup>

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य के छत्तीस गुणों<sup>८०</sup> का विस्तृत विवेचन किया गया है। आचारवत्त्व आदि आठ, दस प्रकार के स्थितिकल्प, बारह तप, छः आवश्यक आदि छत्तीस गुण हैं। साथ ही उत्तराधिकारी आचार्य की नियुक्ति-विधि, नवनि्युक्त आचार्य को उद्बोधन आदि विषयों की भी चर्चा की गयी है।

### बौद्ध साहित्य

बौद्ध परम्परा का साहित्य बहुत ही विशाल तथा व्यापक है। बौद्ध साहित्य केवल

भारतीय भाषाओं में उपलब्ध नहीं होते, बल्कि विभिन्न विदेशी भाषाओं में भी विपुल बौद्ध साहित्य उपलब्ध है। यद्यपि बुद्ध ने अपने जीवनकाल में न तो किसी ग्रन्थ की रचना की और न करवायी ही, क्योंकि वे एक सच्चे धर्मोपदेशक थे और मानव को सही मार्ग दिखाना ही उनका एकमात्र उद्देश्य था। तत्कालीन समाज की भाषा अर्द्धमागधी और पालि थी। बुद्ध अपना उपदेश पालि भाषा में किया करते थे। बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उनके प्रमुख शिष्यों ने उनके वचनों का संगायन करना आवश्यक समझा। इस क्षेत्र में प्रथम प्रयास ई०पू० ४८० में महाकाश्यप की अध्यक्षता में एक धर्मसंगीति बुलायी गयी जो बुद्धपरिनिर्वाण के चौथे मास में सम्पन्न हुई।<sup>८१</sup> इसमें उपालि ने विनय-सम्बन्धी तथा आनन्द ने धर्म-सम्बन्धी पाठ किया।<sup>८२</sup> उस सभा में ५०० भिक्षुओं ने भाग लिया था। संगायन का दूसरा चरण भगवान् के परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद दूसरी धर्मसंगीति के रूप में वैशाली में रखा गया।<sup>८३</sup> इसमें ७०० भिक्षुओं ने भाग लिया। यह धर्मसंगीति आठ महीने तक चली। लेकिन युवानच्यांग के अनुसार यह सभा बुद्ध परिनिर्वाण के ११० वर्ष बाद हुई।<sup>८४</sup> यह सभा महास्थविर रैवत की अध्यक्षता में विनय से सम्बन्धित कुछ विवादग्रस्त प्रश्नों के निर्णय के लिए बुलायी गयी थी। वैशाली संगीति के बाद तीसरी संगीति सम्राट अशोक के समय बुलायी गयी जो बुद्ध परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में सम्पन्न हुई।<sup>८५</sup> यह सभा बौद्ध विद्वान् मोग्गालिपुत्र के सभापतित्व में सम्पन्न हुई। उस समय तक बौद्ध संघ १८ सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था और मोग्गालिपुत्र ने मिथ्यावादी १८ बौद्ध सम्प्रदायों का निराकरण करते हुए 'कथावत्यु' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसे 'अभिधम्मपिटक' में स्थान मिला।<sup>८६</sup> यह सभा नौ महीने तक चली थी। बौद्ध धर्म की चौथी संगीति सम्राट कनिष्क के समय हुई जिसमें कनिष्क ने बौद्ध संघ के अट्ठारह सम्प्रदायों में व्याप्त आपसी भेद को मिटाने का प्रयत्न किया था। साथ ही उस सभा में त्रिपिटक पर टीकाएँ भी लिखी गयीं। कनिष्क के समय ही सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक का संस्कृत अनुवाद किया गया। इस प्रकार चार संगीतियों के माध्यम से बौद्ध साहित्य का संकलन किया गया है।

जिस प्रकार वैदिक परम्परा के मूल साहित्य वेद हैं, जैन परम्परा के मूल साहित्य द्वादशांगी हैं, उसी प्रकार बौद्ध परम्परा के मूल साहित्य त्रिपिटक हैं जिनके नाम हैं— 'विनयपिटक', 'सुत्तपिटक' और 'अभिधम्मपिटक'। भगवान् बुद्ध की सम्पूर्ण वाणी इन्हीं तीनों पिटकों में संकलित है जिनका विभाजन इस प्रकार किया गया है—

- (१) 'विनयपिटक' को तीन विभागों में बांटा गया है— 'दूतविभंग', 'खंदक', 'परिवार'।
- (२) 'सुत्तपिटक' पाँच भागों में विभक्त है— 'दीघनिकाय', 'मज्झिमनिकाय', 'संयुत्तनिकाय', 'अंगुत्तरनिकाय' और 'खुद्दकनिकाय'। पुनः 'खुद्दकनिकाय' के पन्द्रह विभाग किये

गये हैं, जिनमें 'खुद्दकपाठ', 'धम्मपाठ', 'उदान', 'इतिवुत्तक', 'सुत्तनिपात', 'विमानवत्थु', 'पैतवत्थु', 'थेरीगाथा', 'थेरीगाथा', 'जातक', 'निदेश', 'पटिसम्भिधा', 'अवदान', 'बुद्धवंस', 'धम्मपिटक' आदि ग्रन्थ आते हैं।

- (३) 'अभिधम्मपिटक' जो सात उपविभागों में विभक्त है, यथा— 'धम्मसंगणी', 'विभंग', 'धातुकथा', 'पुग्गलपञ्जति', 'कथावत्थु', 'यमक' और 'पट्टान'। भगवान् बुद्ध के सम्पूर्ण उपदेश इन तीनों भागों में विभाजित-साहित्य में आ जाते हैं।

### शिक्षा से सम्बन्धित ग्रन्थ

#### विनयपिटक

'विनयपिटक' बौद्ध साहित्य में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसे बौद्ध संघ का संविधान कहते हैं क्योंकि इसमें बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के आचार और अनुशासन से सम्बन्धित नियम एकत्रित किये गये हैं। 'विनयपिटक' के संकलन के विषय में विद्वानों में मतभेद देखने को मिलता है। जैसा कि 'विनयपिटक' में महाकाश्यप ने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा है— 'आयुष्मानों! आज हमारे सामने अधर्म बढ़ रहा है, धर्म का हास हो रहा है। अविनय बढ़ रहा है, विनय का हास हो रहा है। आओ आयुष्मानों! हम धर्म और विनय का संगायन करें।' <sup>८७</sup> इससे पता चलता है कि 'विनयपिटक' का संकलन प्रथम धर्मसंगीति में 'सुत्तपिटक' के समय हुआ, किन्तु कुछ पश्चिमी विद्वानों, जैसे- कर्न, पूसां आदि ने 'विनयपिटक' को 'सुत्तपिटक' से पूर्व तथा कुछ ने उसके बाद का संकलन माना है, परन्तु भारतीय विद्वान् भरत सिंह उपाध्याय ने दोनों की शैली की प्राचीनता के आधार पर दोनों को समकालीन माना है। <sup>८८</sup> चीनी भाषा में इस ग्रन्थ के छः संस्करण मिलते हैं। <sup>८९</sup> इसके अतिरिक्त जापानी, सिंघली, चीनी, तिब्बती, बर्मी, स्यामी आदि भाषाओं में भी त्रिपिटक की टीकाएँ मिलती हैं। हिन्दी भाषा में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'विनयपिटक' का अनुवाद किया है।

'विनयपिटक' तीन भागों में विभक्त है— 'सुत्तविभंग', 'खन्दक' और 'परिवार'। पुनः सुत्तविभंग को दो भागों में विभाजित किया गया है— 'पाराजिक' और 'पाचित्तिय'। किन्तु भिक्षु और भिक्षुणी संघों को उद्देश्य में रखकर उसे 'महाविभंग' यानी भिक्षु विभंग और भिक्षुणी विभंग जिसे भिक्खुपातिमोक्ख तथा भिक्खुणीपातिमोक्ख भी कहते हैं के रूप में विश्लेषित किया गया है। पातिमोक्ख 'विनयपिटक' का मुख्य सार है। भिक्षुओं और भिक्षुणियों द्वारा किये जानेवाले अपराध उनकी गम्भीरता के अनुसार विभाजित किये गये हैं। सबसे बुरे पाप पाराजिक शीर्षक के अन्तर्गत आते हैं, जिसका दण्ड निर्धारित किया गया था— संघ से निष्कासन। ब्रह्मचर्य का उल्लंघन, चोरी, हत्या, चमत्कार करने

की अपनी शक्ति का बखान आदि दोषों पर संघ से निष्कासन का दण्ड दिया जाता था। संघादिशेष अर्थात् संघावशेष शीर्षक के अन्तर्गत जो पापों की सूची दी गयी है उसके अनुसार पाप करनेवाले भिक्षुओं को थोड़े समय के लिए निष्कासित किया जाता था। यदि कम से कम २० भिक्षु उन्हें संघ में फिर से लेने योग्य समझते थे तो उन्हें संघ में ले लिया जाता था।<sup>९०</sup> इसमें तेरह पापों का उल्लेख किया गया है। 'भिक्षुपातिमोक्ख' के पाँचवें खण्ड में जिसे पाचित्तिय नाम से अभिहित किया गया है, ९२ (बानबे) अपराधों को बताया गया है, यथा- कीटकों की हिंसा करनेवाले अविचारपूर्ण कार्य, बुद्ध के उपदेश और अनुशासन के प्रति अनादर, बुद्ध का अनुशासन न मानना तथा विहार में विस्तर, आसन, चीवर आदि का संग्रह करना आदि। इसके अन्तिम भाग में संघ के अन्दर हुए झगड़े को दूर करने के उपायों पर विचार किया गया है। पटिदेसनीय के चार नियम और सेखिय के ७५ नियमों पर भी विस्तार से विचार किया गया है। भिक्षुणी विभंग में सात प्रकार के अपराधों का वर्णन है जिसमें पाराजिका के प्रथम भाग में भिक्षुपातिमोक्ख में बनाये गये नियमों के अतिरिक्त चार और नियम दिये गये हैं। संघादिसेस में भिक्षुणियों के लिए सत्रह दोष बताये गये हैं। पाचित्तिय शीर्षक के अन्तर्गत भिक्षुणियों के लिए एक सौ छियासठ अपराधों का वर्णन है।

‘विनयपिटक’ का दूसरा भाग खन्धक भी दो भागों में विभक्त है— ‘महावग्ग’ और ‘चुल्लवग्ग’। ‘महावग्ग’ में इस बात को बताया गया है कि भिक्षु को संघ में किस प्रकार जीवनयापन करना चाहिए। इसमें दस खन्दक हैं। पहले खन्दक में भगवान् बुद्ध के बुद्धत्व प्राप्ति से लेकर वाराणसी में धर्मचक्रप्रवर्तन आदि का वर्णन किया गया है। साथ ही उपाध्याय, आचार्य के कर्तव्य, शिष्य के कर्तव्य को बताते हुए कहा गया है कि शिष्य को उपाध्याय के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए। समय से उठकर, जूता छोड़, उत्तरासंग को एक कन्धे पर रख दातून देनी चाहिए, मुख धोने के लिए जल देना चाहिए .....।<sup>९१</sup> इसी प्रकार उपाध्याय के भी कर्तव्य को प्रकाशित करते हुए कहा गया है— उपाध्याय को शिष्य के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए, यथा— उपाध्याय को शिष्य पर कृपादृष्टि रखनी चाहिए, शिष्य के लिए उपदेश देना चाहिए, पात्र देना चाहिए, आदि।<sup>९२</sup> यदि शिष्य बिमार पड़ जाता है तो उपाध्याय को भी उसकी सेवा उसी प्रकार करनी चाहिए जिस प्रकार शिष्य उपाध्याय के प्रति करता है।<sup>९३</sup> इसके अतिरिक्त भिक्षु और भिक्षुणी संघों के जीवन एवं कार्य के संचालन-विधि को बहुत ही अच्छी तरह प्रकाशित किया गया है। प्रव्रज्या-विधि, उपसम्पदा-विधि अर्थात् भिक्षु संघ में प्रवेश की विधि, उपसोथ के नियम, वर्षावास के नियम, संघ में फूट पड़ने पर उसमें एकता लाने

के उपाय आदि विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है। 'चुल्लवग्ग' में भी शिक्षा से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें कुल बारह खन्दक हैं जिसमें दसवें खन्दक में विशेष रूप से भिक्षुणी जीवन से सम्बन्धित नियमों का विवरण दिया गया है।

'विनयपिटक' का अन्तिम भाग 'परिवार' है जो प्रश्नोत्तर के रूप में निबद्ध है। इसमें १९ परिच्छेद हैं, जिनमें 'अभिधम्मपिटक' की शैली पर 'विनयपिटक' के विषय की पुनरावृत्ति की गयी है।<sup>१४</sup> विंटरनिज ने भी कहा है कि जो सम्बन्ध वेद की अनुक्रमणी और परिशिष्ट का वेद से है वही सम्बन्ध 'परिवार' का 'विनयपिटक' से है।<sup>१५</sup>

### दीर्घनिकाय

दीर्घनिकाय 'सुत्तपिटक' का पहला उप-विभाग है। दीर्घ आकारों के सुत्तों (सूत्रों) का संग्रह होने के कारण इसे दीर्घनिकाय कहा गया है। इसे 'दीघागम' या 'दीघसङ्ग्रह' भी कहते हैं। आकार की दृष्टि से बुद्ध के जो उपदेश बड़े हैं, वे इस निकाय में संग्रहीत हैं। यह ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है, यथा- (१) सीलक्खन्ध, (२) महावग्ग और (३) पाटिकवग्ग। पं० राहुल सांकृत्यायन ने इस ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद किया है। इस ग्रन्थ में कुल मिलाकर चौतीस सुत्त हैं जिनमें सीलक्खन्ध में १-१२ सुत्त, महावग्ग में १३-२३ और पाटिकवग्ग में २४-३४। सीलक्खन्ध की कुछ पंक्तियाँ गाथाओं में हैं, शेष सभी गद्य में हैं। इसी प्रकार महावग्ग और पाटिकवग्ग में अधिकांश सुत्त गद्य-पद्य मिश्रित हैं।

दीर्घनिकाय के सीलक्खन्धवग्ग के प्रथम सुत्त (ब्रह्मजालसुत्त) में अनेक विद्याओं यथा- वास्तुविद्या, क्षेत्रविद्या, मणि-लक्षण, वस्त्र-लक्षण आदि का वर्णन देखने को मिलता है। नवम सुत्त में आत्मा और लोक के आदि और अन्त सम्बन्धी प्रश्नों को उठाया तथा शील, समाधि और प्रज्ञा की साधना पर बल दिया गया है।

### मज्झिमनिकाय

'मज्झिमनिकाय' का सभी निकायों में अपना अनुपम स्थान है। इसमें १४वें सुत्त को छोड़कर प्रत्येक भाग में दस-दस सुत्त हैं, १४वें में १२ सुत्त हैं। चूँकि इसमें मध्यम आकार के सुत्तों का संग्रह है इसीलिए इसका नाम 'मज्झिमनिकाय' पड़ा। पं० राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी में अनुवाद कर इस निकाय को 'बुद्धवचनमृत' नाम से विभूषित किया है। यह पन्द्रह अध्यायों में विभक्त है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत १५२ सुत्त संग्रहीत हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग के आर्कखेव्यसुत्त में भिक्षुओं को शील सम्पन्न तथा प्रातिमोक्षरूपी संयम से संयमित होकर विहार करने का निर्देश दिया गया है।<sup>९६</sup> चौथे भाग के महा-अस्सुर-सुत्त तथा चूल-अस्सुर-सुत्त में भिक्षुओं के कर्तव्यों को प्रकाशित किया गया है।<sup>९७</sup> पाँचवें भाग के महावेदल्लसुत्त में वेदना, संज्ञा, शील, समाधि और प्रज्ञा के महत्त्व को बताया गया है। सातवें भाग के चूलमालुक्य सुत्त में आध्यात्मिकता के प्रति उदासीनता दिखायी गयी है। चूलमालुक्य द्वारा पूछे गये लोक शाश्वत है या अशाश्वत आदि दस प्रश्नों को अव्याकृत बताते हुए भगवान् ने इन सब प्रश्नों को वैराग्य, निरोध, शान्ति, परमज्ञान तथा निर्वाण आदि के लिए अनावश्यक बताया है। किन्तु प्रश्न उठता है कि सब कुछ अव्याकृत है तो व्याकृत क्या है? बुद्ध ने कहा मैंने व्याकृत किया है दुःख के हेतु को, दुःख के निरोध को तथा दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद को।<sup>९८</sup>

### खुद्दकपाठ

‘खुद्दकपाठ’ ‘खुद्दकनिकाय’ का एक भाग है। ‘खुद्दकनिकाय’ में छोटे-छोटे पन्द्रह ग्रन्थों का संकलन है। लेकिन इनकी भाषा-शैली में समानता नहीं है। खुद्दकपाठ ‘खुद्दकनिकाय’ का पहला वर्गीकरण है, जिसमें छोटे-छोटे नौ पाठों का संकलन है और जो ‘सुत्तपिटक’ तथा ‘विनयपिटक’ के कुछ विषयों को लेकर संग्रहीत किया गया है। यह संकलन शिक्षा प्राप्त करनेवाले प्रारम्भिक स्तर के विद्यार्थियों के लिए किया गया है। यह ग्रन्थ नागरी लिपि में अनुवादित है जिसका सम्पादन पं० राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौसल्यायन एवं जगदीश काश्यप आदि विद्वानों ने किया है। भिक्षुधर्मरत्न द्वारा अनुवादित हिन्दी भाषा में भी यह ग्रन्थ प्राप्त होता है।

‘खुद्दकपाठ’ के प्रथम पाठ में सर्वप्रथम त्रिशरण की शिक्षा दी गयी है। इस त्रिशरण को तीन बार बोलने का विधान है। दूसरे पाठ में विद्यार्थियों को सदाचार-सम्बन्धी नियमों को बताते हुए दस बातों से विरत रहने का निर्देश दिया गया है, यथा— जीव हिंसा, चोरी, व्यभिचार, असत्य भाषण, मद्यपान, असमय भोजन, नृत्य-गीत, माला, गन्ध विलेपन, ऊँची और बड़ी शय्या का उपयोग, सोने-चाँदी आदि का ग्रहण इत्यादि।<sup>९९</sup> तीसरे पाठ में केश, रोम, नख आदि शरीर के बत्तीस अंगों का वर्णन किया गया है। चौथे पाठ में कुमार विद्यार्थियों के लिए कुछ प्रश्नों को बताया गया जिसके द्वारा वे बौद्ध शिक्षा के प्रारम्भिक बात को सीखते थे, यथा— एक क्या? दो क्या है, तीन क्या है? आदि। तत्पश्चात् पाँच पाठों में गृहस्थ के दैनिक नियमों को बताया गया है।



### जातक

‘जातक’ ‘खुदकनिकाय’ का दसवाँ भाग है। जातक में भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म से सम्बन्धित कथाएँ संकलित हैं। ‘जातक’ शब्द का अर्थ ही होता है— जात अर्थात् जन्म-सम्बन्धी। ‘जातकों’ की कितनी संख्या है, इस विषय में अभी विद्वत्जन किसी निश्चित लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाये हैं। लंका, वर्मा और स्याम में प्रचलित परम्परा के अनुसार ‘जातक’ ५५० हैं, किन्तु भारतीय विद्वान् डॉ० भरत सिंह उपाध्याय का मानना है कि वर्तमान में ५४७ जातक कहानियाँ पायी जाती हैं।<sup>१००</sup> फिर भी यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि जातकों की निश्चित संख्या क्या है? क्योंकि कई जातक कथाएँ ‘सुत्तपिटक’, ‘विनयपिटक’ तथा अन्य पालि ग्रन्थों में भी पायी गयी हैं।<sup>१०१</sup> भदन्त आनन्द कौसल्यायन का कहना है कि यदि कुल कहानियाँ गिनी जाएँ तो जातक में करीब तीन हजार कहानियाँ पायी जाती हैं।<sup>१०२</sup> ‘जातकों’ के संकलन के विषय में रायस् डेविस का कहना है कि इनका संकलन मध्य देश में प्राचीन जन-कथाओं के आधार पर हुआ है।<sup>१०३</sup> ‘जातक’ मूलतः पालि भाषा में निबद्ध है, किन्तु अन्य भाषाओं में भी इसका अनुवाद हुआ है, यथा- भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने जातक का हिन्दी में अनुवाद किया है। ईशानचन्द्र घोष ने बंगला-भाषा में अनुवाद किया है। अंग्रेजी में कांबल द्वारा सम्पादित अनुवाद प्राप्त होता है। इसी प्रकार रोमन, सिंहली, यूरोपीय आदि भाषाओं में भी अनुवादित किया गया है।<sup>१०४</sup>

प्रत्येक ‘जातक’ को पाँच भागों में बांटा गया है— (क) पच्चुप्पन्नवत्थु, (ख) अतीतवत्थु, (ग) गाथा, (घ) वैयाकरण या अत्यवण्णना, (च) समोधन।

‘जातक’ केवल कहानियों का संग्रहमात्र नहीं है बल्कि इसमें बुद्धकालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि विषयों का भी समावेश है। जातक के अध्ययन से तत्कालीन शिक्षा पर प्रकाश पड़ता है, यथा - ‘दरीमुख जातक’ में मगध के राजकुमारों की तक्षशिला में शिक्षा का वर्णन है। इस में शिक्षा के विधान, पाठ्यविषय, अध्ययन विषय, शिक्षक तथा शिक्षार्थी के व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक पक्ष, निवासस्थान, भोजन, अनुशासन आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।

### मिलिन्दप्रश्न

‘मिलिन्दप्रश्न’ पूर्व बुद्धघोष युग (१०० ई०पू० से ४०० ई० तक) का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मिलिन्द शब्द ‘मेनाण्डर’ नाम का ही रूपान्तरण है। मेनाण्डर द्वारा पूछे गये प्रश्नों का नागसेन द्वारा जो उत्तर दिया गया, उन्हीं संवादों को ‘मिलिन्दप्रश्न’ में संकलित किया गया है। ‘मिलिन्दप्रश्न’ की रचनाकाल के विषय में विद्वानों के विचारों

में ऐक्य नहीं है। कुछ विद्वान् ई०पू० १५५ वर्ष मानते हैं तो कुछ ई०पू० ९९ वर्ष। फिर भी विद्वानों का मानना है कि 'मिलिन्दप्रश्न' की रचना ईस्वी सन् के पहले ही हो गयी थी।<sup>१०५</sup> 'मिलिन्दप्रश्न' छ अध्यायों में विभक्त है—(१) बाहिरकथा, (२) लक्खणपन्हे, (३) विमत्तिच्छेदनपन्हे, (४) मेण्डकपन्हे, (५) अनुमानपन्हे, (६) ओपम्मकथाहं। कुछ संस्करणों में धुतङ्ग को एक अलग प्रकरण के रूप में उद्धरित किया है।

प्रथम अध्याय में नागसेन एवं मिलिन्द के पूर्वजन्म की कथाओं का वर्णन है। तत्पश्चात् नागसेन की शिक्षा प्राप्ति का वर्णन है। कहा गया है कि नागसेन ने तीनों वेदों, इतिहासों और लोकायतशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर स्थविर रोहण से बुद्धशासन सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त की एवं बौद्धधर्म में प्रवेश किया। तत्पश्चात् उन्होंने वत्तनिय सेनासन के स्थविर अस्सगुप्त (अश्वगुप्त) से शिक्षा प्राप्त कर पाटलिपुत्र में धर्मरक्षित से बौद्ध शिक्षा का अध्ययन किया।<sup>१०६</sup> नागसेन की शिक्षा के विषय में लिखा गया है कि उन्होंने निघण्टु, तीनों वेद, इतिहास, व्याकरण, लोकायत आदि शास्त्रों का अध्ययन अपनी अल्पावस्था में ही कर लिया था।<sup>१०७</sup> इसी प्रकार मिलिन्द की शिक्षा के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे श्रुति, स्मृति, सांख्य-योग, न्याय (नीति), वैशेषिक आदि उन्नीस विषयों के ज्ञाता थे।<sup>१०८</sup> नागसेन एवं मिलिन्द की शिक्षाओं से तत्कालीन समाज में प्रचलित शिक्षा के विषयों का पता चलता है।

मेण्डकप्रश्न परिच्छेद में शिष्य के प्रति आचार्य के पच्चीस प्रकार के कर्तव्यों को बताया गया है। यथा- शिष्य का पूरा ध्यान रखना चाहिए, कर्तव्य और अकर्तव्य का उपदेश देते रहना चाहिए, शिक्षार्थी ने क्या पाया, क्या नहीं पाया, इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए, शिक्षा बिना किसी अन्तराल से देना चाहिए, पुत्रवत् स्नेह करना चाहिए, आदि।<sup>१०९</sup> शिष्य के लक्षण पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है, जो अरण्य, वृक्षमूल तथा शून्यागार में रहते हैं, अच्छी बातों में आगे रहते हैं, सदाचारी होते हैं, विवेकसम्पन्न होते हैं तथा शिक्षा पदों को पूरा करनेवाले होते हैं वे विनीत कहलाते हैं इत्यादि।<sup>११०</sup>

### ललितविस्तर

'ललितविस्तर' बौद्ध-संस्कृति का उत्कृष्टतम महाकोष है जो मिश्रित संस्कृत-भाषा में निबद्ध है। इसे 'वेपूल्यसूत्र' या 'महावेपूल्यसूत्र' भी कहा गया है। यह ग्रन्थ सत्ताईस अध्यायों में विभक्त है जिसमें बुद्ध के जन्म से प्रथम उपदेश तक का जीवन दर्शन निबद्ध है। इसमें तत्कालीन लोकजीवन से सम्बन्धित विभिन्न सन्दर्भों की झलकियाँ देखने को मिलती हैं। शान्तिभिक्षु शास्त्री ने इस ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद भी किया है।

शैक्षिक अध्ययन की दृष्टि से इस ग्रन्थ के सत्ताईस अध्यायों में से दो अध्याय महत्वपूर्ण हैं— दसवाँ और बारहवाँ। दसवें अध्याय में वर्णन है कि कुमार बोधिसत्त्व जब आठ वर्ष के हो गये तब उन्हें मांगलिक और औत्सविक परिवेश के साथ लिपिशाला में प्रवेश कराया गया जहाँ दारकाचार्य ने बहुकल्पकोटि शास्त्रों की शिक्षा दी, जिसमें अ, आ, ई आदि वर्णमाला, ककहारा, संख्या-गणना, शिल्प, योग आदि शास्त्रों का भी ज्ञान कराया।

बारहवें अध्याय में बोधिसत्त्व के विवाह की कथा के क्रम में उल्लेख हुआ है कि बोधिसत्त्व केवल चौसठ लिपियों के ही ज्ञाता नहीं थे, अपितु सौ करोड़ से भी आगे की संख्या की गणना जानते थे। तत्पश्चात् छानबे कलाओं<sup>१११</sup> का उल्लेख किया गया है।

### सन्दर्भ

१. The sixth century B.C. was marked by two great religious movements in India, Jainism and Buddhism. Both these were reformation movements to purify Hinduism of some of its evils which had greatly degenerated it. Like Luther and Calvin, Mahāvīra and Gautam Buddha protested against the corruptions that had crept into Hinduism. Jainism and Buddhism are thus protestant Hinduism as Lutherianism and Calvinism are protestant Christianity. *Early History of India*, N.N. Ghosh, p.44.
२. *Indian Sect of the Jainas* : John George Buhler, p. 22.
३. उद्धृत- 'दर्शन प्रकाश', श्री धनमुनि प्रथम, पृ०-४.
४. केसरी समाचारपत्र, उद्धृत- 'दर्शन प्रकाश', धनमुनि प्रथम, पृ० ५.
५. उद्धृत, वही, पृ० ४.
६. *Mohanjodaro and the Indus Civilization*, pp. 52-53.
७. *Modern View*, August 1932, pp. 155-160.
८. 'आजकल', मार्च १९६२, पृ०-८
९. ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहितं।  
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥ 'ऋग्वेद', १०/१६६/१
१०. शतयाजं स यजते, नैन दुन्वन्त्यग्रयः जिन्वन्ति विश्वे।  
त देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति॥ 'अथर्ववेद', ९/४/१८
११. 'ऋषभदेव : एक परिशीलन', देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ०-१४८
१२. आसा हत्थी गावो गहिआई रज्जसंगहनिमित्तं।  
धितूण एवमाई चउव्विहं संगहं कुणइ॥ 'आवश्यकनिर्युति', २०१.

१३. उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेधसा।  
क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षत्रत्राणादिभिर्गुणैः॥  
क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदाभवन्।  
वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपाशुपाल्योपजीविताः॥ 'आदिपुराण', १६/१८३-१८४
१४. 'कल्पसूत्र'- ६/१४९-१६९
१५. 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज', पृ० ६-७.
१६. 'आगम और त्रिपिटक - एक अनुशीलन', पृ० १६५.
१७. बुद्धो ति नेतं मातरा कतं, न पितरा कतं, न भातरा कतं, न भगिनिया कतं, न मित्तामच्चेहि कतं, न जातिसालोहितेहि कतं, न समणब्रह्मणेहि कतं, न देवताहि कतं। विमोक्खन्तिकमेतं बुद्धानं भगवन्तानं बोधिया मूले सह सब्बञ्जुतजाणस्स पटिलाभा सच्छिका षज्जति यदिदं बुद्धो ति-तं बुद्धं।  
- 'खुद्दकनिकाय', भाग ४ (खण्ड १), 'महानिदेसपालि'- १/१६/१९२, पृ०-३९९.
१८. सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिहित्तव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे।  
- 'आचारांगसूत्र' (आत्मारामजी), प्रथम श्रुतस्कन्ध, चतु० अ०, ३०-१, पृ०-३७०.
१९. 'आवश्यकसूत्र', सूत्र ३.
२०. 'जैन-धर्म में अहिंसा', डॉ० बी०एन० सिन्हा, पृ०-१८६.
२१. वही, पृ०-१८६.
२२. वही, पृ०-१८७.
२३. 'तत्त्वार्थसूत्र', ५/२९.
२४. अनेकान्तात्मकार्यकथनं स्याद्वादः। 'न्यायकुमकदचन्द्र', भाग-२, पृ०-६८६
२५. 'अष्टसहस्री', पृ०-२८७
२६. 'प्रवचनसार टीका', २/२५.
२७. 'तत्त्वार्थराजवार्तिक', पृ० २९४.
२८. प्रतीत्यशब्दो ल्यबन्त प्राप्तावपेक्षायां वर्तते। पदि प्रादुर्भावे इति समुत्पादशब्दः प्रादुर्भावेऽर्थे वर्तते। ततश्च हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः।  
'बौद्ध दर्शन मीमांसा', पृ०-६०.
२९. अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादयमुत्पद्यते इति इदं प्रत्ययार्थः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः।  
माध्यमिक वृत्ति, पृ०-९, उद्धृत- वही, पृ० ६०.
३०. स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशांगस्त्रिकाण्डकः।  
पूर्वापरान्तयोर्द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरिणः॥ 'अभिधम्मकोश', ३/२०

३१. बीजस्य सतो यथांकुरो न च यो बीजः स चैवांकुरः।  
न च अन्यततो न चैव तदेवमनुच्छेद अशाश्वत-धर्मता॥  
- 'ललितविस्तर', उद्धृत- 'विश्वदर्शन की रूपरेखा', पृ०-१५२.
३२. यो मे अयं अत्ता वदो वेदेय्यो तत्र तत्र कल्याणपापकानं कम्मनं विपाकं पटिसंवेदेति  
सो खो पन मे अयं अत्ता निच्चो ध्रुवो सस्सतो अविपरिणामधम्मो सस्सतिसमं तथेव  
ठस्सती ति। इदं वुच्चति, भिक्खवे दिट्ठिसूकं। 'मज्झिमनिकाय', भाग-१, २/१/६
३३. 'मज्झिमनिकाय', १/४/५
३४. वही, 'दीघनिकाय' (हिन्दी अनुवाद), पृ०-७३
३५. यः पश्यात्यात्मानं तस्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।  
स्नेहात् गुणेषु तृष्यति दोषांस्तिरस्कुरुते॥  
गुणगर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनमुपादन्ते।  
तेनात्माभिनिवेशो ऽवत् तात्तु संसारः॥  
आत्मनि सति पर संज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।  
अनयोः संप्रतिबन्धात् सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥ 'बोधिचर्यावतार पंजिका', पृ०-४१२
३६. 'मिलिन्दप्रश्न', २/१/१
३७. 'बौद्ध दर्शन', पं० राहुल सांकृत्यायन, पृ०-४
३८. सासिज्जइ जेण तयं सत्थं तं चाऽविसेसितं णाणं।  
आगम एव य सत्थं आगमसत्थं तु सुतणाणं॥ 'विशेषावश्यकभाष्य', ५५९.
३९. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। उपचारादाप्तवचनं चा 'स्याद्वादमंजरी', ३८.
४०. आप्तोपदेशः शब्दः, 'न्यायसूत्र', १/१/७
४१. सुय सुत्त गंथ सिद्धंत सासणे आण वयण उवदेसे  
पण्णवण आगमे या एगद्धा पज्जवासुत्ते। 'अनुयोगद्वार', ५१.
४२. तत्त्वार्थभाष्य, १/२०
४३. सर्वश्रुतात् पूर्वं क्रियते इति पूर्वाणि उत्पादपूर्वाऽदीनि चतुर्दशः। 'स्थानांगवृत्ति', १०/१.
४४. पुव्वाणं गयं पत्तं-पुव्व-सरूवं वा पुव्वगयमिदि गुणणामं।  
- 'षट्खण्डागम' (धवला टीका) वीरसेनाचार्य, ११४.
४५. आरातीयाचार्यकृताङ्गार्थप्रत्यासरूपमङ्गबाह्यम्। तत्त्वार्थराजवार्तिक, १/२०.
४६. 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास', प्रस्तावना, भाग-१, पृ०-५२.
४७. 'जैन दर्शन - मनन और मीमांसा', मुनि नथमल, पृ०-८०.
४८. 'जैन आगम साहित्य - मनन और मीमांसा', पृ०-३६.
४९. 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास', भाग-दो, पृ०-१४६.
५०. वही, पृ०-१४६.

५१. मा गलियस्स व कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो।  
कसं व दट्ठमाइण्णे पावगं परिवज्जए।। 'उत्तराध्ययन', १/१२
५२. पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मणा।  
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि।। वही, १/१७
५३. आयरियं कुवियं नच्चा पत्तिएण पसायए।  
विज्झवेज्ज पंचलिउडो वएज्ज 'न पुणो' ति या।। वही १/४१
५४. अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई।  
थम्भा कोहा पमाएणं रोगेणाऽलस्सएण या।। वही, ११/३
५५. वही, ११/१४.
५६. वही, ११/३-४
५७. 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास', भाग २, पृ०-१७९.
५८. 'उत्तराध्ययन', २७/१६
५९. 'दशवैकालिकनिर्युक्ति', गाथा- १, ७, १२, १४, १५ आदि
६०. आयास्स उ उवरि उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्वं तु।  
दसवैयालिय उवरि इयाणिं किं तेन होवन्ती उ।। 'व्यवहारभाष्य', ३/१७६
६१. 'दशवैकालिक', ९/१/१२.
६२. वही, ९/१/१५.
६३. 'व्यवहारसुत्त', मुनि कन्हैयालाल 'कमल', प्रस्तावना, पृ०-४३
६४. 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास', भाग २, पृ० २५७
६५. वही, पृ० ३४५
६६. 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास', भाग २, पृ०-३४५.
६७. महानिसी-हकप्पाओ, ववहाराओ तहेव या  
साहु-साहुणिअट्ठाए, गच्छायारं समुद्धियं।। 'गच्छायारपइण्णयं', १३५.
६८. जीहाए विलिहंतो न भद्दओ सारणा जहिं नत्थि।  
डंडेण वि तांडतो स भद्दओ सारणा जत्थ।।  
सीसो वि वेरिओ सो उ जो गुरुं न विबोहए।  
पमायमइराघत्थं सामायारीविराहयं।। वही, १७-१८
६९. भट्ठायारो सूरी भट्ठायाराणुवेक्खओ सूरी।  
उम्मगठिओ सूरी तिन्नि वि मग्गं पणासंति।। वही, २८
७०. गच्छो महाणुभावो तत्थ वसंताण निज्जरा विउला।  
सारण-वारण-चोयणमाईहिं न दोसपडिवत्ती।। वही, ५१
७१. सील-तव-दाण-भावणचउविहधम्मंतरायभयभीए।  
जत्थ बहू गीयत्थे गोयम, गच्छं तयं भणियं।। वही, १००

७२. जत्थ य थेरी तरुणी थेरी तरुणी य अंतरे सुयइ।  
गोयम! तं गच्छवरं वरनाण-चरित आहारं॥ वही, १२३
७३. 'चन्द्रवेध्यक', गाथा १२८-१३०.
७४. विणयं आयरियगुणे सीसगुणे विणयनिग्गहगुणे या  
नाणगुणे चरणगुणे मरणगुणे एत्थ वोच्छामि॥ वही, गाथा-३
७५. 'मूलाचार', हिन्दी अनु० आर्यिकारत्न, ज्ञानमती जी, प्रस्तावना, पृ० १८
७६. 'भगवती आराधना', अनु० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रस्तावना, पृ०-१०.
७७. वही
७८. 'जैन आगम साहित्य - मनन और मीमांसा', पृ०-५९२
७९. 'भगवती आराधना', अनु० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रस्तावना, पृ०-११
८०. 'भगवती आराधना', ५२८.
८१. 'पालि साहित्य का इतिहास', पृ०-७७
८२. वही,
८३. वही, पृ०-८३
८४. वही, पृ०-८३.
८५. वही, पृ०-८७.
८६. 'महावंश'- ५/२७८ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन अनुवादित)
८७. पुरे अधम्मो दिप्पति, धम्मो पटिबाहियति। अविनयो दिप्पति, विनयो पटिबाहियति।  
हन्द मयं आवुसो धम्मं च विनयं च संगायमा विनयपिटक, चुल्लवग्ग, उद्धृत-  
'पालि साहित्य का इतिहास', भरत सिंह उपाध्याय, पृ०-७७.
८८. 'पालि साहित्य का इतिहास', पृ०-३०९
८९. वही, पृ०-३११.
९०. 'विनयपिटक', अनु० राहुल सांकृत्यायन, पृ०-१५.
९१. वही, पृ०-१०१.
९२. वही, पृ०-१०३.
९३. वही, पृ०-१०३.
९४. 'पालि साहित्य का इतिहास', पृ०-३२६
९५. *History of Indian Literature*, Vol. ii, p. 33
९६. सम्पन्नशीला, भिक्खवे, विहरथ सम्पन्नपातिमोक्खा; पातिमोक्खसंवरसंवुत्ता विहरथ  
आचारगोचरसम्पन्ना अणुमत्तेसु वज्जेसु भयदस्साविनो। 'आङ्गखेय्यसुत', ६/१/४,  
पृ०-४७
९७. 'महाअस्सुर सुत्त' ३९, 'चूलअस्सुर सुत्त' ४०,
९८. कस्मा चेत्तं, मालुक्कपुत्तं, मया अव्याकत्तं? न हेत्तं, मालुक्कपुत्तं, अत्थसंहितं न  
आदिब्रह्मचरियकं न निब्बिदाय संवत्तत्ति। तस्मा तं मया अव्याकत्तं।

‘किं च, मालुक्यपुत्त, मया ब्याकतं?’ ‘इदं दुक्खं’ ति, मालुक्यपुत्त, मया ब्याकतं, ‘अयं दुक्खसमुदयो’ ति- मया ब्याकतं; ‘अयं दुक्खनिरोधो’ ति- मया ब्याकतं; ‘मयं दुक्खनिरोधगामिनी पतिपदा ति मया ब्याकतं। ‘मज्झिमनिकाय’ १३/३/८, पृ०-११३

१९. पाणातिपाता वेरमणिसिक्खापदं समादियामि।  
 अदिन्नादाना वेरमणिसिक्खापदं समादियामि।  
 अब्रह्मचरिया वेरमणिसिक्खापदं समादियामि।  
 मुसावादा वेरमणिसिक्खापदं समादियामि।  
 सुरामेरयमज्जपमादट्ठाना वेरमणिसिक्खापदं समादियामि।  
 विकालभोजना वेरमणिसिक्खापदं समादियामि।  
 नच्च-गीत-वादित-विसूक-दस्सना वेरमणिसिक्खापदं समादियामि।  
 माला-गन्ध-विलेपन-धारण-मण्डन-विभूसनट्ठाना वेरमणिसिक्खापदं समादियामि।  
 उच्चासयन-महासयना वेरमणिसिक्खापदं समादियामि।  
 जातरूप-रजतपटिगहणा वेरमणिसिक्खापदं समादियामि। ‘खुदकपाठ’, पाठ-२
१००. ‘पालि साहित्य का इतिहास’, पृ०-२७४।  
 १०१. वही, पृ०-२७५  
 १०२. ‘जातक’ (प्रथम खण्ड), पृ०-२१  
 १०३. *Buddhist India*, p. 201  
 १०४. ‘पालि साहित्य का इतिहास’, पृ०-२७२-७३।  
 १०५. वही, पृ०-४७४  
 १०६. वही, पृ०-४८०  
 १०७. तीसु वेदेषु सनिघण्टु-केटुभेसु साक्खरप्पभेदेसु इतिहासपंचमेसु पदको वेय्याकरणो लोकायतमहापुरिसलक्खणेसु अनवयो अहोसि। ‘मिलिन्दपन्हपालि’, पृ०-७  
 १०८. ‘मिलिन्दपन्हपालि’, १/४।  
 १०९. ‘मिलिन्दप्रश्न’ (हिन्दी), पृ०-२०१, (मिलिन्दपन्हपालि पृ०-७६.)  
 ११०. वही, पृ०-११९।  
 १११. ‘ललितविस्तर’ (अनु०) शान्तिभिक्षु शास्त्री, पृ०-२९६।





## तृतीय अध्याय

# जैन एवं बौद्ध शिक्षा के उद्देश्य एवं विषय

मानव-व्यक्तित्व का विकास शिक्षा पर आधारित होता है, किन्तु शिक्षा के उद्देश्यों को लेकर विद्वत्जनों में मतभेद पाया जाता है। कुछ लोग शिक्षा का लक्ष्य विद्या की प्राप्ति को मानते हैं तो कुछ लोग चरित्र का उन्नयन तथा मानव-जीवन का सर्वाङ्गीण विकास बताते हैं। लेकिन सही अर्थों में शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को विषय का ज्ञाता बनाने के अतिरिक्त मानसिक, शारीरिक व नैतिक- सभी दृष्टियों से योग्य, सदाचारी व स्वावलम्बी बनाना है। दूसरे शब्दों में शिक्षा का मूल उद्देश्य ज्ञान द्वारा बुद्धि-विकास अथवा विवेक जागृत करना है जिससे मनुष्य प्रत्येक विषय पर स्वयं निर्णय ले सके और उसका दृढ़ता से पालन कर सके। शिक्षा मानव का अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी विकास करती है। मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास के लिए शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा मानव का भौतिक, आध्यात्मिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक, चारित्रिक, सामाजिक विकास सम्भव है। व्यक्ति में आत्मविश्वास, विनम्रता, धैर्य, क्षमा, सहिष्णुता आदि गुणों को विकसित करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। शिक्षा के उद्देश्य को बताते हुए डॉ० ए०एस० अल्तेकर ने लिखा है— भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य चरित्र का संगठन, व्यक्तित्व का निर्माण, प्राचीन संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए उदीयमान पीढ़ी का प्रशिक्षण था।<sup>१</sup>

### जैन परम्परा

भारतीय संस्कृति अध्यात्ममूलक संस्कृति है जिसमें दो प्रकार की संस्कृतियाँ समान रूप से प्रवाहित हो रही हैं— ब्राह्मण और श्रमण। श्रमण-संस्कृति की जैन विचारधारा पूर्णरूपेण विशुद्ध साधनों पर आधारित है। जैन परम्परा में शिक्षा को दो भागों में विभाजित किया गया है— (१) आध्यात्मिक शिक्षा, (२) लौकिक शिक्षा।

जैन शिक्षा आध्यात्मिक उन्नति को प्रथम तथा लौकिक उन्नति को द्वितीय स्थान पर रखती है। मोक्षोपयोगी ज्ञान अर्थात् मोक्ष को केन्द्र मानकर जीव और जगत आदि सम्पूर्ण ज्ञेयतत्त्व का ज्ञान आध्यात्मिक शिक्षा के अन्तर्गत आता है तथा जीविकोपार्जन के लिए शिक्षा प्राप्त करना लौकिक शिक्षा के अन्तर्गत आता है। लौकिक शिक्षा के

अन्तर्गत पुरुषों की बहत्तर तथा स्त्रियों की चौसठ कलाओं का समावेश है।

### आध्यात्मिक शिक्षा का उद्देश्य

जैन शिक्षा का मूल उद्देश्य आत्मा की चरम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करना अर्थात् आध्यात्मिक चरम पद की उपलब्धि तथा मानव में सुप्त अन्तर्निहित आत्मशक्तियों का विकास करना है। व्यक्तित्व के चरम विकास की अवस्था को ही जैन दर्शन में मोक्ष कहा गया है।<sup>२</sup> मन, वचन और शरीर से किये गये प्रत्येक कर्म-अकर्म का शुभ-अशुभ कर्मबन्ध होता है। जब जीव सच्चे ज्ञान द्वारा अपने कर्मों को क्षीण करता है तब परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि जैसे धनार्थी पुरुष राजा को जानकर उसके प्रति श्रद्धा करता है, फिर प्रयत्नपूर्वक उसका अनुसरण कर सुन्दर रीति से उसकी सेवा करता है, तब कहीं वह धन उपलब्ध करने में सफल होता है, वैसे ही मोक्षार्थी को जीव रूपी राजा को सम्यक् प्रकार से जानकर तदनु रूप प्रवृत्ति करनी चाहिये, तब कहीं वह आत्मा की उपलब्धि में सफल होता है। अतः कहा जा सकता है कि वासना और उदाम प्रवृत्तियों के स्थान पर आत्म-नियंत्रण और संयम की भावना को जागृत करना जैन शिक्षा का मूल उद्देश्य है।

### आध्यात्मिक शिक्षा के विषय

संसार में अनन्त प्राणी हैं और वे सभी सुख के अभिलाषी हैं। यद्यपि सभी की सुखकामना एक-सी नहीं होती है। पं० सुखलाल संघवी ने सुखकामी प्राणियों के सुख के आधार पर दो वर्ग बताये हैं— पहले वर्ग में अल्प विकासवाले ऐसे प्राणी आते हैं जिनके सुख की कल्पना बाह्य साधनों तक सीमित है। दूसरे वर्ग में अधिक विकासवाले ऐसे प्राणी आते हैं जो बाह्य अर्थात् भौतिक साधनों की प्राप्ति में सुख न मानकर आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति में सुख मानते हैं। दोनों में यही अन्तर है कि, पहला सुख पराधीन है और दूसरा स्वाधीन।<sup>३</sup> लेकिन जब तक मनुष्य पराधीन अर्थात् सजीव और निर्जीव पदार्थों में आसक्ति रखता है, तब तक वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।<sup>४</sup> आचारांग में कहा गया है कि कामनाओं का पूर्ण होना असम्भव है और जीवन बढ़ाया नहीं जा सकता। कामेच्छुक मनुष्य शोक किया करता है, सन्ताप और परिताप उठाया करता है। जब तक मानव जीवन में आसक्ति बनी हुई है, मानवीय दुःख बने हुए हैं।<sup>५</sup> इन दुःखों से छुटकारा तभी मिलता है जब मानव सांसारिक विषयों से निवृत्ति की ओर अग्रसर होता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो प्रक्रियाएँ अपनायी जाती हैं, वे निवृत्ति कहलाती हैं तथा सांसारिक बन्धनों की ओर ले जानेवाली सभी क्रियाएँ प्रवृत्ति कहलाती हैं।

### मोक्ष प्राप्ति के मार्ग

उमास्वाति ने मोक्ष-प्राप्ति के तीन मार्ग बतलाये हैं— सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य<sup>६</sup> इन्हें त्रिरत्न के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। इन्हें शिक्षा-साधना का कल्याण पथ माना गया है। त्रिरत्न मोक्ष-प्राप्ति के साधन हैं। शिक्षा-जगत में साधनों का विशुद्ध होना बहुत ही जरूरी है, क्योंकि साधन के विशुद्ध होने पर ही विशुद्ध साध्य की प्राप्ति होती है। उपर्युक्त तीनों साधनों का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार से है—

### सम्यक्-दर्शन

यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा का होना सम्यक्-दर्शन कहलाता है।<sup>७</sup> जैन दर्शन में सात तत्त्व स्वीकार किये गये हैं— जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षा। इन्हीं सात तत्त्वों के प्रति श्रद्धा रखना सम्यक्-दर्शन है। कुछ लोगों में तो यह स्वभावतः विद्यमान रहता है और कुछ इसे विद्योपार्जन एवं अभ्यास के द्वारा सीख भी सकते हैं।<sup>८</sup>

### सम्यक्-ज्ञान

सम्यक्-ज्ञान में जीव, अजीव आदि मूल तत्त्वों का सविशेष ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान जीव में सदा विद्यमान रहता है और जब उस ज्ञान में सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है तब वह सम्यक्-ज्ञान कहलाता है। सम्यक्-ज्ञान का अर्थ प्रमाणादि द्वारा यथार्थ ज्ञान से नहीं है, बल्कि मिथ्या-दृष्टि के निवारण से है। मिथ्या-दृष्टि का निवारण ही मोक्ष में सहायक होता है। सम्यक्-ज्ञान असन्दिग्ध तथा दोषरहित होता है।<sup>९</sup>

### सम्यक्-चारित्र्य

हिंसादि दोषों का त्याग और अहिंसादि महाव्रतों का पालन सम्यक्-चारित्र्य कहलाता है। पं० सुखलाल संघवी के अनुसार सम्यक्-ज्ञान पूर्वक काषायिक भाव अर्थात् राग-द्वेष और योग (मानसिक, वाचिक और कायिक) क्रिया की निवृत्ति से होनेवाला स्वरूप रमण सम्यक्-चारित्र्य है।<sup>१०</sup> शिक्षा का मूल सम्बन्ध सम्यक्-चारित्र्य से है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह— ये पाँच महाव्रत सम्यक्-चारित्र्य की प्राप्ति के प्रमुख साधन हैं। मैत्री, कारुण्य, माध्यस्थ्य आदि भावनाओं का चिन्तन तथा क्षमा, मार्दवादि दश धर्मों का पालन व मदिरा-मांसादि सप्त दुर्व्यसनों का परित्याग इन साधनों की पुष्टि करता है। सम्यक्-चारित्र्य के अंगों का अलग-अलग विवेचन निम्न रूप से है—

**अहिंसा**— सामान्यतया अहिंसा का अर्थ 'न हिंसा अहिंसा' या 'हिंसा विरोधिनी अहिंसा' से लिया जाता है। लेकिन जैन मतानुसार—

किसी भी जीव की तीन योग और तीन करण से हिंसा न करना अहिंसा है।<sup>११</sup>  
तीन योग अर्थात् मन, वचन और काय तथा तीन करण अर्थात् करना, करवाना और अनुमोदन करना। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

- (१) मन से हिंसा न करना,
- (२) मन से हिंसा न करवाना,
- (३) मन से हिंसा का अनुमोदन न करना।
- (१) वचन से हिंसा न करना।
- (२) वचन से हिंसा न करवाना।
- (३) वचन से हिंसा का अनुमोदन न करना।
- (१) काय से हिंसा न करना।
- (२) काय से हिंसा न करवाना।
- (३) काय से हिंसा का अनुमोदन न करना।

इन नौ प्रकारों से प्राणी का घात न करना ही अहिंसा है। अहिंसा के पालन से मनुष्य में निर्भयता, वीरता, वत्सलता, क्षमा, दया आदि आत्मिक शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। आत्मिक बल के समाने सभी पाशविक या आसुरी शक्तियाँ नतमस्तक हो जाती हैं।

**सत्य—** असत्य का परित्याग करना तथा यथाश्रुत वस्तु के स्वरूप का कथन सत्य कहलाता है। सत्य के लिए हितवादिता की आवश्यकता होती है। यदि भावना अहित हो जिससे किसी को कष्ट पहुँचता हो तो वह सत्य कथन भी अकथनीय होता है। 'अत्यतो अविस्वादि जहत्यमधुरं' अर्थात् वह सत्य है जो अर्थ से भूतार्थ सद्भूत अर्थवाला हो और अविस्वादी हो, यर्थाथ हो, मधुर हो। इसके साथ ही उस सत्य-यथातथ्य अर्थ को प्रकट करने पर भी जिसके पीछे किसी प्रकार का छल, द्रोह, दम्भ आदि संयमविघातक कारण हो वह सत्य वचन असत्य ही समझा जायेगा।<sup>१२</sup>

**अस्तेय—** बिना दिये हुए परवस्तु को ग्रहण करना स्तेय कहलाता है। जैन मान्यता के अनुसार धन सम्पत्ति मनुष्य का बाह्य जीवन है। अतः धन-सम्पत्ति का अपहरण, मनुष्य के बाह्य जीवन का अपहरण है। सिर्फ चोरी करना ही नहीं बल्कि चोरी करने की प्रेरणा देना, चोरी की प्रशंसा करना, चोरी का माल खरीदना आदि सभी हिंसा है। अतः मन, वचन और काय से चोरी न करना, चोरी न करवाना और चोरी करनेवालों का अनुमोदन न करना ही अस्तेय महाव्रत है।

**ब्रह्मचर्य—** तपस्याओं में सबसे उत्तम तप ब्रह्मचर्य है।<sup>१३</sup> ज्ञान और दर्शन के

उपार्जन के लिए दो शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है— स्मरण शक्ति और बौद्धिक प्रतिभा। ये दोनों शक्तियाँ ब्रह्मचर्य से प्राप्त होती हैं। ब्रह्मचर्य से ही आत्मिक, बौद्धिक, हार्दिक, विवेकीय एवं परीक्षणीय-निरीक्षणीय शक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। ब्रह्मचर्य से ही मन, वचन और काय की पवित्रता रहती है।

**अपरिग्रह—** मूर्च्छा ही परिग्रह है।<sup>१४</sup> कोई भी वस्तु चाहे वह छोटी हो या बड़ी, जड़ हो या चेतन, बाह्य हो या आन्तरिक उसमें बन्ध जाना अर्थात् उसकी लगन में विवेकशून्य हो जाना परिग्रह है और इनका त्याग अपरिग्रह है। संसार के समस्त विषयों के प्रति राग तथा ममता का परित्याग कर देना ही अपरिग्रह है। अपरिग्रह के बिना हम अपने जीवन को उन्नत नहीं बना सकते हैं। धन-धान्य, घर-सामान, स्थावर, जंगम आदि कोई भी सम्पत्ति, कर्मों से दुःख पाते हुए प्राणी को दुःख से मुक्त करने में समर्थ नहीं है।<sup>१५</sup> 'उत्तराध्ययन' में कहा गया है— यदि धन-धान्य से परिपूर्ण यह सारा लोक भी किसी एक मनुष्य को दे दिया जाय तो भी उसे सन्तोष नहीं होगा। लोभी आत्मा की तृष्णा इसी तरह दुष्पूर होती है।<sup>१६</sup>

### चार भावनाएँ

मैत्री, प्रमोद आदि चार भावनाएँ पञ्च व्रतों की प्राप्ति में उपकारक का कार्य करती हैं। भगवान् महावीर ने कहा है कि व्यक्ति को प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीवृत्ति, गुणिजनों के प्रति प्रमोदवृत्ति, दुःखी जनों के प्रति करुणावृत्ति और अयोग्य पात्रों के प्रति माध्यस्थ वृत्ति रखनी चाहिए।<sup>१६</sup>

**मैत्री—** मैत्री का विषय प्राणिमात्र है। दूसरे में अपनेपन की बुद्धि रखना अर्थात् अपने समान ही दूसरे को दुःखी न करने की वृत्ति अथवा भावना रखना मैत्रीवृत्ति है। जब यही मैत्रीवृत्ति प्राणिमात्र के साथ होती है तब हर मनुष्य में अहिंसक और सत्यवादिता का अंकुर प्रस्फुटित होता है।

**गुणिजनों के प्रति प्रमोदवृत्ति—** अपने से अधिक गुणवान के प्रति आदर रखना तथा उसके उत्कर्ष को देखकर प्रसन्न होना प्रमोदवृत्ति है। इस भावना का विषय अधिक गुणवान है। अधिक गुणवान के प्रति ही ईर्ष्या या असूया आदि दुर्वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। जब तक इस वृत्ति का नाश नहीं हो जाता तब तक अहिंसा, सत्य आदि व्रत नहीं टिक सकते हैं।

**करुणावृत्ति—** प्राणिमात्र के प्रति करुणा की भावना रखनी चाहिए। इस भावना का विषय केवल क्लेश से पीड़ित दुःखी प्राणी है, क्योंकि दुःखी, दीन व अनाथ को ही अनुग्रह तथा मदद की अपेक्षा रहती है। यदि किसी पीड़ित को देखकर भी अनुकम्पा,

अनुग्रह का भाव पैदा नहीं होता है तो अहिंसा का पालन असम्भव है। इसलिए जैन धर्म में करुणा की भावना आवश्यक मानी गयी है।

**माध्यस्थ्यवृत्ति**— माध्यस्थ्य भावना का विषय अविनीत या अयोग्य पात्र है। माध्यस्थ्य का अर्थ होता है- तटस्थता। जब नितान्त संस्कारहीन एवं अयोग्य पात्र मिल जाये जिसे सुधारने के सभी प्रयत्न विफल दिखायी दें तो ऐसे व्यक्ति के प्रति तटस्थ भाव रखना ही श्रेयस्कर है।<sup>२२</sup>

### दस धर्म

जैनाचार्यों ने दस प्रकार के धर्मों का वर्णन किया है जो गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए समान रूप से आचरणीय है। 'आचारांग', 'मूलाचार', 'स्थानांग', 'समवायांग' और 'तत्त्वार्थ' आदि अनेक ग्रन्थों में इन धर्मों का वर्णन विस्तार से किया गया है। आचारांग में आठ सामान्य धर्मों का उल्लेख मिलता है। कहा गया है कि जो धर्म में उत्थित अर्थात् तत्पर हैं उनको और जो धर्म में उत्थित नहीं हैं उनको भी निम्नलिखित बातों का उपदेश देना चाहिए— शान्ति, विरति (विरक्ति), उपाम, निवृत्ति, शौच, आर्जव, मार्दव और लाघव।<sup>१७</sup> 'स्थानांग'<sup>१८</sup> और 'समवायांग'<sup>१९</sup> में भी इन्हीं धर्मों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि 'स्थानांग' और 'समवायांग' की सूची 'आचारांग' से थोड़ी भिन्न है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार दस धर्म निम्न हैं— क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचनता और ब्रह्मचर्य।<sup>२०</sup> इन दस धर्मों का विवेचन निम्न प्रकार से है—

**क्षमा**— अनुचित व्यवहार के बाद भी किसी व्यक्ति के प्रति मन में क्रोध को न लाना, सहनशील रहना, क्रोध पैदा न होने देना और क्रोध को विवेक तथा नम्रता से निष्फल कर डालना क्षमा है। 'दशवैकालिक' में क्रोध को प्रीति का विनाशक कहा गया है।<sup>२१</sup> क्रोध कषाय के उपशमन के लिए क्षमा धर्म का विधान है। क्षमा के द्वारा ही क्रोध पर विजय प्राप्त की जा सकती है।<sup>२२</sup> पं० सुखलाल संघवी ने क्षमा की साधना के पाँच उपाय बताये हैं<sup>२३</sup>—

(क) अपने में क्रोध के निमित्त के होने या न होने का चिन्तन करना।

(ख) क्रोधवृत्ति के दोषों पर विचार करना।

(ग) बाल स्वभाव का विचार करना।

(घ) अपने किये हुए कर्म के परिणाम पर विचार करना।

(ङ) क्षमा के गुणों का चिन्तन करना।

जैन परम्परा में अपराधी को क्षमा करना और स्वयं के अपराधों के लिए जिसके प्रति अपराध किया गया है उससे क्षमायाचना करना साधक का परम कर्तव्य माना गया है। जैन साधक का प्रतिदिन यह उद्घोष होता है कि मैं सभी प्राणियों को क्षमा करता हूँ और सभी प्राणी मेरे अपराधों के लिए मुझे क्षमा करें। सभी प्राणियों से मेरी मित्रता है, किसी से मेरा वैर नहीं है।<sup>२४</sup>

**मार्दव**— ऐसा आचरण जिसमें व्यक्ति अपने को दूसरों से बड़ा न समझे व जिसमें अपनी प्रशंसा और सम्मान की चाह न हो, वह मार्दव धर्म का द्योतक है। तत्त्वार्थसूत्र में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है— 'चित्त में मृदुता और व्यवहार में भी नम्रवृत्ति का होना मार्दव गुण है। इसकी सिद्धि के लिए जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, विज्ञान (बुद्धि), श्रुत (शास्त्र) लाभ (प्राप्ति), वीर्य (शक्ति) के विषय में अपने को बड़ा या ऊँचा मानकर गर्वित न होना और इन वस्तुओं की विनश्वरता का विचार करके अभिमान के कांटे को निकाल फेंकना ही मार्दव धर्म है।'<sup>२५</sup>

**आर्जव**— भाव की विशुद्धि आर्जव कहलाता है जिसमें विचार, भाषण और व्यवहार की एकता का होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आचरण में मन, वचन और कर्म की एकरूपता होना आर्जव धर्म का द्योतक है, परन्तु इसकी प्राप्ति के लिए मन में भावों की निर्मलता और अभिप्राय का शुभ होना आवश्यक है।

**शौच**— साधारणतया शौच का अर्थ शुद्धता या सफाई से ग्रहण किया जाता है, लेकिन यहाँ शौच का अर्थ केवल बाहरी या शारीरिक शुद्धता से नहीं बल्कि आत्मिक शुद्धि से है। इतना ही नहीं बल्कि धर्म के साधनों तथा शरीर तक में भी आसक्ति न रखना शौच है।

**सत्य**— सत्पुरुषों के लिए हितकारी व यथार्थ वचन बोलना ही सत्य है। जो वास्तविक रूप में है उसे वैसा ही जानना, वैसा ही मानना, वैसा ही कहना और उसको वैसा ही आचरण में लाना सत्य धर्म है।

**संयम**— मन, वचन और काय का नियमन करना संयम है। पाँच इन्द्रियों का निग्रह, पाँच अव्रतों का त्याग, चार कषायों का जप तथा मन, वचन और काय की विरति, ये सत्रह प्रकार के संयम हैं।

**तप**— तप जैन-साधना का प्राण है। तप को परिभाषित करते हुए पं० सुखलाल संघवी ने कहा है— मलिन वृत्तियों को निर्मूल करने के निमित्त अपेक्षित शक्ति की साधना के लिए किया जानेवाला आत्मदमन तप है।<sup>२६</sup> इसे दूसरी भाषा में इस प्रकार

कहा जा सकता है कि वासनाओं को क्षीण करने तथा समुचित आध्यात्मिक शक्ति की साधना के लिए शरीर, इन्द्रिय और मन को जिन-जिन उपायों से तपाया जाता है, वे सभी तप कहे जाते हैं। आगम के प्रसिद्ध चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर ने तप की व्युत्पत्तिजन्म परिभाषा करते हुए कहा है— 'तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपो,'<sup>२७</sup> अर्थात् जिस साधना-आराधना से, उपासना से पापकर्म तप्त हो जाते हैं उसे तप कहते हैं।

तप के द्वारा ही आत्मा की सुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं, दिव्य बल प्रकट होते हैं। जितनी भी शक्तियाँ हैं, लब्धियाँ हैं, इतना ही नहीं केवलज्ञान और मोक्ष भी तप के द्वारा ही प्राप्त होते हैं। 'प्रवचनसारोद्धार' के अनुसार- 'परिणाम तव्वसेणं इमाइहुति लद्धीओ,'<sup>२८</sup> अर्थात् जितनी भी लब्धियाँ हैं वे सब तप के ही परिणाम हैं। तप केवल भौतिक सिद्धि और समृद्धि का प्रदाता ही नहीं है, बल्कि वह अनन्त आध्यात्मिक समृद्धि का प्रदाता भी है।

**त्याग**— सामान्य रूप से त्याग का अर्थ 'छोड़ना' होता है। अप्राप्त भोगों की इच्छा नहीं करना और प्राप्त भोगों से विमुख होना त्याग है। नैतिक जीवन में त्याग आवश्यक है। बिना त्याग के नैतिकता का रहना सम्भव नहीं है। साधु जीवन और गृहस्थ जीवन दोनों के लिए त्याग धर्म आवश्यक बताया गया है। साधु जीवन में जो कुछ भी उपलब्ध है या नियमानुसार ग्राह्य है उसमें से कुछ को नित्य छोड़ते रहना या त्याग करते रहना जरूरी है। इसी प्रकार गृहस्थ को न केवल अपनी वासनाओं और भोगों की इच्छा का त्याग करना होता है, अपितु अपनी सम्पत्ति एवं परिग्रह से भी दान के रूप में त्याग करते रहना आवश्यक बताया गया है।

**आकिंचन्य**— किसी भी वस्तु में ममत्वबुद्धि न रखना आकिंचन्य है। समाज में जितने भी अनाचार- हिंसा, झूठ, चोरी आदि, होते हैं उनमें से अधिकतर का मूल कारण संग्रहवृत्ति होती है और इसी संग्रहवृत्ति से बचना अकिंचनता का मुख्य उद्देश्य है।

**ब्रह्मचर्य**— निज आत्मा में लीनता ब्रह्मचर्य है, परन्तु लौकिक जीवन में ब्रह्मचर्य से तात्पर्य कामभोग के त्याग से लिया जाता है। पं० सुखलाल संघवी ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है - त्रुटियों से दूर रहने के लिए ज्ञानादि सदगुणों का अभ्यास करना एवं गुरु की अधीनता के सेवन के लिए ब्रह्म (गुरुकुल) में चर्य (बसना) ब्रह्मचर्य है।<sup>२९</sup> यहाँ पण्डितजी ने ब्रह्म का अर्थ गुरुकुल ग्रहण किया है। गृहस्थ और उपासक दोनों के लिए ब्रह्मचर्य धर्म आवश्यक बताया गया है। दोनों को अपनी-अपनी मर्यादा



के अनुकूल और निष्ठा से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

### लौकिक शिक्षा का उद्देश्य

भौतिक सामग्रियों को एकत्रित करना और उनको सुख का साधन मानकर उनमें आसक्त रहना लौकिक शिक्षा का उद्देश्य है। लेकिन इससे शाश्वत सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती है। मानव अपने सुख के लिए कितनी भी भौतिक उपलब्धि प्राप्त कर ले फिर भी उसकी इच्छायें कभी भी शान्त नहीं हो पाती हैं। मानव को जीवन धारण करने के लिए जिस प्रकार रोटी, कपड़ा और मकान की आवश्यकता है, उसी प्रकार जीवन की सुरक्षा के लिए शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शुद्धि और आजीविका के साधनों की आवश्यकता है। यही कारण है कि प्राचीनकाल से मानव को सुसंस्कारी बनाने के लिए तथा जीविकोपार्जन की योग्यता अर्जित करने के लिए कलाओं का गहराई से अध्ययन करने पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। इन कलाओं के अध्ययन के पीछे एक ही लक्ष्य निहित है और वह है लोक-व्यवहार में निर्वाह करने की क्षमता तथा प्राकृतिक पदार्थों को अपने लिए उपयोगी बनाने की योग्यता अर्जित करना।

### लौकिक शिक्षा के विषय

पुरुषों के लिए बहत्तर एवं महिलाओं के लिए चौंसठ कलाओं का अध्ययन लौकिक शिक्षा के अन्तर्गत आता है। कलाओं का अध्ययन मानव के ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के पूर्ण विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी है। मानसिक विकास के साथ-साथ अगर शारीरिक विकास न हो तो फिर अध्ययन कैसा? कलाओं की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए पं० हीरालाल जैन ने बताया है कि जैन धर्म में गृहस्थधर्म की व्यवस्थाओं द्वारा उन सब प्रवृत्तियों को यथोचित स्थान दिया गया है जिनके द्वारा मनुष्य सभ्य एवं शिष्ट बनकर अपनी व अपने कुटुम्ब, समाज एवं देश की सेवा करता हुआ उन्नत बन सके।<sup>३०</sup> जैन आगमों में बालकों को उनके शिक्षण काल में शिल्पों एवं कलाओं की शिक्षा पर जोर दिया गया है। गृहस्थों के लिए जो षट्कर्म बताये गये हैं उनमें असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य के साथ-साथ शिल्प का भी विशेष उल्लेख है।<sup>३१</sup>

‘समवायांग’,<sup>३२</sup> ‘ज्ञाताधर्मकथा’,<sup>३३</sup> ‘औपपातिकसूत्र’,<sup>३४</sup> ‘राजप्रश्नीयसूत्र’<sup>३५</sup> आदि ग्रन्थों में ७२ कलाओं का वर्णन आया है, किन्तु सभी में कुछ न कुछ अन्तर देखने को मिलता है। ‘ज्ञाताधर्मकथा’ के अनुसार निम्नलिखित ७२ कलायें हैं—

### बहत्तर कलायें

**लेख**— लिखने की कला को लेख कहते हैं। सुन्दर और स्पष्ट लिपि द्वारा अपने भावों को कलात्मक ढंग से व्यक्त करना लेखन कला है। जैन ग्रन्थों में ब्राह्मी<sup>३६</sup> आदि

अद्वारह प्रकार की लिपियों का उल्लेख मिलता है। प्राचीन काल में लेख का आधार पत्र, वल्कल, काष्ठ, दन्त, लोहा, ताम्र, रजत, पाषाण आदि था जिन पर उत्कीर्ण कर, भेदकर, जलाकर, ठप्पा लगाकर अक्षरों को अंकित किया जाता था।<sup>३७</sup> जैन ग्रन्थ 'समवायांग' एवं 'कुवलयमाला' में भी इस कला का उल्लेख है। 'कामसूत्र' में वर्णित ६४ कलाओं में लेहं (आलेख) कला का भी उल्लेख हुआ है।<sup>३८</sup>

**गणित**— भारत में प्राचीनकाल से ही गणितशास्त्र का विशेष महत्त्व रहा है। भगवान् महावीर ने भी गणित एवं ज्योतिषशास्त्र में निपुणता प्राप्त की थी।<sup>३९</sup> आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने अपनी पुत्री सुन्दरी को गणित की शिक्षा दी थी।<sup>४०</sup> 'समवायांग' एवं 'कुवलयमाला' में भी गणित की शिक्षा को विषयान्तर्गत लिया गया है। वैदिक ग्रन्थ 'छान्दोग्योपनिषद्' में वेद, पुराण, व्याकरण आदि के साथ-साथ राशिविद्या का भी उल्लेख आया है जिसका अभिप्राय गणित विद्या से लगाया जा सकता है।<sup>४१</sup>

**रूप**— किसी भी वस्तु या रूप को सजाने की कला रूपकला है।

**नृत्य**— इस कला के अन्तर्गत नाटक लिखने और नाटक अभिनीत करने की प्रक्रिया का समावेश है। इसमें सुर, ताल आदि की गति के अनुसार शिक्षा दी जाती थी। प्राचीनकाल में नाट्य, नृत्य, गीत, वाद्य, स्वरगत, पुष्करगत, समताल आदि को संगीत के अन्तर्गत माना जाता था और आज भी माना जाता है। 'स्थानांगसूत्र'<sup>४२</sup> में वाद्य, नाट्य, गायन और अभिनय के चार-चार प्रकार बताये गये हैं—

### वाद्य के चार प्रकार

**तत-** तार अथवा ताँत का जिसमें उपयोग होता है, वे तत कहलाते हैं। जैसे- वीणा, सारंगी आदि इसके अन्तर्गत आते हैं।

**वितत-** चमड़े से बना हुआ वाद्य वितत कहलाता है। जैसे- ढोल, तबला, नगारा, मृदंग, डफ, खँजड़ी आदि इसके अन्तर्गत आते हैं।

**घन-** परस्पर आघात से बजानेवाला वाद्य घन कहलाता है। जैसे- कांस्य ताल, झाँझ, मजीरा आदि इसके अन्तर्गत आते हैं।

**शुषिर-** जिसका भीतरी भाग पोला हो और जिसमें वायु का उपयोग होता हो शुषिर कहलाता है। जैसे- बाँसुरी, अलगोजा, शहनाई, शंख, हारमोनियम आदि।

### नाट्य (नृत्य) के चार प्रकार

**अञ्चित नाट्य-** वह नाट्य या नृत्य जिसमें ठहर-ठहर कर नाचा जाता है।

**रिभित नाट्य-** वह नाट्य या नृत्य जिसमें संगीत के साथ नाचा जाता है।

**आरभट नाट्य-** वह नाट्य या नृत्य जिसमें संकेतों से भावाभिव्यक्ति करते हुये नाचा जाता है।

**भषोल नाट्य-** वह नाट्य या नृत्य जिसमें झुककर या लेटकर नाचा जाता है।

**गायन के चार प्रकार**

**उत्क्षिप्तक-** गायन का वह प्रकार जिसमें नाचते हुये गाया जाता है।

**पत्रक-** वह गायन जिसके अन्तर्गत पद्य-छन्द का गायन करना या उत्तम स्वर में छन्द बोला जाता है।

**मन्द्रक-** वह गायन जिसमें मन्द-मन्द स्वर में गाया जाता है।

**रोविन्दक-** गायन का वह प्रकार जिसमें धीरे-धीरे स्वर को तेज करते हुये गाया जाता है।

**अभिनय के प्रकार**

**दाष्टान्तिक-** वह नाटक जिसमें किसी घटना विशेष पर आधारित अभिनय किया जाता है।

**प्रातिश्रुत-** ऐतिहासिक कथा पर आधारित नाटक में अभिनय करना। जैसे-रामायण, महाभारत आदि।

**सामान्यतोविनिपातिक-** ऐतिहासिक कथा पर आधारित नाटक में राजा-मंत्री आदि का अभिनय करना।

**लोकमध्यावसित-** नाटक में मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को अभिनित करना।

‘राजप्रश्नीयसूत्र’ में बत्तीस प्रकार की नाट्य विधियों का वर्णन है।<sup>४२</sup> इसी प्रकार ‘कुवलयमाला’ में आये ७२ प्रकार की कलाओं में तथा ‘कादम्बरी’ में चन्द्रापीठ द्वारा विभिन्न प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं में पारंगत होने के सन्दर्भ में नाट्यशास्त्र का भी वर्णन किया गया है।<sup>४४</sup>

**गीत—** गायन कला अत्यधिक प्राचीनकाल से चली आ रही है। गायन के अन्तर्गत स्वर, ताल और लय की प्रधानता होती है। ‘समवायांग’, ‘कल्पसूत्र’ टीका एवं ‘कादम्बरी’ आदि ग्रन्थों में भी गीत, वाद्य, नृत्य आदि कलाओं का उल्लेख आया है जिन्हें तत्कालीन

समाज में शिक्षा का विषय माना जाता था।<sup>४५</sup> उस समय समाज में बौद्धिक विकास और मनोविनोद के उद्देश्य से संगीत कला का बहुत ही महत्त्व था।

**वाद्य**— वाद्य संगीत कला का एक अंग माना जाता है। 'राजप्रशनीयसूत्र' में वाद्य कला के अन्तर्गत शंख, शृंग, भेरी, पटह आदि ५९ प्रकार के वाद्यों का उल्लेख मिलता है।<sup>४६</sup> 'कादम्बरी' में भी वीणा, बांसुरी, मृदङ्ग, कांसा, मंजीरे, तूती आदि वाद्य कलाओं का उल्लेख मिलता है।<sup>४७</sup>

**स्वरगत**— 'समवायांग' में वर्णित ७२ कलाओं के अन्तर्गत स्वरगत, पुष्करगत और समताल आदि कलाओं का उल्लेख है।<sup>४८</sup> स्वरगत कला के अन्तर्गत स्वर की विशेष शिक्षा दी जाती थी। जैन ग्रन्थों में सात स्वरों का वर्णन आया है जो निम्न हैं— षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, छैवत, निषाद आदि।<sup>४९</sup>

**पुष्करगत**— बाँसुरी, भेरी, ढोल आदि वाद्यों को अनेक प्रकार से बजाने की कला पुष्करगत कला है।

**समताल** — गायन व ताल के लयात्मक समीकरण का ज्ञान होना समतालकला है।

**जुआ**— जुआ खेलने की कला जिसके अन्तर्गत घूत, जनवाद आदि कलाओं का ज्ञान कराया जाता था। प्राचीनकाल में इसे मनोरंजन का एक साधन माना जाता था। 'ऋग्वेद' में अक्ष और पाश क्रीड़ा का उल्लेख है।<sup>५०</sup> अक्ष और पाश का अभिप्राय घूतक्रीड़ा से ही है। महाभारत की घूतक्रीड़ा तो जगतप्रसिद्ध है। इसी घूतक्रीड़ा के कारण पाण्डवों को निर्वासित जीवन बिताना पड़ा था। 'कामसूत्र' में भी इसे ६४ कलाओं के अन्तर्गत रखा गया है।<sup>५१</sup>

**जनवाद**— जनश्रुतियों और किंवदन्तियों को जानना जनवाद है। मनुष्य के शरीर, रहन-सहन, बात-चीत, खान-पान तथा हाव-भाव आदि के द्वारा उसका परीक्षण करना भी जनवाद की शिक्षा के अन्तर्गत आता है। 'समवायांग' में भी इसका वर्णन आया है।<sup>५२</sup>

**पासा**— पासों से खेला जानेवाला खेल इसके अन्तर्गत सिखाया जाता था।

**अष्टापद**— शतरंज चौसड़ आदि खेलने की कला।

**पुरकृत्त**— नगर संरक्षण की कला को जानना।

**दकभृत्तिका**— जल और मिट्टी के संयोग से वस्तु का निर्माण करना।

**अन्नविधि—** अन्न उत्पन्न करने की कला। इस कला के अन्तर्गत भोजन बनाने और भोज्य पदार्थ सम्बन्धी सभी बातों का ज्ञान कराया जाता था। स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्न-विधि, पान-विधि, शयन-विधि आदि का उल्लेख विभिन्न जैनसूत्रों में आया है।<sup>५३</sup>

**पानविधि—** पानी को उत्पन्न करने तथा शुद्ध एवं उष्ण करने की कला पानविधि कला है। पेय पदार्थ सम्बन्धी सभी बातों की जानकारी इसके अन्तर्गत आती है।

**वस्त्रविधि—** नवीन वस्त्र बनाना, रंगना, सीना और पहनने की कला इसमें सन्निहित है।

**विलेपनविधि—** विलेपन की वस्तु को पहचानना, तैयार करना तथा लेप आदि क्री कला इसके अन्तर्गत आती है।

**शयनविधि—** शय्या-सम्बन्धी सभी बातों का ज्ञान इसमें सम्मिलित है। जैसे— शय्या बनाना, शयन करने की विधि को जानना आदि। 'कुवलयमालाकहा' में शयन-विधि के साथ-साथ आसन-विधि का भी उल्लेख है।<sup>५४</sup>

**आर्याविधि—** आर्या एक प्रकार का छन्द है जिसे पहचानने और बनाने की कला आर्याविधि है। इस कला के अन्तर्गत आर्या, प्रहेलिका, मागन्धिका आदि का ज्ञान कराया जाता था।<sup>५५</sup>

**प्रहेलिका—** पहेली जानने और बनाने की कला प्रहेलिका है।

**मागधिका—** मागधी भाषा और साहित्य का ज्ञान अर्थात् मगध देश की भाषा को जानना तथा गाथा बनाना मागधिका कला है।

**गाथा—** छन्द अथवा श्लोक रचना-सम्बन्धी कला का ज्ञान तथा प्राकृत भाषा में गाथा आदि बनाना इसके अन्तर्गत आता है। वैदिककाल में भी गाथा- गाथापति,<sup>५६</sup> ऋजुगाथा<sup>५७</sup> आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।

**गीत—** गीति छन्द बनाना, काव्यों की रचना करना और उनका अध्ययन करना।

**श्लोक—** साहित्य के अन्तर्गत पद्य श्लोक (अनुष्टुप छन्द) बनाना तथा उसकी जानकारी रखना। इसका वर्णन समवायांग में भी आया है।<sup>५८</sup>

**रजतकला—** चांदी के आभूषण बनाना तथा पहनना आदि रजतकला के अन्तर्गत आता है।

**सुवर्णकला—** सुवर्ण के आभूषण बनाना एवं पहनना आदि सुवर्णकला है।

**चूर्णकला—** चूर्ण, गुलाल, अबीर आदि बनाना तथा उनका उपयोग करना चूर्णकला है।

**आभरणविधि—** वस्त्र तथा आभूषण निर्माण एवं धारण करने की कला इसमें सन्निहित है। समवायांग में भी इस कला का वर्णन आया है।<sup>५९</sup>

**तरुणीप्रतिक्रम—** युवतियों के वर्ण परिवर्तन आदि का परिज्ञान करना तरुणी प्रतिक्रम है। दूसरे शब्दों में तरुण व्यक्तियों से मित्रवत व्यवहार एवं प्रसन्न करने की कला को तरुणीप्रतिक्रम कहते हैं।<sup>६०</sup>

**स्त्रीलक्षण—** स्त्री के लक्षण को जानना अर्थात् स्त्रियों की जाति तथा उनके गुण-दोषों की पहचान इस कला के अन्तर्गत आते हैं। जैन-ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के लक्षणों और चिह्नों के ज्ञान कराये जाने का उल्लेख मिलता है, जैसे— स्त्री, पुरुष, हय, गज, गो, मेष, कुक्कुट, चक्र, छत्र, दण्ड, असि, मणि, काकिनी आदि के लक्षणों का ज्ञान कराना।<sup>६१</sup>

**पुरुषलक्षण—** पुरुष के लक्षण को जानना अर्थात् पुरुष वर्ग की जाति और उनके गुण-दोष की विशिष्ट जानकारी रखना इस कला का विषय है।

**अश्वलक्षण—** अश्व के लक्षण को जानना अर्थात् अश्वों की जाति एवं उनके अच्छे-बुरे लक्षणों की जानकारी करना अश्वलक्षण कला है।

**गजलक्षण—** हाथी के लक्षण, जाति और उनके भले-बुरे नस्लों की जानकारी करना इस कला का विषय है।

**गोलक्षण—** गाय-बैल के लक्षण, जाति तथा उसके अच्छे-बुरे नस्लों की जानकारी रखना गोलक्षण कला है।

**कुक्कुटलक्षण—** कुक्कुट अर्थात् मुर्गों की पहचान तथा शुभ-अशुभ लक्षणों की जानकारी हासिल करना इस कला के अन्तर्गत आता है।

**छत्रलक्षण—** क्षत्र-सम्बन्धी शुभ-अशुभ की जानकारी रखना क्षत्रलक्षण कला है।

**दंडलक्षण—** दण्ड-सम्बन्धी विषयों की जानकारी रखना दंडलक्षण कला है।

**असिलक्षण—** तलवार, खड्ग आदि चलाने की कला तथा उसकी परीक्षा-सम्बन्धी विशिष्ट जानकारी प्राप्त करना इस कला के अन्तर्गत आता है।

**मणिलक्षण—** मणि, मुक्ता, रत्न आदि की विशिष्ट मणियों की जानकारी प्राप्त

करना इस कला का विषय है।

**काकणीलक्षण—** काकिनीरत्न के लक्षण को जानना इस कला का विषय है। किन्तु प्राकृत शब्द महार्णव में काकिन का अर्थ कौड़ी और सिक्कों से लगाया गया है। अतः यहाँ काकिनी लक्षण का तात्पर्य कौड़ी अथवा रत्न विशेष की जानकारी होना चाहिए।

**वास्तुविद्या—** वास्तुविद्या, मकान-दुकान आदि इमारतों के शुभ-अशुभ लक्षण जानने की विद्या वास्तुविद्या है। वास्तुकला के अन्तर्गत नगरमान, वास्तुमान, स्कन्धावार निवेशम आदि का आभास होता है।<sup>६२</sup> स्कन्धावारमान, नगरमान, वास्तुमान, स्कन्धावार निवेशम, नगर निवेशम का आशय शिविर आदि को बसाने एवं उसके योग्य भूमि, गृह आदि का मान प्रमाण निश्चित करना है।<sup>६३</sup>

**खंदारमान—** सेना के पड़ाव के प्रमाण आदि को जानना, जैसे— लम्बाई, चौड़ाई तथा तद्विषयक अन्य प्रकार की जानकारी इस कला के अन्तर्गत है।

**नगरमान—** नया नगर बसाने आदि की कला नगरमान कला का विषय क्षेत्र है। 'समवायांग' में स्कन्धावारमान, नगरमान, वास्तुमान, स्कन्धावर निवेशम तथा नगरनिवेशम को अलग-अलग कला के रूप में गिनाया गया है।<sup>६४</sup>

**व्यूह—** युद्ध के समय व्यूह रचना बनाना इस कला के अन्तर्गत आता है।

**प्रतिव्यूह—** विरोधी के व्यूह के सामने प्रत्युत्तर में अपनी व्यूह रचना प्रतिव्यूह कला है।

**चार—** तीव्र गति से सैन्य संचालन करना इस कला के अन्तर्गत आता है। चार, प्रतिचार, व्यूह और प्रतिव्यूह आदि वे विधाएँ हैं जिनके द्वारा सेना को आगे बढ़ाना, शत्रु के चाल को विफल करना तथा व्यूह तोड़ने योग्य सेना को बनाना आदि कार्य सम्पन्न किये जाते हैं।

**प्रतिचार—** शत्रु सेना के समक्ष अपनी सेना को रणक्षेत्र में उतारने की कला प्रतिचार कहलाती है।

**चक्रव्यूह—** विरोधी के समक्ष चाक के आकार के समान मोर्चा बनाना चक्रव्यूह कला है।

**गरुड़व्यूह—** गरुड़ के आकार में अपनी सेना का व्यूहन करना गरुड़व्यूह कला है।

**शकटव्यूह—** गाड़ी के आकार में सेना को स्थापित कर सज्जित करना शकटव्यूह

कला है।

**युद्ध**— रणक्षेत्र में युद्ध करने की कला को युद्ध विद्या है। 'समवायांग' में बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, युद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध करने की कला को एक ही कला के अन्तर्गत रखा गया है।<sup>६५</sup>

**नियुद्ध**— विशेष युद्ध करने की कला, जैसे— कुशती लड़ने की कला को नियुद्ध की कला के अन्तर्गत रखा जाता है।

**युद्धातियुद्ध**— घमासान लड़ाई करने की कला को युद्धातियुद्ध कला कहा गया है।

**अस्थियुद्ध**— अस्थियों से युद्ध करने की कला अस्थियुद्ध कहलाती है।

**मुष्टियुद्ध**— मुष्टि से युद्ध करना अर्थात् मुक्का या घूसा मार कर युद्ध करने की कला मुष्टियुद्ध है।

**बाहुयुद्ध**— बाहुयुद्ध करने की कला जिसका दूसरा नाम मल्लयुद्ध भी है।

**लतायुद्ध**— लता के समान विरोधी को जकड़ लेना लतायुद्ध है। जिस प्रकार लता वृक्ष पर चढ़कर उसे जड़ से लेकर शिखर तक आवेष्टित कर लेती है उसी प्रकार जहाँ योद्धा-प्रतियोद्धा के शरीर को प्रगाढ़तया अपमर्दित कर भूमि पर गिरा देता है और उस पर चढ़ बैठता है।

**ईषु-अस्त्र**— वाणों और अस्त्रों को जानने की कला ईषु-अस्त्र है।

**त्सरुप्रवाद**— खड्गविद्या को त्सरुप्रवाद कहते हैं। खड्ग, तलवार आदि की मूठ बनाना इसका विषय है।

**धनुर्वेद**— धनुष-बाण-सम्बन्धी कौशल धनुर्वेद कला का विषय है। शब्दभेदी बाण आदि की विशिष्ट योग्यता का होना इस कला की विशेषता है।

**हिरण्यपाक**— चाँदी को गलाने, पकाने और भस्म आदि बनाने की कला हिरण्यपाक कला कहलाती है। 'समवायांग'<sup>६६</sup> में हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, धातुपाक आदि को एक ही कला के अन्तर्गत रखा गया है। कामसूत्र<sup>६७</sup> में भी विभिन्न कलाओं के साथ हिरण्यपाक, सुवर्णपाक आदि कलाओं का वर्णन है।

**सुवर्णपाक**— सोने को गलाने, पकाने और उसके प्रयोग करने की कला सुवर्णपाक कला कहलाती है।



**सूत्रछेदन**— सूत्र का छेदन करना इस कला का विषय है। 'समवायांग' में नाल छेदन, खेत जोतना, आदि को एक ही कला के अन्तर्गत माना गया है।<sup>६८</sup>

**खेत जोतने की कला**— अनाज पैदा करने के लिए खेत जोतने की कला वट्टखेड है।

**नालछेदन**— कमल के नाल का छेदन कर नली बनाने की कला इसके अन्तर्गत आती है।

**पत्रछेदन**— पत्रों या पत्तों या वृक्षांग को भेदने की कला इसका विषय है।

**कड़ाछेदन**— युद्ध में सैनिकों को बेधने की कला इसका विषय है। किन्तु 'समवायांग' में पत्रछेदन कला के समान ही कला-कुण्डल आदि का छेदन करना इस कला का विषय बताया गया है।<sup>६९</sup>

**सजीव**— मृत अथवा मृततुल्य (मूर्च्छित) व्यक्ति को जीवित करना सजीव कला कहलाती है। 'समवायांग' में सजीव और निर्जीव को एक ही कला के अन्तर्गत माना गया है।<sup>७०</sup>

**निर्जीव**— जीवित को मृत तुल्य करने की कला निर्जीव कला कहलाती है।<sup>७१</sup>

**पक्षी की बोली पहचानने की कला**— पक्षियों की बोली पहचानना अर्थात् उनके शब्द से शुभ-अशुभ जानने की कला इसके अन्तर्गत आती है।

इस प्रकार जैन-साहित्य में ७२ कलाओं का वर्णन अनेक स्थानों पर किया गया है। यद्यपि हरिभद्रसूरि<sup>७२</sup> ने ८९ कलायें बतायी हैं लेकिन जैन ग्रन्थों में सामान्य रूप से पुरुषों के लिए ७२ तथा स्त्रियों के लिए ६४ कलाओं का वर्णन आया है। महिलाओं की चौसठ<sup>७३</sup> कलाओं के नाम इस प्रकार से हैं—

(१) नृत्य	(२) औचित्य	(३) चित्र
(४) वादित्र	(५) मन्त्र	(६) तन्त्र
(७) ज्ञान	(८) विज्ञान	(९) दम्भ
(१०) जलस्तम्भ	(११) गीतमान	(१२) तालमान
(१३) मेघवृष्टि	(१४) जलवृष्टि	(१५) आरामरोपण
(१६) आकारगोपन	(१७) धर्मविचार	(१८) शकुनविचार
(१९) क्रियाकल्प	(२०) संस्कृतजल्प	(२१) प्रासाद-नीति

(२२) धर्मरीति	(२३) वर्णिका-वृद्धि	(२४) सुवर्ण-सिद्धि
(२५) सुरभि-तैलकरण	(२६) लीलासंचरण	(२७) हय-गज-परीक्षण
(२८) पुरुष-स्त्री-लक्षण	(२९) हेमरत्न-भेद	(३०) अष्टादा-लिपि-परिच्छेद
(३१) तत्काल-बुद्धि	(३२) वास्तुसिद्धि	(३३) काम-विक्रिया
(३४) वैद्यक-क्रिया	(३५) कुम्भ-भ्रम	(३६) सारिश्रम
(३७) अंजनयोग	(३८) चूर्णयोग	(३९) हस्तलाघव
(४०) वचन-पाटव	(४१) भोज्य-विधि	(४२) वाणिज्य-विधि
(४३) मुखमण्डन	(४४) शालिखण्डन	(४५) कथा-कथन
(४६) पुष्पग्रन्थन	(४७) वक्रोक्ति	(४८) काव्यशक्ति
(४९) स्फार-विधि-वेश	(५०) सर्वभाषा विशेष	(५१) अभिधान ज्ञान
(५२) भूषण परिधान	(५३) भूत्योपचार	(५४) गृहोपचार
(५५) व्याकरण	(५६) परनिराकरण	(५७) रन्धन
(५८) केशबन्धन	(५९) वीणानाद	(६०) वितण्डावाद
(६१) अंकविचार	(६२) लोकव्यवहार	(६३) अन्त्याक्षरिका
(६४) प्रश्नप्रहेलिका आदि।		

अतः कहा जा सकता है कि प्राचीनकाल में कलाओं का अध्ययन बहुत ही व्यापक रूप में होता था। बहत्तर कलाओं या चौंसठ कलाओं में जीवन के सम्पूर्ण दृष्टिकोणों का ज्ञान समाहित था। जैन शिक्षा-प्रणाली की विशेषता कलाओं के चयन की इस दूरदर्शिता से ही परिलक्षित होती है। कलाओं के अध्ययन तथा इनके अभ्यास से जीवन में एक प्रकार की जागृति उत्पन्न हो जाती है तथा जीवन पूर्णता को प्राप्त करता है। गीत, नृत्य आदि मनोरंजन के विषयों की भी उपेक्षा नहीं की गयी है। शिल्प आदि कारीगरी की समस्त शाखाओं का समावेश किया गया है। यही नहीं बल्कि युद्ध-सम्बन्धी बारीक से बारीक तरीके भी बताये गये हैं। अतः यह कह सकते हैं कि इन कलाओं में शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास की शक्ति निहित है।

बहत्तर कलाओं के अतिरिक्त विद्यार्थियों को अन्य विषयों की भी शिक्षाएं दी जाती थीं। सामान्यतया शिक्षा केन्द्रों में वे ही विषय छात्रों को पढ़ाये जाते थे जिनसे उनका बौद्धिक विकास हो तथा जो उनके जीवन में उपयोगी हो सके।<sup>७४</sup> जैन ग्रन्थों में निम्नलिखित विषयों का वर्णन आया है—

(१) वेद— जैन ग्रन्थों में तीन वेदों का उल्लेख मिलता है। यथा- 'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद' और 'सामवेद'।<sup>७५</sup>

(२) वैदिक ग्रन्थों में निम्नलिखित शास्त्रों के उल्लेख हैं—

**छः वेद**— 'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद', 'सामवेद', 'अथर्ववेद', इतिहास और निघण्टु।

**छः वेदाङ्ग**— गणित, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष।

**छः उपाङ्ग**— इसमें वेदाङ्गों में वर्णित विषय और षष्ठितन्त्र सम्मिलित हैं।<sup>७६</sup>

(३) 'उत्तराध्ययन की टीका'<sup>७७</sup> में चौदह विद्यास्थानों को गिनाया गया है, जो निम्न प्रकार से हैं— छः वेदाङ्ग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र।

(४) 'अनुयोगद्वार'<sup>७८</sup> और 'नन्दी'<sup>७९</sup> में भी लौकिक श्रुत का उल्लेख किया गया है जिसमें भारत, रामायण, भीमासुरोक्त (भीमासुरूक्खं), कौटिल्य, शकटभद्रिका (सगदिभदिआऊ), धोटक मुख, कार्पासिक, नागसूक्ष्म, कनकसप्तति, वैशेषिक, बुद्धवचन, त्रैराशिक, कापिलीय, लोकायत, षष्ठितन्त्र, माठर, पुराण, व्याकरण, भागवत, पातञ्जलि, पुष्यदैवत, लेख, गणित, शकुनिरूत, नाटक अथवा बहत्तर कलाएँ और चार वेद अंगोपांग आदि विषयों को सम्मिलित किया गया है।

'स्थानांग' में नौ पापश्रुत<sup>८०</sup> स्वीकार किये गये हैं। स्वहित एवं परहित की भावना

से इन पापश्रुतों का भी ज्ञान विद्यार्थियों को कराया जाता था—

(१) **उत्पात**— रुधिर की वृष्टि अथवा राष्ट्रोत्पात का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र या प्रकृति विप्लव और राष्ट्र विप्लव का सूचक शास्त्र।

(२) **निमित्त**— अतीत काल के ज्ञान का परिचायक शास्त्र, जैसे कूटपर्वत आदि।

(३) **मन्त्रशास्त्र**— भूत, वर्तमान और भविष्य के फल का प्रतिपादक शास्त्र।

(४) **आख्यायिका**— मातंगी विद्या जिससे चाण्डालिनी भूतकाल की बातें कहती है।

(५) **चिकित्सा**— रोगनिवारक औषधियों का प्रतिपादक आयुर्वेद शास्त्र।

(६) **लेख आदि बहत्तर कलायें अर्थात् कलाश्रुत**— स्त्री-पुरुषों की कलाओं का प्रतिपादक शास्त्र।

(७) **आवरण (वास्तुविद्या)**— भवन निर्माण सम्बन्धी वास्तुशास्त्र।

- (८) अज्ञान (अण्णाण)— नृत्य, काव्य, नाटक, संगीत आदि लौकिक श्रुतशास्त्र।  
 (९) मिथ्याप्रवचन (मिच्छापवचण)— बुद्ध शासन आदि कुतीर्थिक मिथ्यात्वियों के शास्त्र।

### बौद्ध परम्परा

बौद्ध दर्शन का भी हमारे देश की शिक्षा के स्वरूप निर्धारण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। बौद्ध शिक्षा के स्वरूप को संक्षेप में 'माध्यमिककारिका' के निम्नलिखित श्लोक से समझा जा सकता है—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।

लोक संविति सत्यं च सत्यं च परमार्थना॥<sup>८१</sup>

अर्थात् शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य को लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों जीवन के योग्य बनाती है। पारमार्थिक जीवन से तात्पर्य निर्वाण से है। अतः बौद्ध दर्शन के अनुसार वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य को निर्वाण की प्राप्ति कराये।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने बौद्ध-शिक्षा का उद्देश्य बताते हुए कहा है—बुद्ध किसी भी तथ्य को विश्वास की कच्ची नींव पर रखना नहीं चाहते थे, प्रत्युत् तर्कबुद्धि की कसौटी पर सब तत्त्वों को कसना बुद्ध की शिक्षा का प्रधान उद्देश्य था।<sup>८२</sup>

### आध्यात्मिक शिक्षा का उद्देश्य

बौद्ध शिक्षा निवृत्तिप्रधान है। इसका उद्देश्य जीवन में निर्वाण प्राप्त करना है। निर्वाण की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है। कुछ विद्वानों ने निर्वाण का अर्थ 'जीवन का अन्त' किया है तो कुछ ने 'बुझ जाना'। किन्तु बौद्ध परम्परा में निर्वाण शब्द का अर्थ होता है— वासना की अग्नि का बुझ जाना। निर्वाण में लोभ, घृणा, क्रोध और भ्रम की अग्नि बुझ जाती है। कामास्रव, भवास्रव एवं अविद्यास्रव आदि मन की अशुद्धि का नष्ट हो जाना निर्वाण है।<sup>८३</sup> 'धम्मपद' में निर्वाण को एक आनन्द की अवस्था, परमानन्द, पूर्ण शान्ति और दुःखों का अन्त कहा गया है।<sup>८४</sup> इस आनन्द की अवस्था को प्राप्त करना ही आध्यात्मिक शिक्षा का उद्देश्य है।

### लौकिक शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है जो मनुष्य को इस योग्य बनाती है कि वह समाज में एक विनीत एवं योग्य नागरिक के रूप में रह सके तथा अप्रत्यक्ष रूप

से इहलोक और परलोक दोनों में आत्मिक विकास कर सके। लौकिक दृष्टि से बौद्ध शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व को सुखी बनाना<sup>८५</sup> तथा देश-व्यवहार के ज्ञान को प्राप्त कराना था।<sup>८६</sup> इसके साथ ही विद्यार्थी को धर्म और विनय की आवश्यक बातें समझाना जिससे कि वह भलीभाँति यह समझ सके कि गलत सिद्धान्त कौन से हैं और वाद-विवाद करके अन्य व्यक्तियों को सही सिद्धान्त ग्रहण करने और गलत सिद्धान्त को छोड़ने के लिए राजी कर सके, लौकिक शिक्षा के अन्तर्गत आते थे।<sup>८७</sup>

‘जातकों’ में प्राप्त इन उद्धरणों से शिक्षा के उद्देश्यों पर प्रकाश पड़ता है- एक ‘जातक’ में लिखा है कि राजा लोग चाहे उनके नगर में ही अच्छे विद्वान् क्यों न हों, अपने पुत्रों को दूर की शिक्षण संस्थाओं में पढ़ने के लिये इसलिए भेजते थे कि उनमें अभिजात कुल में जन्म होने के कारण जो अहंकार होता था वह दूर हो जाये, वे गर्मी और सर्दी को सहन कर सकें और लोकव्यवहार से परिचित हो सकें।<sup>८८</sup> अतः कहा जा सकता है कि बौद्ध लौकिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थी का शारीरिक, चारित्रिक एवं नैतिक विकास करना था। शिक्षा ही मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सच्चे पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य करती है और मनुष्य में अन्तर्निहित अवगुणों और अमानवीय विकारों को मिटाकर उसे सक्षम बनाने का प्रयास करती है।

### आध्यात्मिक शिक्षा के विषय

आध्यात्मिकता के विषय में बुद्ध हमेशा मौन धारण किये रहते थे। एक बार मालुक्यपुत्र ने बुद्ध से लोक के शाश्वत-अशाश्वत, अन्तवान-अनन्तवान होने तथा जीव-देह की भिन्नता-अभिन्नता के विषय में दस मेण्डक प्रश्नों को पूछा था। लेकिन बुद्ध ने अव्याकृत बतलाकर उनकी जिज्ञासा को शान्त कर दिया था।<sup>८९</sup> पोट्टपाद परिव्राजक ने भी इन्हीं प्रश्नों को पूछा तो बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा— न यह अर्थयुक्त है, न धर्मयुक्त, न आदि ब्रह्मचर्य के लिए उपयुक्त, न निर्वेद के लिए, न विराग के लिए, न निरोध अर्थात् क्लेशनाश के लिए, न उपशम के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न संबोधि अर्थात् परमार्थ ज्ञान के लिए और न निर्वाण के लिए। इसीलिए मैंने इसे अव्याकृत कहा है तथा व्याकृत किया है— दुःख को, दुःख के हेतु को, दुःख के निरोध को तथा दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद को।<sup>९०</sup>

### चार आर्यसत्य

‘चार आर्यसत्य’ बौद्ध दर्शन का मूल सिद्धान्त है जिसका जानना और समझना बौद्ध-परम्परा के अनुसार आवश्यक है। बुद्ध के अनुसार प्राणी के लिये रोग, जरा और मरण संसार का सबसे बड़ा दुःख है और इन्हीं दुःखों के निदान के लिए बुद्ध ने

चार आर्यसत्त्यों की स्थापना की। 'आर्यसत्य' नाम की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि जिन सत्त्यों को केवल आर्य ही समझते हैं, उन्हें आर्यसत्य कहते हैं। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि आर्य लोग कौन होते हैं? इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि वे आँख की तरह होते हैं जिन्हें छोटे से भी कष्ट का अनुभव होता है, जैसे आँख में ऊन का छोटा-सा कण पड़ जाने से आँख को कष्ट पहुँचता है। अन्य लोग हथेली की तरह होते हैं जिन्हें बड़ा से बड़ा कष्ट भी उद्विग्न नहीं कर पाता है।<sup>९१</sup> ये चार आर्यसत्य निम्न हैं—

(१) दुःख, (२) दुःख समुदय, (३) दुःख निरोध, (४) दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद।

व्यास<sup>९२</sup> ने अध्यात्मशास्त्र को चिकित्साशास्त्र के समान चतुर्व्यूह बताया है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोगहेतु, आरोग्य तथा भैषज्य है उसी प्रकार दर्शनशास्त्र में संसार अर्थात् दुःख, दुःख हेतु, मोक्ष अर्थात् दुःख का नाश तथा मोक्ष के उपाय— ये चार सत्य माने जाते हैं।

## दुःख

इस जगत और जीवन में जो कुछ भी हम देखते हैं वह सब दुःखमय है। जीवन और जगत को देखकर उस पर मनन एवं चिन्तन करके बुद्ध इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संसार में सभी दुःखी हैं— चाहे वे मनुष्य हों या पशु, चाहे पक्षी हों या जीव-जन्तु। जन्म कष्टमय है, नाश कष्टमय है, रोग कष्टमय है तथा मरण भी कष्टमय है। प्रिय वस्तु का संयोग सुखमय है और प्रिय वस्तु के साथ वियोग दुःखमय है। ठीक इसके विपरीत अरुचिकर का संयोग दुःखमय है और सुखकर का वियोग कष्टमय है। इतिहास सभी कुछ कष्टमय है। संक्षेप में राग से उत्पन्न पञ्चस्कन्ध ही कष्टमय है। 'धम्मपद' में कहा गया है कि यह संसार जलते हुए घर के समान है, तो इसमें हंसी क्या हो सकती है और आनन्द कौन-सा मनाया जा सकता है?<sup>९३</sup>

## दुःख समुदय

दूसरा आर्यसत्य दुःखों के कारणों के विषय में है जिसे दुःख समुदय के नाम से जाना जाता है। समुदय का अर्थ होता है- कारण। दुःखों का मूल कारण है- जन्म-मरण के चक्कर को चलाने वाली 'तृष्णा'। भगवान् बुद्ध ने कहा है— हे भिक्षुगण, दुःख समुदय दूसरा आर्यसत्य है। दुःख का वास्तविक हेतु तृष्णा है जो बार-बार प्राणियों को उत्पन्न करती है, विषयों के राग से युक्त होती है तथा उन विषयों का अभिनन्दन करनेवाली होती है। यह तृष्णा तीन प्रकार की है— कामतृष्णा, भवतृष्णा तथा विभवतृष्णा।<sup>९४</sup>

**कामतृष्णा**— जो तृष्णा इन्द्रिय सुखों के लिए होती है उसे कामतृष्णा कहते हैं।

**भवतृष्णा**— जो तृष्णा जीवन के लिए होती है वह भवतृष्णा है।

**विभवतृष्णा**— जो तृष्णा वैभव और विलास के लिए होती है वह विभवतृष्णा है।

तृष्णा सबसे बड़ा बन्धन है जो संसार तथा संसार के जीवों को बांधे हुए है। 'धम्मपद' में कहा गया है - धीर पुरुष लोहे, लकड़ी तथा रस्सी के बन्धन को टूट नहीं मानते हैं। वस्तुतः सारवान पदार्थों में रत होना या मणि, कुण्डल, पुत्र तथा स्त्री में इच्छा का होना टूट बन्धन है।<sup>९५</sup> पुनः मकड़ी का उदाहरण देते हुए कहा गया है— जिस प्रकार मकड़ी अपने ही जाल बुनती है और अपने ही उसमें बँधी रहती है, उसी प्रकार जीव भी तृष्णारूपी जाल में मकड़ी की भाँति बँधा रहता है।<sup>९६</sup> तृष्णा आदि सभी कारण अविद्या से उत्पन्न होते हैं। जरा-मरण, जाति, भव आदि का मूल कारण अविद्या ही है। अविद्या के कारण ही जीव इस भवचक्र में पड़ता है।

### दुःख निरोध

दुःख का नाश सम्भव है। दुःख के नाश को दुःख निरोध कहा जाता है। जब वासना, तृष्णा आदि सर्वथा नष्ट हो जाती हैं तब दुःख का नाश हो जाता है। दुःख नाश अर्थात् तृष्णा का त्याग, उससे अलग होना, उससे मुक्ति, उसे जीवन में स्थान न देना आदि। दुःख नाश के फलस्वरूप निर्वाण की प्राप्ति होती है। निर्वाण का अर्थ जीवन का समाप्त हो जाना नहीं होता, बल्कि दुःखों का समाप्त हो जाना होता है। दुःख का बुझ जाना निर्वाण है, जीवन का बुझ जाना नहीं। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति की उपमा शैल से दी जाती है— जिस प्रकार प्रचण्ड झंझावात पर्वत को उसके स्थान से च्युत नहीं कर सकता, भयंकर आंधी के चलने पर भी पर्वत एक रस, अडिग, अच्युत बना रहता है, ठीक उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त व्यक्ति रूप, रस, गन्धादि विषयों के थपेड़ों से जरा-सा भी विचलित नहीं होता है, बल्कि वह आस्रवों से रहित होकर अखण्ड शान्ति का अनुभव करता है।<sup>९७</sup>

### दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्

चार आर्यसत्त्यों में चौथा है— दुःखनिरोध मार्ग। भगवान् बुद्ध ने केवल दुःखों के कारण ही नहीं बतलाये, बल्कि उन कारणों को दूर करके दुःख से छुटकारा पाने का मार्ग भी प्रशस्त किया। दुःखनिरोध-मार्ग के रूप में इस आर्यसत्य के आठ अंग

हैं जिसे अष्टाङ्गिक मार्ग के नाम से अभिहित किया जाता है। इस मार्ग पर चलने से व्यक्ति अपने दुःखों का नाश कर पाता है और निर्वाण को प्राप्त करता है। अतः उसे समस्त मार्गों में श्रेष्ठ माना गया है।<sup>१८</sup> भगवान् बुद्ध ने इसी मार्ग को ज्ञान की विशुद्धि के लिए तथा मार को मोहित करने के लिए ग्रहणीय बतलाया है।<sup>१९</sup> अष्टाङ्गिक मार्ग का जो स्वरूप बतलाया गया है, वह इस प्रकार है—

(१) **सम्यक्-दृष्टि**— अविद्या के कारण संसार तथा आत्मा के सम्बन्ध में मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है, जैसे- आत्मा अमर है, संसार सत्य है आदि। इस प्रकार हम अनित्य, दुःखमय और अनात्म वस्तु को नित्य समझने लगते हैं। इस मिथ्या-दृष्टि को छोड़कर वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप पर ध्यान रखने को सम्यक्-दृष्टि कहते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म के दो भेद हैं - कुशल तथा अकुशल। इन दोनों कर्मों को भली प्रकार से जानना 'सम्यक्-दृष्टि' है। 'मज्झिमनिकाय'<sup>१००</sup> में कर्मों का विवेचन इस प्रकार से है—

#### कायिक कर्म -

कुशल	अकुशल
(१) अहिंसा	- प्राणातिपात अर्थात् हिंसा करना।
(२) अचौर्य	- अदत्तादान अर्थात् चोरी करना।
(३) अव्यभिचार	- मिथ्याचार अर्थात् व्यभिचार।

#### वाचिक कर्म -

(१) अमृषा वचन	- मृषा वचन अर्थात् झूठ बोलना।
(२) अपिशुनवचन	- पिशुन वचन अर्थात् चुगली खाना।
(३) अपरुष वचन	- परुष वचन अर्थात् कटुवचन बोलना।

#### मानसिक कर्म -

(१) अलोभ	- अभिध्या अर्थात् लोभ करना।
(२) अप्रतिहिंसा	- व्यापाद अर्थात् प्रतिहिंसा।
(३) अमिथ्यादृष्टि	- मिथ्यादृष्टि अर्थात् झूठी धारणा रखना।

उपर्युक्त कर्मों का सम्यक्-ज्ञान होना आवश्यक है।

(२) **सम्यक्-संकल्प**— सम्यक्-संकल्प का अर्थ होता है- सम्यक्-निश्चय।



इन्द्रिय सुखों से लगाव अर्थात् विषय की कामना, दूसरों के प्रति बुरी भावनाओं अर्थात् द्रोह करना तथा हानि पहुँचाने वाले विचारों अर्थात् हिंसा को समूल छोड़ देने का निश्चय ही सम्यक्-संकल्प है। सम्यक्-दृष्टि सम्यक्-संकल्प में परिवर्तित होनी चाहिए।

(३) **सम्यक्-वचन**— संकल्प केवल मनसा ही नहीं होना चाहिए बल्कि वचन में भी होना चाहिए। सम्यक्-संकल्प से व्यक्ति अपने विचारों को शुद्ध बनाता है तथा सम्यक्-वचन से मनुष्य अपनी वाणी पर नियन्त्रण करना सीखता है। जिन वचनों से दूसरों के हृदय को चोट पहुँचे, जो वचन कटु हो, जिनसे दूसरों की निन्दा हो, व्यर्थ का बकवास हो उन वचनों का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए। शत्रुता को कठोर शब्दों से नहीं बल्कि अवैर अर्थात् अच्छी भावनाओं से दूर किया जाता है। 'धम्मपद' में कहा गया है कि वैर की शान्ति कटुवचनों से नहीं होती प्रत्युत् अवैर से होती है।<sup>१०१</sup> मन को शान्त करनेवाला एक हितकारी शब्द हजारों निरर्थक शब्दों से अच्छा है। जिस प्रकार सुन्दर वर्णयुक्त पुष्प गन्धवान होने से सफल होता है उसी प्रकार आचरण में प्रयोग करनेवाले की सुभाषित वाणी भी सफल एवं सार्थक होती है।<sup>१०२</sup>

(४) **सम्यक्-कर्मन्त**— जन्म-मरण, सद्गति-असद्गति आदि का कारण कर्म ही होता है। कर्म के कारण ही जीव इहलोक तथा परलोक में क्रमशः सुख-दुःख तथा स्वर्ग-नरक का गामी बनता है। हिंसा, चोरी, कामुकता, असत्य, अतिभोजन, सामाजिक मनोरंजनों में जाना आदि कार्यों का सर्वथा त्याग करना सम्यक्-कर्म है। ये सब नियम भिक्षुओं के लिए अनिवार्य बताये गये हैं। पाँच कर्मों का पालन करना प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है। पाँच कर्म जिन्हें पंचशील की संज्ञा दी गयी है वे हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और सुरा मैरय पदार्थों का असेवन आदि।<sup>१०३</sup> सामान्यजनों के लिए इनके अतिरिक्त और भी नियम बताये गये हैं, जैसे— अपनी सन्तान को अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा और पारिवारिक कर्तव्य करने योग्य बनाना चाहिए। छात्रों को विद्याध्ययन, गुरुजनों का आदर, बड़ों की आज्ञा का पालन और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। गुरुजनों को विद्यार्थियों से प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए और उनमें सद्गुण उत्पन्न करके कला और विज्ञान में पारंगत करना चाहिए। पति को पत्नी का आदर करना चाहिए, उसके प्रति वफादार रहना चाहिए। पत्नी को भी पति से प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। ये सामान्यजनों के लिए सामान्य नियम हैं।<sup>१०४</sup>

(५) **सम्यक्-आजीविका**— सम्यक्-आजीविका का अर्थ होता है- शुद्ध उपायों से जीविका का उपार्जन करना। अर्थात् मनुष्य को इस प्रकार की आजीविका अर्जित करनी चाहिए जिनसे दूसरे प्राणियों को न किसी प्रकार का कष्ट पहुँचे और न उनकी

हिंसा ही हो। बुद्ध ने पाँच प्रकार की जीविकाओं को वर्जित माना है<sup>१०५</sup>—

१. सत्त्ववणिज्जा अर्थात् शस्त्र, हथियार आदि का व्यापार करना।
२. सत्त्ववणिज्जा अर्थात् प्राणी का व्यापार करना।
३. मंसवणिज्जा अर्थात् मांस का व्यापार करना।
४. मज्जवणिज्जा अर्थात् मद्य (शराब) आदि का व्यापार करना।
५. विसवणिज्जा अर्थात् विष का व्यापार करना।

बुद्ध ने इन आजीविकाओं को भी गृहणीय अर्थात् त्यागने योग्य बतलाया है—

तराजू की ठगी, बटखरे की ठगी, मान की ठगी, रिश्वत, वंचना, कृतघ्नता, सचियोग, छेदन, वध, डाका, लूटपाट आदि जीविका त्याग करने योग्य हैं।<sup>१०६</sup>

(६) **सम्यक्-व्यायाम**— इन्द्रियों पर संयम, अशुभ विचारों को रोकने और शुभ विचारों को जाग्रत रखने का प्रयत्न सम्यक्-व्यायाम है। अशुभ विचारों को रोकने के पाँच उपाय बताये गये हैं<sup>१०७</sup>—

१. शुभ विचार का चिन्तन करना।
२. बुरे विचार के कर्म में परिवर्तित हो जाने के परिणाम को देखना और इसके कारण का विश्लेषण कर उसके परिणाम को रोकना।
३. शारीरिक चेष्टा की सहायता से मन पर नियन्त्रण करना।
४. मन में किसी अशुभ भावना का चिन्तन न करना।
५. बाहर में किसी के साथ दुर्व्यवहार न करना।

(७) **सम्यक्-स्मृति**— शरीर, चित्त, वेदना या मानसिक अवस्था को उनके यथार्थ रूप में स्मरण रखना ही सम्यक्-स्मृति है। इन अवस्थाओं के यथार्थ रूप को भूल जाने से मिथ्या विचार मन में आते हैं, आसक्ति बढ़ती है और दुःख सहना पड़ता है। सम्यक्-समाधि के लिए सम्यक्-स्मृति की विशेष आवश्यकता पड़ती है। काय तथा वेदना का जैसा स्वरूप है, वैसा स्मरण सदा बनाये रखने में उनमें आसक्ति उत्पन्न नहीं होती है तथा चित्त अनासक्त होकर वैराग्य की ओर बढ़ता है एवं एकाग्र होने की योग्यता का सम्पादन करता है।

(८) **सम्यक्-समाधि**— उपर्युक्त सात नियमों के पालन से साधक का मन शुद्ध हो जाता है और वह अपने मन को एकाग्र करके समाधिरत होता है, क्योंकि

शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि उसे धारण करने की योग्यता शरीर में पैदा न हो।<sup>१०८</sup> ज्ञान के उदय के लिए शरीर शुद्धि परमावश्यक है और शरीर शुद्धि तब तक नहीं हो सकती है, जब तक कि चित्तशुद्धि नहीं होती और चित्तशुद्धि समाधि के द्वारा ही होती है। समाधि की चार अवस्थाएं हैं—

१. प्रथम अवस्था में साधक आर्यसत्त्यों पर विचार करते हुए विरक्ति, शुद्ध विचार तथा अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है।
२. दूसरी अवस्था में मनन आदि प्रयत्न दब जाते हैं, तर्क-वितर्क आवश्यक हो जाते हैं, सन्देह दूर हो जाते हैं तथा आर्यसत्त्यों के प्रति श्रद्धा बढ़ती है। इसमें चित्त में स्थिरता आती है तथा आनन्द एवं शान्ति का परिज्ञान होता है।
३. तीसरी अवस्था में साधक आनन्द और शान्ति के प्रति उदासीन हो जाता है। इसमें चित्त की साम्यावस्था और शारीरिक सुख का भाव भी रहता है।
४. यह अवस्था पूर्ण शान्ति की अवस्था होती है जिसमें सुख-दुःख सभी नष्ट हो जाते हैं। इसमें चित्त की साम्यावस्था, शारीरिक सुख और ध्यान का आनन्द-इनमें से किसी का विचार नहीं रहता है। यह पूर्ण शान्ति, पूर्ण विराग और पूर्ण निरोध की अवस्था है।

### शील, समाधि, प्रज्ञा

शील, समाधि और प्रज्ञा बौद्धधर्म-दर्शन के तीन महनीय तत्त्व हैं जो त्रिरत्न के नाम से जाने जाते हैं। त्रिरत्न अष्टांगिक मार्ग के प्रस्तुतीकरण की एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत अष्टांगिक मार्ग समाहित हो जाते हैं, जैसे— सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, प्रज्ञा के अन्तर्गत आते हैं। सम्यक्-वाक्, सम्यक्-कर्मन्त और सम्यक्-आजीविका शील के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति और सम्यक्-समाधि, समाधि के अन्तर्गत आते हैं। अतः शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में भी निर्वाण मार्ग का प्रतिपादन होता है।

**शील**— शील से तात्पर्य सात्विक कार्यों से है। इसके पाँच प्रकार बताये गये हैं— अहिंसा, अस्तेय, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य तथा नशा का त्याग। इन्हें पंचशील की संज्ञा दी गयी है।

**समाधि**— समाधि का वर्णन ऊपर किया गया है।

**प्रज्ञा**— शील और समाधि का फल है प्रज्ञा का उदय। जब तक प्रज्ञा का उदय नहीं होता है तब तक अविद्या का नाश नहीं होता है। प्रज्ञा के तीन प्रकार

होते हैं<sup>१०९</sup>

- (१) **श्रुतमयी**<sup>११०</sup>— जो ज्ञान श्रुत से या आप्तपुरुषों के वचनों से प्राप्त हो वह श्रुतमयी है।
- (२) **चिन्तामयी**<sup>१११</sup>— जो ज्ञान चिन्तन से प्राप्त हो वह चिन्तामयी है।
- (३) **भावनामयी**<sup>११२</sup>— जो ज्ञान समाधि से प्राप्त हो वह भावनामयी है।

‘दीपनिकाय’ में कहा गया है - प्रज्ञावान व्यक्ति नानाप्रकार की ऋद्धियाँ ही नहीं पाता प्रत्युत् प्राणियों के पूर्व जन्म का ज्ञान, परिचित ज्ञान, दिव्य श्रोत्र, दिव्य चक्षु तथा दुःखक्षय ज्ञान से सम्पन्न होता है।<sup>११३</sup> इस प्रकार शील, समाधि और प्रज्ञा के माध्यम से साधक निर्वाण की प्राप्ति करता है।

### लौकिक शिक्षा के विषय

बौद्धकालीन लौकिक शिक्षा के अन्तर्गत अन्य विषयों के साथ कला की शिक्षा भी दी जाती थी। शान्तिभिक्षु शास्त्री ने कलाओं की संख्या ९६ (छानबे) बतायी है,<sup>११४</sup> जो इस प्रकार हैं—

- (१) **लंघित**—लंबी कूद का ज्ञान होना।
- (२) **लिपि**— लिखने की कला अर्थात् अक्षर विद्या का ज्ञान होना। इस कला में ब्राह्मी, खरोष्ठी आदि चौंसठ प्रकार की लिपियों का ज्ञान कराया जाता था।<sup>११५</sup>
- (३) **मुद्रा**— हस्तरेखा विद्या का ज्ञान होना।
- (४) **गणना**— गणना अर्थात् गणितशास्त्र का परिज्ञान होना।
- (५) **संख्या**— अंकशास्त्र को जानना। अंकज्ञान की शिक्षा प्राचीनकाल से चली आ रही है।
- (६) **सालम्भ**— सालम्भ का अर्थ होता है मल्लविद्या अर्थात् बाहों से युद्ध करने की कला सालम्भ है।
- (७) **धनुर्वेद**— बाणों से दूर की वस्तु को भेदने की कला धनुर्वेद है।
- (८) **जवित**— दौड़ लगाने की कला को जवित कहते हैं।
- (९) **प्लवित**— दौड़कर ऊँची कूद लगाना प्लवित है।
- (१०) **तरण**— जल में तैरने व भागने की कला तरण है।
- (११) **इष्वस्त्र**— बाण चलाने की कला इष्वस्त्र है।

- (१२) **हस्तिग्रीवा**— हाथी पर चढ़ने-उतरने अर्थात् उस पर सवारी की कला का नाम हस्तिग्रीवा है।
- (१३) **अश्वपृष्ठ**— घोड़े पर चढ़ने-उतरने की कला अश्वपृष्ठ है।
- (१४) **रथ**— रथ चलाने की कला।
- (१५) **धनुष्कलाप**— धनुष विद्या अर्थात् धनुष चलाने की युक्तियों को जानना। इस कला के अन्तर्गत अक्षणवेध तथा बालवेध आदि आते हैं।
- (१६) **स्थैर्य**— स्थिरता और सामर्थ्य का ज्ञान होना स्थैर्य है।
- (१७) **सुशौर्य**— युद्ध में शूरता-वीरता दिखाना सुशौर्य है।
- (१८) **बाहुव्यायाम**— बाहों से कसरत करने की कला बाहुव्यायाम है।
- (१९) **अङ्गुशग्रह**— महावत विद्या अर्थात् हाथी चलाने की कला अङ्गुशग्रह है।
- (२०) **पाशग्रह**— जाल लगाने की कला पाशग्रह कहलाती है।
- (२१) **उधान**— शत्रु पक्ष पर ऊपर से आक्रमण करने की कला उधान कहलाती है।
- (२२) **निर्वाण**— युद्ध में आगे निकलने की कला निर्वाण है।
- (२३) **अवयान**— अर्थात् पीछे हटने की कला जानना अवयान है।
- (२४) **मुष्टिग्रह**— मुठ्ठी से पकड़ने की कला मुष्टिग्रह है।
- (२५) **पदबन्ध**— विशेष विधि से कदम बढ़ाने की कला पदबन्ध है।
- (२६) **शिखाबन्ध**— जूड़ा बांधने की कला का नाम शिखाबन्ध है।
- (२७) **छेद्य**— किसी वस्तु को काटने की कला छेद्य है।
- (२८) **भेद्य**— लक्ष्य को बेधने की कला भेद्य है।
- (२९) **दालन**— छेद करने की कला को दालन कहते हैं। इसे दारण नाम से भी जाना जाता है।
- (३०) **स्फलन**— उछालने की कला स्फलन है।
- (३१) **अक्षुण्णवेधित्व**— बिना वेदना किये बेधने की कला का नाम अक्षुण्णवेधित्व है।
- (३२) **मर्मवेधित्व**— मर्म को बेधने की कला मर्मवेधित्व है।

- (३३) **शब्दवेधित्व**— शब्द सुनकर लक्ष्य बेधने की कला शब्दवेधित्व है। इसे शब्दभेदी भी कहते हैं।
- (३४) **दृढ़प्रहारित्व**— दृढ़ आघात करने की कला को जानना दृढ़प्रहारित्व है।
- (३५) **अक्षक्रीड़ा**— घूत खेलने की कला अक्षक्रीड़ा है। 'ऋग्वेद' में भी अक्ष और पाशक्रीड़ा का उल्लेख आया है।<sup>११६</sup>
- (३६) **काव्यकरण**— कविता की रचना करना व अध्ययन करना काव्यकरण है।
- (३७) **ग्रन्थ**— गद्य-पद्य की प्रबन्ध रचना करना ग्रन्थ कला है। वैदिककाल में भी गाथापति<sup>११७</sup> आदि का उल्लेख मिलता है।
- (३८) **चित्र**— चित्र बनाने की कला जानना।
- (३९) **रूप**— रूप बोध करने की कला रूप है।
- (४०) **रूपकर्म**— रूप सजाने की कला रूप-कर्म है।
- (४१) **अधीत**— अध्ययन कार्य को जानना अधीत है।
- (४२) **अग्निकर्म**— अग्नि उत्पन्न करने की युक्ति अग्निकर्म कला है।
- (४३) **वीणा**— वीणा बजाने की कला जानना। कादम्बरी में भी वीणा का उल्लेख है।<sup>११८</sup>
- (४४) **वाद्य**— सभी प्रकार के वाद्यों को बजाने की कला का ज्ञान होना।
- (४५) **नृत्य**— नाचने की कला नृत्य है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में भी नृत्य, गीत, वाद्य आदि कलाओं का उल्लेख है।<sup>११९</sup>
- (४६) **गीत**— गायन कला जिसके अन्तर्गत स्वर, ताल तथा लय का महत्त्वपूर्ण स्थान है।
- (४७) **पठित**— ग्रन्थ वाचने की कला को पठित कहते हैं। पढ़ते समय शब्दों के उतार-चढ़ाव का ज्ञान भी इसी के अन्तर्गत आ जाता है।
- (४८) **आख्यान**— इतिहास तथा कहानी कहने की कला आख्यान है।
- (४९) **हास्य**— विनोद करने, मनोरंजन करने की कला हास्य है।
- (५०) **लास्य**— सुकुमार नृत्य करने की कला लास्य कहलाती है।
- (५१) **नाट्य**— अभिनय करने की कला नाट्य कहलाती है। प्राचीनकाल में नाट्य, नृत्य, गीत, वाद्य आदि को संगीत के अन्तर्गत माना जाता था।

- (५२) **विडम्बित**— स्वांग बनाने की कला जिसका दूसरा नाम ढोंग भी है।
- (५३) **माल्यग्रन्थन**— विभिन्न प्रकार के फूलों से माला गूँथने की कला माल्यग्रन्थन है।
- (५४) **संवाहित**— संवाहन अथवा अंगों को दबाने की कला संवाहित है।
- (५५) **मणिराग**— श्वेत मोतियों को विभिन्न रंगों में रंगने की कला मणिराग कहलाती है।
- (५६) **वस्त्रराग**— कपड़ों को रंगने की कला वस्त्रराग कहलाती है।
- (५७) **मायाकृत**— जादूगरी या इन्द्रजाल अर्थात् माया द्वारा दूसरे को भ्रमित या अपने वश में करने की कला इसका विषय है।
- (५८) **स्वप्नाध्याय**— स्वप्न वृत्तान्त सुनकर उसके फल को कहने की कला स्वप्नाध्याय है। 'मिलिन्दपन्ह' में भी स्वप्न तथा चिह्नों के विधान का वर्णन आया है।<sup>१२०</sup>
- (५९) **शकुनिरुत्त**— पक्षियों की बोली तथा उनके शुभाशुभ फलों को बताने की कला शकुनिरुत्त है।
- (६०) **स्त्रीलक्षण**— स्त्रियों के शरीर, अंग-प्रत्यंगों के चिह्नों को देखकर भाग्यफल कहने की कला स्त्रीलक्षण का विषय है।
- (६१) **पुरुषलक्षण**— पुरुषों के शरीर चिह्नों को देखकर भाग्य कहने की कला पुरुषलक्षण का विषय है।
- (६२) **अश्वलक्षण**— घोड़े के खरे-खोटे फल होने के लक्षण कहने की कला को जानना तथा उसकी अच्छी-बुरी जातियों को पहचानना इस कला का विषय है।
- (६३) **हस्तिलक्षण**— हाथी के खरे-खोटे फल होने तथा अच्छी-बुरी जातियों के लक्षण को जानना इस कला का विषय है।
- (६४) **गोलक्षण**— गाय-बैल के खरे-खोटे फल होने के लक्षण व अच्छी-बुरी जातियों के लक्षण जानना इस कला का विषय है।
- (६५) **अजलक्षण**— बकरी-बकरा के खरे-खोटे फल के लक्षण व उसकी जातियों के लक्षण को जानना अजलक्षण है।
- (६६) **मिश्रलक्षण**— मेष अर्थात् भेड़ा-भेड़ी के खरे-खोटे फल के लक्षण व उसकी विभिन्न जातियों को जानने की कला मिश्रलक्षण है।

- (६७) **श्वरलक्षण**— कुत्ता-कुत्तियों के खरे-खोटे फल के लक्षण कहने व जातियों को जानने की कला श्वरलक्षण है।
- (६८) **कौटुभ**— श्रौत तथा गृह्य कर्मकाण्ड को जानना कौटुभ कला है।
- (६९) **निघण्टु**— पद संकलनात्मक कोशशास्त्र को निघण्टु कहते हैं। इसे निघण्ट भी कहते हैं।
- (७०) **निगम**— मन्त्रवचनों को जानना निगम है।
- (७१) **पुराण**— पुरावृत्त विद्या के पुराण नामक ग्रन्थ समूह को जानना पुराण कला है।
- (७२) **इतिहास**— देव, ऋषि, नृप आदि के चरित्रों का शास्त्र इतिहास है।
- (७३) **वेद**— मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् ग्रन्थों में विभक्त वाङ्मय वेद है।
- (७४) **व्याकरण**— शब्दों के वर्गीकरण तथा प्रकृति-प्रत्यय द्वारा विवेचन करने की विद्या व्याकरण है।
- (७५) **निरुक्त**— निरुक्त निर्वचन शास्त्र को कहते हैं।
- (७६) **शिष्या (शिक्षा)**— अ, आ आदि वर्ण उच्चारण करने का शास्त्र।
- (७७) **छन्दस्विनी**— छन्दोविचिती नामक छन्दशास्त्र जिसके अन्तर्गत छन्दों की रचना करना तथा काव्य बनाना आदि आता है।
- (७८) **यज्ञकल्प**— यज्ञों के विधि-विधान यज्ञकल्प के विषय हैं।
- (७९) **ज्योतिष**— नक्षत्रों तथा उसके शुभ-अशुभ फलों को बतानेवाला शास्त्र।
- (८०) **सांख्य**— तत्त्वों को गिनकर बताने की विद्या सांख्य कहलाती है।
- (८१) **योग**— ध्यान-समाधि आदि लगाने की विद्या योग का विषय है। योगाचार<sup>१२१</sup> शास्त्र को समझने के लिए बौद्ध विद्यार्थियों को निम्नलिखित ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ता था—  
 (क) 'विद्यामात्र विंशतिशास्त्र'। (ख) 'विद्यामात्र सिद्धित्रिदशशास्त्र कारिका'। (ग) 'महायान सपरिग्रहशास्त्र मूल'। (घ) 'अभिधर्म (संगीति) शास्त्र' (ङ) 'मध्यान्त विभागशास्त्र'। (च) 'निदानशास्त्र'। (छ) 'सूत्रालंकारशास्त्र'। (ज) 'कर्मसिद्धशास्त्र'।
- (८२) **क्रियाकल्प**— श्रृंगारादि करना इस कला का विषय है।
- (८३) **वैशिक**— गणिकाओं के मायाजाल की विद्या को जानना वैशिक कला है।



- (८४) **वैशेषिक**— वैदिक दर्शन की एक शाखा का नाम वैशेषिक है।
- (८५) **अर्थविद्या**— अर्थ के अर्जन एवं पालन करने की कला को जानना अर्थ विद्या है। इसे जीवन संचालन के लिए अत्यन्त ही आवश्यक माना गया है।
- (८६) **वार्हस्पत्य**— वृहस्पति द्वारा बनाये गये शास्त्र को वार्हस्पत्य कहते हैं।
- (८७) **आम्भिर्य**— साधना शक्ति से वृष्टि करवाना आम्भिर्य है।
- (८८) **आसुर्य**— असुरों की माया को जानना आसुर्य विद्या है।
- (८९) **मृगपक्षिरुत**— पशु-पक्षियों की बोली समझने की विद्या मृगपक्षिरुत है।
- (९०) **हेतुविद्या**— तर्कशास्त्र का ही दूसरा नाम हेतुविद्या है। हेतुविद्या में विशेष जानकारी के लिए सम्भवतः निम्नलिखित ग्रन्थों के भी अध्ययन करने पड़ते थे<sup>१२२</sup>—  
 (क) वह शास्त्र जिसके अध्ययन से तीनों विश्वों पर विचार किया जा सके, (ख) सर्वलक्षणाध्ययन शास्त्र, (ग) आलम्बन अत्यध्ययन शास्त्र, (घ) हेतुद्वार शास्त्र, (ङ) इसी के सदृश अन्य शास्त्र, (च) न्यायद्वार शास्त्र, (छ) प्रज्ञप्ति हेतु संग्रहशास्त्र, (ज) एकत्रित अनुमानों पर शास्त्र।
- (९१) **जलयन्त्र**— जल को दूर फेंकने की यन्त्रविद्या जलयन्त्र है।
- (९२) **मधुच्छिष्टकृत**— इस कला के अन्तर्गत मोम और लाख जैसी वस्तुओं द्वारा बनाये जानेवाले शिल्प आदि आते हैं।
- (९३) **सूचीकर्म**— इसके अन्तर्गत सिलाई-कढ़ाई आदि शिल्प आते हैं।
- (९४) **बिदलकर्म**— बुकों बशोर्ग के कार्य में नक्कारी करना इस कला का विषय है।
- (९५) **पत्रच्छेद्य**— शृङ्गार के लिए मुख पर फूल-पत्ते सजाना पत्रच्छेद्य कला है।
- (९६) **गन्धयुक्ति**— तेल आदि को सुगन्धित करने की कला को गन्धयुक्ति कहते हैं।

अतः कहा जा सकता है कि बौद्ध युग में कलाओं का बहुत ही गहराई से अध्ययन कराया जाता था। केवल ग्रन्थों में ही नहीं बल्कि अर्थ और प्रयोगात्मक रूप में भी सिखलाया जाता था।

‘मिलिन्दपन्ह’<sup>१२३</sup> में वर्ण-व्यवस्था के आधार पर पाठ्य विषयों को विभाजित किया गया है— ब्राह्मण चार वेद अर्थात् ‘ऋग्वेद’, ‘यजुर्वेद’, ‘सामवेद’, ‘अथर्ववेद’, इतिहास, पुराण, कोश, छन्द, उच्चारण विद्या, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छः वेदांग,

शरीर के शुभसूचक चिह्नों का ज्ञान, शकुन विज्ञान, स्वप्न और चिह्नों का विज्ञान, ग्रहों, भूकम्प, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, गणित, किंकर्तव्य विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन करते थे। क्षत्रिय हाथियों, अश्वों, धनुर्विद्या, रथों, खड्गविद्या, युद्धविद्या, दस्तावेजों का ज्ञान और मुद्रा विज्ञान का अध्ययन करते थे। अवशेष बचे हुए जैसे कृषि विज्ञान, वाणिज्य और पशुपालन की शिक्षा वैश्य और शूद्र प्राप्त करते थे।

पुनः उसी ग्रन्थ में कहा गया है कि राजा मिलिन्द ने उन्नीस प्रकार की शिक्षाएँ प्राप्त की थी, जो इस प्रकार हैं— श्रुति, स्मृति, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, गणित, संगीत, आयुर्वेद, चारों वेद, पुराण, इतिहास, ज्योतिष, माया (इन्द्रजाल), तर्कशास्त्र, सम्मोहन विद्या, युद्धकला, कविता (छन्द) और मुद्रा विज्ञान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था।<sup>१२४</sup>

‘जातकों’ में अट्ठारह प्रकार की शिक्षाएँ देखने को मिलती हैं जो इस प्रकार से हैं<sup>१२५</sup>—

- (१) वेद— ‘जातकों’ में तीन वेदों का उल्लेख आया है— ‘ऋग्वेद’, ‘सामवेद’ और ‘यजुर्वेद’। विद्यार्थी इन्हीं तीनों वेदों का अध्ययन करते थे।<sup>१२६</sup> प्रायः तीनों वेदों में पारंगत ब्राह्मण होते थे।<sup>१२७</sup>
- (२) वेदांग— वेद के साथ-साथ वेदांगों की भी शिक्षा दी जाती थी जिनकी संख्या छह है— शिक्षा, कल्प, निरुक्ति, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष।<sup>१२८</sup>
- (३-६) मन्त्र-विद्या,<sup>१२९</sup> भूतविद्या,<sup>१३०</sup> अंगविद्या,<sup>१३१</sup> योगविद्या<sup>१३२</sup> आदि।
- (७) स्मृति
- (८) मोक्ष ज्ञान।
- (९) क्रिया विधि।
- (१०) धनुर्वेद— इसके अन्तर्गत अक्षण वेध, बाल वेध तथा बारह प्रकार के शिल्प का प्रदर्शन किया जाता था।<sup>१३३</sup>
- (११) हस्तिशिक्षा— हाथी और अश्वों की चिकित्सा, उनकी देखभाल करना आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। जातकों में इस प्रकार की शिक्षा का उल्लेख है।<sup>१३४</sup>
- (१२) कामतन्त्र।
- (१३) लक्षण।

## (१४) पुराण।

(१५) **इतिहास** — इतिहास की भी पढ़ाई होती थी।<sup>१३५</sup> इन विषयों के अतिरिक्त आगमशास्त्र,<sup>१३६</sup> नीतिशास्त्र,<sup>१३७</sup> गन्धर्व शिल्प,<sup>१३८</sup> चिन्तामणि शिक्षा,<sup>१३९</sup> शास्त्रार्थ की शिक्षा<sup>१४०</sup> सार्यवाह<sup>१४१</sup> की शिक्षाएँ भी दी जाती थीं।

## (१६) नीति।

(१७) **तर्क** — जिसे हेतु विद्या भी कहते हैं।

## (१८) वैद्यक।

ये अष्टारह विद्याएँ जातक में वर्णित हैं। इनके अतिरिक्त सूत्रों के अन्तर्गत तीनों पिटक अर्थात् 'सुत्तपिटक', 'विनयपिटक' तथा 'अभिधम्मपिटक' की शिक्षा दी जाती थी।<sup>१४२</sup> मुक्तकण्ठ से सूत्रपाठ किया जाता था।<sup>१४३</sup> मन्त्रों की शिक्षा के साथ ही साथ उन्हें क्रम से पढ़ाया भी जाता था।<sup>१४४</sup> कुछ सूत्रों के नाम निम्नलिखित हैं— 'धोतक सकुणोवादसूत्र',<sup>१४५</sup> 'महावग्गसूत्र',<sup>१४६</sup> 'मेत्तसूत्र',<sup>१४७</sup> 'महागोविन्दसूत्र',<sup>१४८</sup> 'आनन्दपरियायसूत्र'<sup>१४९</sup> आदि।

अल्तेकर के मत में अष्टारह विद्याएँ (शिल्पों) निम्नलिखित हैं<sup>१५०</sup>—

- |                |                   |                            |
|----------------|-------------------|----------------------------|
| (१) वाद्य      | (२) गीत           | (३) नृत्य                  |
| (४) चित्रकला   | (५) नक्षत्रकर्म   | (६) अर्थशास्त्र            |
| (७) वास्तुकला  | (८) तक्षण         | (९) वार्ता                 |
| (१०) पशुपालन   | (११) व्यापार      | (१२) आयुर्वेद              |
| (१३) गजाश्व    | (१४) कानूनशास्त्र | (१५) युद्धकला और धनुर्वेद  |
| (१६) इन्द्रजाल | (१७) क्रीड़ा और   | (१८) मणिरागाकर ज्ञान, आदि। |

### तुलना

जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं के अध्ययन से जो भिन्नताएँ और समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे निम्नलिखित हैं—

१. जैन एवं बौद्ध दोनों ही शिक्षाएँ निवृत्तिप्रधान हैं।
२. दोनों ही शिक्षाओं का उद्देश्य मानव व्यक्तित्व का विकास करना है। विकास का अभिप्राय व्यक्ति के अन्तरंग एवं बाह्य सभी गुणों के विकास से है।

३. जैन शिक्षा व्यक्तित्व के चरम विकास की स्थिति को मोक्ष कहती तो बौद्ध शिक्षा दुःखों के अन्त को निर्वाण कहती है। यद्यपि दोनों के उद्देश्य एक ही हैं, मार्ग अलग-अलग हैं।
४. जैन शिक्षा आध्यात्मिक और लौकिक दोनों ही शिक्षाओं पर समान रूप से बल देती है जबकि बौद्ध शिक्षा आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में अव्याकृत है। यद्यपि दोनों ही परम्परा में मानव जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिए बहुत ही सूक्ष्मता से विचार किया गया है, परन्तु यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि उच्चकोटि की लौकिक शिक्षा प्राप्त कर लेने पर क्या धार्मिक शिक्षा के बिना मनुष्य अपने जीवन का विकास कर सकता है? क्योंकि लौकिक शिक्षा तो मनुष्य को जड़वाद की ओर अग्रसर करती है, अतः व्यक्ति को आत्मज्ञान नहीं हो सकता है। आध्यात्मिक शिक्षा के बिना मानव दानव का-सा व्यवहार करने लगेगा। उसे 'स्व' और 'पर' का अन्तर नहीं मालूम हो पायेगा। परिणामतः वह 'स्व' को ही जीवन का लक्ष्य मानकर उसके पीछे भागता रहेगा। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए लौकिक शिक्षा के साथ-साथ आध्यात्मिक शिक्षा भी जरूरी है।
५. पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में जैन शिक्षा के विषय अपने आप में पुष्ट एवं सर्वमान्य हैं, लेकिन बौद्ध शिक्षा के विषयों को लेकर कहीं-कहीं विरोधाभास नजर आते हैं, यथा— एक ओर 'विनयपिटक' में कहा गया है कि लोकायत नहीं सीखना चाहिए, जो सीखे उसे दुक्कट का दोष है, वहीं दूसरी ओर 'मिलिन्दपन्ह' में नागसेन के ज्ञान की प्रशंसा में कहा गया है कि वे तीनों वेद, निघण्टु, इतिहास, व्याकरण, लोकायत आदि शास्त्रों में पूर्ण निष्णात थे।
६. जैन शिक्षा में चार वेदों ('ऋग्वेद', 'यजुर्वेद', 'सामवेद' और 'अथर्ववेद') का अध्यापन होता था जबकि बौद्ध शिक्षा में तीन वेदों ('ऋग्वेद', 'यजुर्वेद' और 'सामवेद') का ही अध्ययन कराने का उल्लेख है।
७. जैन शिक्षा के अन्तर्गत ७२ कलाओं की संख्या स्वीकार की गयी है जबकि बौद्ध शिक्षा के अन्तर्गत ९६ कलाओं का समावेश है। बौद्ध शिक्षा प्रणाली में पुराण, इतिहास, वेद, व्याकरण, ज्योतिष, सांख्य योग, वैशेषिक आदि शास्त्रों को भी कलाओं के अन्तर्गत रखा गया है जो उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि कला का अर्थ होता है किसी भी कार्य को भली-भाँति कुशलतापूर्वक करना। जैन शिक्षा में ७२ कलाओं के अतिरिक्त इन सब विषयों को स्थान दिया गया है। जैन-परम्परा में महिलाओं के लिए ६४ कलाएँ बतायी गयी हैं, जबकि बौद्ध-परम्परा में महिलाओं के लिए अलग से कोई विधान नहीं है।

८. जैन परम्परा में १८ प्रकार की लिपियों का उल्लेख मिलता है जबकि बौद्ध परम्परा में ६४ प्रकार की लिपियों की मान्यता है।

कलाओं की संख्या में जो भिन्नता देखने को मिलती है वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि कलाओं का सम्बन्ध तत्कालीन शिक्षण-पद्धति के साथ है। सभी का प्रायः एक-दूसरे में समावेश हो जाता है। मुख्य बात ध्यान देने योग्य यह है कि दोनों ही सम्प्रदायों में कलाओं का चयन इस दूरदृष्टिता से किया गया है कि जीवन के सभी अंग समाहित हो जाते हैं।

### सन्दर्भ :

१. *Ancient Indian Education*, p. 8-9
२. 'तत्त्वार्थसूत्र', विवेक- पं० सुखलाल संघवी, १०/२.
३. वही, पृ०-१०.
४. चित्तमन्तमचितं वा परिगिज्झ किसामपि।  
अत्रं वा अणुजाणाई एवं दुक्खा णमुच्चई ॥ 'सूत्रकृतांग', १/१/२
५. कामा दुरतिक्कमा जीवियं दुप्पडिबूहगं।  
काम कामी खलु अयं पुरिसे से सोयति जूरति तिप्पति परितिप्पति।  
- 'आचारांग', २/९०.
६. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। 'तत्त्वार्थसूत्र', १/१.
७. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। वही, १/२.
८. 'तत्त्वार्थाधिगम', १/१/३
९. 'द्रव्यसंग्रह', श्लोक ४२.
१०. तत्त्वार्थसूत्र, पृ०-२.
११. 'जैन-धर्म में अहिंसा', पृ०-१८४.
१२. 'प्रश्नव्याकरण', पृ० ६१८.
१३. तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं। सूत्रकृताङ्गसूत्र, उद्धृत 'प्रश्नव्याकरण', हेमचन्द्रजी महाराज,  
पृ०-७१६.
१४. मूर्च्छा परिग्रहः। 'तत्त्वार्थसूत्र', ७/१२.
१५. कसिणं पि जो इमं लोयं पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।  
तेणावि से न सत्तुस्से इइ दुप्पूरए इमे आया।। 'उत्तराध्ययन', ८/१६.
१६. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकविलश्यमानाविनेयेषु। 'तत्त्वार्थसूत्र', ७/६.
१७. से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए संति विरंति उवसमं णिव्वाणं  
सोयवियं अज्जवियं मद्वियं लाघवियं अणतिवित्तियं। 'आचारांग', १/६/५/१९६

१८. तं जहा- खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाधवे, सच्चे, संजमे तवे, चिचाए, बंभचेरवासे। 'स्थानांग', १०/१६.
१९. 'समवायांग', १०/६१.
२०. उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः। 'तत्त्वार्थसूत्र', ९/६.
२१. कोहो पीईं पणासेइ, माणो विणयनासणो।  
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो॥ 'दशवैकालिक', ८/३७.
२२. उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।  
मायं चऽज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे॥ वही, ८/३८.
२३. 'तत्त्वार्थसूत्र', पृ० २०८.
२४. 'आवश्यकसूत्र', क्षमापणा पाठ।
२५. 'तत्त्वार्थसूत्र', पृ०-२०९.
२६. वही, पृ०-२१०.
२७. 'निशीथचूणि', ४६.
२८. 'प्रवचनसारोद्धार', द्वार २७०, गाथा १४९८.
२९. वही, पृ० २१०.
३०. 'प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान', पृ०-२८४.
३१. वही, पृ० २८४.
३२. 'समवायांग', ७२/३५६.
३३. 'ज्ञातार्थकथा', १/९९.
३४. 'औपपातिकसूत्र', १०७.
३५. 'राजप्रश्नीयसूत्र', पृ० २०७
३६. (१) ब्राह्मी, (२) यवनानी, (३) दोषउरिया, (४) खरोष्ट्रिका, (५) खरशाहिका (खरशापिता), (६) प्रभाराजिका, (७) उच्चतरिका, (८) अक्षरपृष्टिका, (९) भोगवतिका, (१०) वैनतिकी, (११) निन्हविका, (१२) अंकलिपि, (१३) गणितलिपि, (१४) गन्धर्वलिपि, (१५) आदर्शललिपि, (१६) माहेश्वरी, (१७) द्राविडी, (१८) पोलिंदी। 'समवायांग', १८  
'समवायांग' और 'प्रज्ञापना' में वर्णित अष्टारह लिपियों में कुछ अन्तर है। 'प्रज्ञापना' में अंतक्खरिया (अन्ताक्षरिका) लिपि का उल्लेख है जो 'समवायांग' में उपलब्ध नहीं होता है। 'समवायांग' में उच्चतरिया लिपि का उल्लेख है जो 'प्रज्ञापना' में अनुपलब्ध है। 'समवायांग' में खरसाहिया लिपि का उल्लेख मिलता है। इसके स्थान पर प्रज्ञापना में परिवर्तन के साथ 'पुक्खरसरिया' उल्लेख मिलता है।  
'उपदेशपद' में आचार्य हरिभद्र ने लिपियों के नामों का उल्लेख किया है जिसमें एक नाम 'उड्डी' प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'समवायांग' में 'दोउसरिया' लिपि

का उल्लेख मिलता है। ये दोनों नाम 'उरिया' लिपि की पृष्ठभूमि की ओर संकेत करते हैं।

हंसलिवी भयलिवी, जक्खी तह रक्खसी य बोधव्वा।

उड्डी जणवी फुडूक्की, कीडी दविडी य सिंघविया॥

मालविणी नड नागरि, लाडलिवी पारसीय बोधव्वा।

तह अनिमित्ता णेया, चाणक्की मूलदेवी या। 'उपदेशपद', वैयकिकीबुद्धिप्रकरण

मुनि पुण्यविजयजी के अनुसार ई०पू० ५०० से ३०० तक भारत की समस्त लिपियाँ ब्राह्मी के नाम से कही जाती थीं। 'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखनकला', पृ०-९

३७. 'प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान', पृ० २८६-८७.

३८. गीत, नृत्य, वाद्य, कौशल-लिपिज्ञान, उदारवचन, चित्रविधि, पुस्तकर्म, पत्रच्छेद्य, माल्यविधि, गन्धयुत्यस्वाद्यविधान, रत्नपरीक्षा, सीवन, रंगपरिज्ञान, उपकरणक्रिया, मानविधि, आजीवज्ञान, तिर्यग्योनिचिकित्सित, मायाकृतपाषण्डपरिज्ञान, क्रीडाकौशल, लोकज्ञान, वैचक्षण्य, संवाहन, शरीर-संस्कार और विशेष कौशल, आयुप्राप्ति, अक्षविधान, रूपसंख्या, क्रियामार्गण, बीजग्रहण, नयज्ञान, करणादान, चित्राचित्रविधि, गूढराशि, युल्याभिहार, क्षिप्रग्रहण, अनुप्राप्तिलेखस्मृति, अग्निकर्म, छलव्यामोह, ग्रहदान, उपस्थान-विधि, युद्ध, सत, गत, नृत्त, पुरुष का भावग्रहण, स्वराग-प्रकाशन, प्रत्यङ्गदान, नखदन्तविचार, नीवीसंसन, गुह्याङ्ग का संस्पर्शनानुलोम्य, परमार्थ-कौशल, हर्षण, समानार्थता-कृतार्थता, अनुप्रेत्साहन, मृदुक्रोधप्रवर्तन, सम्यक्क्रोध-निवर्तन, क्रुद्धप्रसादन, सुप्त-परित्याग, चरमस्वापविधि गुह्यगूहन, साश्रुपात रमण को शापदान, स्वशपथक्रिया, प्रस्थितानुगमन और पुनः पुनर्निरीक्षण 'कामसूत्र', १/३-१६.

३९. 'कल्पसूत्र', १/१०.

४०. 'ऋषिभदेव : एक परिशीलन', पृ०-१४९

४१. 'छान्दोग्योपनिषद्', ७/१.

४२. 'स्थानांगसूत्र', ४/४/६३२, ६३३, ६३४, ६३७

४३. 'राजप्रश्नीय टीका', पृ०-१३६.

४४. 'कुवलयमालाकहा', २२/१-१०; कादम्बरी, पृ०-२३१-३२.

४५. 'समवायांग', ७७/३५६, 'कादम्बरी', पृ०-२३१-३२.

४६. शंख, शृंग (रणसिंगा), शंखिका, खरमुकई, पेया, पिरिपिरिका, पणव (ढोल), पटह (नगाड़ा), भंभा, होरम्भ, भेरी, झालर, दुन्दुभि, मुरज, मृदंग, नन्दीमृदंग, आलिंग, कुस्तुंबा, गोमुखी, मादला, वीणा, विपंची, वल्लकी, षड्भ्रामरी वीणा, भ्रामरी वीणा, बध्वीसा, परिवादिनी वीणा, सुघोषाघंटा, नंदीघोषघंटा, सौ तार की वीणा, काछवी वीणा, चित्र वीणा, आमोट, झंझा, नकुल, तूण, तुंब वीणा (तम्बूरा), मुकुन्द,

हुडुक्क, विचिककी, करटी, डिमडिम, किणिक, कडंब, दर्दर, दर्दरिका, कलशिका, मडक्क, तल, ताल, कांस्य ताल, रिंगरिसिका, लत्तिका, मकरिका, शिशुमारिका, वाली, वेणु, परिली और बद्धका 'राजप्रश्नीय', ७७

४७. 'कादम्बरी', पृ० २३१-३२.
४८. 'समवायांगसूत्र', ७२/३५६.
४९. 'स्थानांगसूत्र', ७/१/३९; 'अनुयोगद्वार', पृ० ११७.
५०. 'ऋग्वेद', १०/३४/८.
५१. 'कामसूत्र', १/३-१६, तुलना के लिए देखिए- 'कुवलयमालाकहा', २२/१-१०.
५२. 'समवायांग', ७२/३५६.
५३. 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज', पृ० २९७
५४. 'कुवलयमालाकहा', २२/१-१०.
५५. 'समवायांग', ७२/३५६.
५६. 'ऋग्वेद', १/४३/४.
५७. वही, ५/४४/५.
५८. 'समवायांग', ७२/३५६.
५९. वही
६०. 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज', पृ० २९७.
६१. वही, पृ०-२९७.
६२. वही, पृ०-२९८.
६३. 'प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान', पृ० २९०.
६४. 'समवायांग', ७२/३५६.
६५. वही
६६. वही
६७. 'कामसूत्र', १/३-१६.
६८. 'समवायांग', ७२/३५६.
६९. वही
७०. वही
७१. तुलना के लिए देखिए- 'कामसूत्र' १/३-१६; 'समवायांग', ७२/३५६.
७२. 'समराइच्चकहा', पृ० ७३४-३५.
७३. 'जम्बूद्वीपपञ्चपि टीका'-२, पृ० १३६.
७४. 'प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका', पृ० १६०, १९३.
७५. 'स्थानांग', ३/३९८

जैनधर्म की यह मान्यता है कि ऋषभ के पुत्र भरत ने आर्य वेदों की रचना की थी



जिसके अन्तर्गत तीर्थङ्कर की स्तुति, यतिधर्म, श्रावक धर्म आदि का वर्णन किया गया था। तत्पश्चात् सुलसा, याज्ञवल्क्य आदि ने अनार्य वेदों की रचना की, जो आज उपलब्ध हैं- 'आवश्यकचूर्णि', पृ० ११५; 'सूत्रकृतांगचूर्णि', पृ०-१६.

७६. 'व्याख्याप्रज्ञप्ति', २/१
७७. 'उत्तराध्ययन', ५६-अ
७८. 'अनुयोगद्वार', ४०
७९. 'नन्दीसूत्र', ७७, पृ०-१५५.
८०. 'स्थानांग', ९/२७.
८१. 'माध्यमिककारिका', २४/८.
८२. 'बौद्धदर्शन मीमांसा', पृ०-३९.
८३. 'संयुक्तनिकाय', ३, २५१, २६१, ३७१
८४. जिधच्छा परमारोगा सङ्गारा परमादुखा।  
एतं जत्वा यथाभूतं निव्वाणं परमं सुखं॥ 'धम्मपद', २०३
८५. 'जातक' (हिन्दी अनुवाद), जि० २, पृ० ४२५.
८६. वही, जि० ३, पृ० ३९७.
८७. 'प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास', पृ० २२६.
८८. वही
८९. द्रष्टव्य, 'चूलमालुक्यसूत्र'- ६३, 'मज्झिमनिकाय' (अनु०) २५३-५५.
९०. 'पोठपादसूत्र', १/९; 'दीघनिकाय', पृ० ७१.
९१. ऊर्णापक्षम यथैव हि करतलसंस्थं न वेद्यते पुम्भिः।  
अक्षिगतं तु तथैव हि जनयत्यरतिं च पीडां च॥  
करतलसदृशो बालो न वेत्ति संस्कारदुःखतापक्षमा  
अक्षिसदृशस्तु विद्वान्स्तेनैवोद्वेज्यते गाढमि ति॥ 'अभिधर्मकोशभाष्य', पृ०-३२९.
९२. यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं- रोगो, रोगहेतुः, आरोग्यं, भैषज्यमिति। एवमिदपि  
शास्त्रं चतुर्व्यूहम- तद् यथा संसारः संसारहेतुः, मोक्षो, मोक्षोपाय इति। 'व्यासभाष्य',  
२/१५.
९३. कोनु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति। 'धम्मपद', १४६.
९४. इदं खो पन भिक्खवे दुक्खसमुदयं अरियसच्चं। योयं तण्हा पोणव्वविका नन्दिरागवहगता  
तत्र तत्राभिनन्दिनी सेयमीदं कामतण्डा, भवतण्डा, विभवतण्डा। 'मज्झिमनिकाय',  
महाहत्थिं पदोपमसूतां।
९५. न तं दल्हं बन्धनमाहु धीरा यदायसं दारुजं पब्बजञ्च।  
सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु, पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा॥ 'धम्मपद', ३४५.
९६. ये रागरत्तानुपतंति सोतं, सयं कतं मक्कटको व जालां। 'धम्मपद', ३४७.

९७. सेलो यथा एकग्घनो, वातेन न समीरति।  
एवं रूपा रसा सदा, गन्धा फस्सा च केवला॥  
इट्ठा धम्मा अनिट्ठा च, नप्पवेधेन्ति तादिनो।  
ठितं चित्तं विप्पमुत्तं, वयं घस्सानुपस्सती ति॥ 'अंगुत्तरनिकाय', ६/६/१, पृ०-८९
९८. मग्गानट्ठंसेट्ठो। 'धम्मपद', २७३
९९. एसो व मग्गो नत्थञ्जो दस्सनस्स विसुद्धिया।  
एतं हि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं॥ वही, २७४
१००. मज्झिमनिकाय (हि०अनु०), 'समादिट्ठिसुत्त', पृ० ३१-३५.
१०१. न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।  
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥ 'धम्मपद', ५
१०२. यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं सगन्धकं।  
एवं सुभाषिता वाचा सफला होति कुब्बतो॥ वही, ५२
१०३. यो पाणमतिपातेति मुसावादञ्च भासति।  
लोके अदित्रं अदियति परदारञ्च दच्छति॥  
सुरामेरयपानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति।  
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति अत्तनो॥ वही, २४६-२४७
१०४. *Rhys Davids, Buddhism*, pp. 126-127
१०५. सत्थवणिज्जा, सत्तवणिज्जा, मंसवणिज्जा, मज्जवणिज्जा, विसवणिज्जाइमा.....  
पंचविज्जा अकरणीया ति। 'अंगुत्तरनिकाय', खण्ड २, पृ०-४५४.
१०६. 'दीघनिकाय', पृ०-२६९.
१०७. *The Essence of Buddhism*, p. 170
१०८. 'दीघनिकाय' (हि०अनु०), पृ०-१९० से १९८ - विशेष विवरण के लिए।
१०९. ब्रुत्तस्थः श्रुतचिन्तावान्भावनायां प्रयुज्यते।  
नामोभयार्थविषया श्रुतमय्यादिका धियः॥ 'अभिधम्मकोशभाष्य', ६/५-६.
११०. नामालम्बना किल श्रुतमयी प्रज्ञा। वही, पृ०-३३४
१११. नामार्थालम्बना चिन्तामयी प्रज्ञा। वही
११२. अर्थालम्बनैव भावनामयी प्रज्ञा। वही
११३. 'दीघनिकाय' (सामज्जफल सुत्त), पृ० ३०-३१
११४. 'ललितविस्तर' (अनु० शान्तिभिक्षु शास्त्री), पृ० २९६.
११५. ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुष्करसारि, अंग, वंग, मगध, मंगल्य, अंगुलीय, शकारि, ब्रह्मवलि, पारुष्य, द्राविड, किरात, दाक्षिण्य, उग्र, संख्या, अनुलोम, अवमूर्द्ध, दरद, खाष्य, चीन, लून, हूण, मध्याक्षरविस्तर, पुष्प, देव, नाग, यक्ष, दन्धर्व, किन्नर, महोरग, असुर, गरुड, मृगचक्र, वायसरुत, भौमदेव, अन्तरिक्षदेव, उत्तरकुरुद्वीप, अपरगोडानी,

पूर्वविदेह, उत्क्षेप, निक्षेप, विक्षेप, प्रक्षेप, सागर, वज्र, लेख-प्रतिलेख, अनुद्रुत, शसस्त्रावर्त, गणनावर्त, उत्क्षेपावर्त, निक्षेपावर्त, पादलिखित, द्विरुत्तरपदसन्धि, यावद्दशोत्तरपदसन्धि, मध्याहारिणी, सर्वरुत-संग्रहणी, विद्यानुलोमाविमिश्रित, ऋषितपस्तप्तारोचमाना, धरणीप्रेक्षिणी, गगनप्रेक्षिणी, सर्वैषधिनिष्यन्द, सर्वसारसंग्रहणी और सर्वभूतरुतग्रहणी। 'ललितवस्तर', अ० १०, पृ०-२५१.

११६. 'ऋग्वेद', १०/३४/८.

११७. वही, १/४३/४.

११८. 'कादम्बरी', पृ० २३१-३२.

११९. 'छान्दोग्योपनिषद्', ७/१.

१२०. 'मिलिन्दपन्हपालि', ४/३/१६, पृ० १३२.

१२१. 'प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास', पृ० २३५

१२२. 'प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास', पृ० २३५.

१२३. यथा वा पन, महाराज, ब्राह्मणमाणवकानं इरुवेब्बदं यजुब्बेदं सामवेदं अथब्बणवेदं लक्खणं इतिहासं पुराणं निघण्टु केटुभं अक्खरप्पभेदं पदं वेय्याकरणं भासमग्गमं उप्पातं सुपिणं निमित्तं छळङ्गं चन्दग्गाहं सुरियग्गाहं सुक्कराहुचरितं उळ्ळग्गहयुद्धं देवदुन्दुभिस्सरं ओक्कन्ति उक्कापातं भूमिकपं दिसादाहं भुम्मन्तलक्खं जोतिसं लोकायितकं साचक्कं मिगचक्कं अन्तरचक्कं मिस्सकुप्पादं सकुणरुतरवितं सिक्खा करणीया, अवसेससानं पुथुवेस्ससुदानं कसि वणिज्जा गोरक्खा करणीया; एवमेव खो, महाराज, अकम्मं हेतं जिनपुत्तानं यदिदं पूजा।..... राजपुत्तानं हत्थिअस्सधनुथरुलेखमुद्दासिक? काखग्गमन्तसुतिसम्मुतियुद्धयुज्झापन-किरिया करणीया, अवसेसानं पुथुवेस्ससुदानं कसि वणिज्जा गोरक्खा करणीया। 'मिलिन्दपन्हपालि', ४/३/१६, और देखें- *Ancient Indian Education*, R. K. Mukherjee, p. 475

१२४. सुति, समुति, संख्या, योगो, नीति, विसेसिका, गणिका, गन्धब्बा, तिकिच्छा, चतुब्बेदा, पुराणा, इतिहासा, जोतिमा, माया, केतु, मन्तना, यद्धि, छन्दसा, बुद्धवचनेन एकूनवीसति। 'मिलिन्दपन्हपालि', १/४.

१२५. 'जातक', (अनु० हिन्दी), जि० १, पृ० ३८३.

१२६. वही, जि० १, पृ०-३८३.

१२७. वही, जि० १, पृ०-५७.

१२८. वही, जि० ५, पृ०-५५२.

१२९. वही, जि० ५, पृ०-४४.

१३०. वही, जि० ५, पृ०-५४५.

१३१. वही, जि० ५, पृ०-१८६, जि० ५, पृ०-५३७, ५६१

१३२. वही, जि० ३, पृ०-३१२, जि० ४, पृ०-१८६, ५३४.
१३३. वही, जि० १, पृ०-११७.
१३४. वही, जि० २, पृ०-२७३-७४, ४२४-२५.
१३५. वही, जि० १, पृ०-५७.
१३६. वही, जि० १, पृ०-५०६.
१३७. वही, जि० १, पृ०-५६६.
१३८. वही, जि० १, पृ०-४२५, २४६
१३९. वही, जि० ४, पृ०-१६५.
१४०. वही, जि० ३, पृ०-१७२-७३.
१४१. वही, जि० १, पृ०-३०१.
१४२. वही, जि० १, पृ०-९९.
१४३. वही, जि० २, पृ०-२९१.
१४४. वही, जि० २, पृ०-१८०.
१४५. वही, जि० २, पृ०-२३०.
१४६. वही, जि० २, पृ०-२३०.
१४७. वही, जि० २, पृ०-२३३.
१४८. वही, जि० ४, पृ०-१२९.
१४९. वही, जि० ४, पृ०-२७९.
१५०. *Education in Ancient India*, p. 329



## चतुर्थ अध्याय शिक्षा-पद्धति

प्राचीन भारत में बालकों को गुरुकुल प्रणाली एवं स्वच्छ वातावरण में घरों से दूर आश्रमों में शिक्षा दी जाती थी। प्राचीनकाल से ही अरण्य शिक्षा के केन्द्र रहे हैं। गुरुकुल प्रणाली का मुख्य उद्देश्य बालकों में ज्ञान और सत्याचरण का संचार करना होता था। बालकों को मानवीय मूल्यों के प्रकाश से अवलोकित किया जाता था जिससे कि वे अपने व्यक्तित्व का भलीभाँति विकास कर सकें।

आचार व व्यवहार की शिक्षा आध्यात्मिक व शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर दी जाती थी। बालक आध्यात्मिक ज्ञान तथा मानवीय मूल्यों से ओत-प्रोत शिक्षाएँ उदात्त चरित्र वाले गुरुओं की छत्रछाया में रहकर प्राप्त करते थे। वे बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक एवं आत्मिक विकास पाकर आध्यात्मिकता के उत्कर्ष की प्राप्ति के लिए सर्वदा तत्पर रहते थे। यदि कहा जाये कि बालकों का पूर्ण शिक्षाक्रम चारित्रशुद्धि पर आधारित होता था तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि गुरुकुल में मन, वचन एवं कायशुद्धि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि शिक्षा के विशेष अंग थे। सुबह से शाम तक उनकी दिनचर्या चरित्र निर्धारक आचरणों से ओत-प्रोत रहती थी। सन्तोष, शुचिता, निष्कपट व्यवहार, जितेन्द्रियता, मितभाषण, शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति आदि गुरुकुल निवास के मुख्य प्रयोजन थे।

गुरुकुल में- छात्र सहपाठियों एवं गुरुओं के साथ बड़े ही आनन्द एवं उल्लास के साथ अपने जीवन का शुभारम्भ करते थे (जहाँ छल, हिंसा, असत्य, चोरी आदि विविध विकारों का अभाव रहा करता था)। परिवार और समाज से दूर भिन्न-भिन्न जातियों, संस्कारों और समाजों के विद्यार्थी एक साथ रहते थे जिससे उनके अन्दर जातीयता की दीवार को तोड़कर प्रेम और सौम्यता का दीप प्रज्वलित होता था। गुरु और शिष्य का निकट सम्पर्क दोनों में आत्मीय एकता के सूत्र को जोड़नेवाला होता था। गुरु का अर्थ वहाँ केवल अध्ययन कराने वाले से नहीं होता था अपितु गुरु उस काल के पूर्ण व्यक्तित्व हुआ करते थे जो शिष्य के जीवन की समस्त जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर लेकर चलते थे। शिष्य के जीवन में उच्च संस्कार तथा ज्ञान का आलोक प्रदान करते थे। इस तरह

यह कहा जा सकता है कि छात्र गुरुकुल में केवल शिक्षा ही नहीं पाता था, बल्कि सम्पूर्ण जीवन प्राप्त करता था। संस्कार, व्यवहार, कर्तव्य का बोध, विषयवस्तु का ज्ञान आदि जीवन का सर्वाङ्गीण अध्ययन एवं शिक्षण गुरुकुल पद्धति का आदर्श था।

शिक्षा का सम्पूर्ण विषय सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है। इन्हीं तीनों के सम्मिलित रूप को मोक्षप्राप्ति का मार्ग कहा गया है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को सम्यक्-ज्ञान, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझकर दृढ़ निष्ठापूर्वक हृदयङ्गम करना सम्यक्-दर्शन तथा व्यावहारिक रूप में उसे जीवन में उतारना सम्यक्-चारित्र है। 'तत्त्वार्थसूत्र'<sup>१</sup> में इन्हें प्राप्त करने की दो विधियाँ बतलायी गयी हैं— (१) निसर्ग-विधि, (२) अधिगम-विधि।

### (१) निसर्ग-विधि

निसर्ग का अर्थ होता है- स्वभाव। प्रज्ञावान व्यक्ति को किसी गुरु अथवा शिक्षक द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती है। जीवन के विकास-क्रम में वह स्वतः ही ज्ञान के विभिन्न विषयों को सीखता रहता है। तत्त्वों का सम्यक्-ज्ञान वह स्वतः प्राप्त करता जाता है और सम्यक्-बोध तथा सम्यक्-ज्ञान की उपलब्धियों को जीवन में उतारकर सम्यक्-चारित्र को प्राप्त करता है। इसे ही निसर्ग-विधि कहते हैं।

### (२) अधिगम-विधि

पदार्थ का ज्ञान होना अधिगम है। पारिभाषिक रूप में दूसरों के सिखाने अथवा उपदेश से पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे अधिगम कहते हैं। इस विधि के माध्यम से ज्ञानी (प्रतिभावान्) तथा अल्पज्ञानी सभी प्रकार के व्यक्ति तत्त्वज्ञान करते हैं तथा यही तत्त्व ज्ञान सम्यक्-दर्शन का कारण बनता है।

अतः निसर्ग-विधि में प्रज्ञावान व्यक्ति की प्रज्ञा का स्वतः स्फुरण होता है और अधिगम-विधि में शिक्षक का होना अनिवार्य है। यानी गुरु के उपदेश से जीव और जगत रूपी तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना अधिगम-विधि है। इसके निम्नांकित भेद हैं—

(क) निक्षेप-विधि, (ख) प्रमाण-विधि, (ग) नय-विधि, (घ) अनुयोगद्वार-विधि, (ङ) स्वाध्याय-विधि।

### (क) निक्षेप-विधि

लोकव्यवहार में अथवा शास्त्र में जितने शब्द होते हैं, वे वहाँ किस अर्थ में प्रयोग किये गये हैं, इसका ज्ञान होना निक्षेप-विधि है। एक ही शब्द के विभिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं। इन अर्थों का ज्ञान निक्षेप विधि द्वारा किया जाता है

अर्थात् अनिश्चितता की स्थिति से निकलकर निश्चितता में पहुँचना निक्षेप विधि है। जैन मान्यतानुसार प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ निकलते हैं। वे ही चार अर्थ उस शब्द के अर्थ-सामान्य के चार विभाग हैं। ये विभाग ही निक्षेप या न्यास कहलाते हैं। निक्षेप-विधि के चार विभाग निम्नलिखित हैं—

(१) नाम, (२) स्थापना, (३) द्रव्य और (४) भाव।

(१) नाम निक्षेप— जो अर्थ व्युत्पत्ति सिद्ध न हो अर्थात् व्युत्पत्ति की अपेक्षा किये बिना संकेतमात्र के लिए किसी व्यक्ति या वस्तु का नामकरण करना नाम-निक्षेप विधि है। जैसे एक ऐसा व्यक्ति जिसका नाम सेवक हो पर उसमें सेवक जैसा कोई गुण न हो। नाम-निक्षेप विधि ज्ञान प्राप्ति का प्रथम चरण है।

(२) स्थापना निक्षेप— वास्तविक वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति, चित्र आदि बनाकर अथवा बिना आकार बनाये ही किसी वस्तु में उसकी स्थापना करके मूल वस्तु का ज्ञान कराना स्थापना निक्षेप विधि है। जैसे किसी सेवक का चित्र या मूर्ति। इसके भी दो भेद हैं—

(क) **सद्भाव स्थापना**— सद्भाव स्थापना का अर्थ होता है मूल वस्तु अथवा व्यक्ति की प्रतिकृति बनाना। यह प्रतिकृति काष्ठ, मृत्तिका, पाषाण, दाँत, सींग आदि की बनायी जाती है। इस प्रकार की प्रतिकृति बनाकर जो ज्ञान कराया जाता है उसे सद्भाव स्थापना विधि कहते हैं।

(ख) **असद्भाव स्थापना**— असद्भाव स्थापना में वस्तु की यथार्थ प्रतिकृति नहीं बनायी जाती प्रत्युत् किसी भी आकार की वस्तु में मूल वस्तु की स्थापना कर दी जाती है। जैसे- शतरंज की मोहरों में राजा, वजीर आदि की स्थापना कर दी जाती है।

(३) **द्रव्य निक्षेप**— पूर्व और उत्तर अर्थात् भूत एवं बाद की स्थिति को ध्यान में रखते हुए वस्तु का ज्ञान कराना द्रव्य निक्षेप विधि है। जैसे— कोई व्यक्ति वर्तमान में सेवक का कार्य नहीं करता; किन्तु वह सेवा कार्य कर चुका है और भविष्य में करने वाला है।

(४) **भाव निक्षेप**— वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखकर वस्तु स्वरूप का ज्ञान कराना भाव-निक्षेप विधि है।

(ख) **प्रमाण-विधि**

संशय से रहित वस्तु का सम्यक्-ज्ञान कराना प्रमाण-विधि है।<sup>२</sup> इस विधि के

द्वारा ही जीव और जगत का पूर्ण एवं प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होता है। सम्यक्-ज्ञान ही प्रमाण है। सम्यक्-ज्ञान के पाँच प्रकार होते हैं- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल।<sup>३</sup> इनमें से प्रथम दो यानी मति और श्रुत परोक्ष ज्ञान हैं तथा अन्य तीन यानी अवधि, मनःपर्याय और केवल प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। आचार्य उमास्वाति ने इन ज्ञानों का स्वरूप निर्धारण करते हुये कहा है कि मति ज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) के माध्यम से उत्पन्न होता है तथा श्रुत ज्ञान मतिपूर्वक होता है जिसके दो, अनेक और बारह भेद होते हैं।<sup>४</sup>

सामान्यतया प्रत्यक्ष में हम इन्द्रिय उपलब्धों को देखते हैं। इनकी स्मृति भी हमें स्पष्ट दिखायी पड़ती है। जैसे- आँख बन्द करके किसी वस्तु को देखते हैं तो उसे भी पहचान लेते हैं। परोक्ष ज्ञान में अनुमान का अंश भी होता है, किन्तु यह क्रिया स्मृति की सहायता से ही होती है। जैसे- दूर चमकीलापन दिखायी पड़ता है और हम कह बैठते हैं कि वहाँ रेत है। इसका अभिप्राय है हमने पहले भी कहीं रेत देखा है और विविध ज्ञानेन्द्रियों ने हमें विविध गुणों का बोध कराया है। इस समय की चमक पहले देखी हुई चमक के समान जान पड़ती है और हम कह बैठते हैं कि मैं रेत देख रहा हूँ। प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष का यह विश्लेषण अन्य दर्शनों में मिल सकता है जैन दर्शन में नहीं। न्याय दर्शन में इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा शब्दादिजन्य ज्ञान को परोक्ष कहा गया है, किन्तु जैन दर्शन में प्रत्यक्ष और परोक्ष को ठीक इसके विपरीत विश्लेषित किया है। जैन दर्शन के अनुसार जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है तथा जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है वह परोक्ष है। प्रत्यक्ष-परोक्ष का यह विश्लेषण जैन दर्शन में किया गया उत्तरवर्ती विश्लेषण है, क्योंकि आगमयुग में (ईसा पूर्व से ५वीं शती तक) जैन साहित्य में ज्ञानमीमांसा की ही प्रधानता रही है। प्रमाणान्तर्गत प्रत्यक्ष-परोक्ष का ज्ञानमीमांसा में प्रवेश आर्यरक्षित और उमास्वाति के काल में हुआ है, ऐसा माना जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार प्रमाण का प्रारम्भ करनेवालों में दो प्रमुख आचार्य हैं- आर्यरक्षित और उमास्वाति। आर्यरक्षित ने अनुयोग का प्रारम्भ पंचविध ज्ञान के सूत्र से किया है। उन्होंने प्रमाण की चर्चा ज्ञानगुण प्रमाण के अन्तर्गत की है। इसका निष्कर्ष है कि प्रमाणमीमांसा का मौलिक आधार ज्ञानमीमांसा ही है। उमास्वाति ने पहले पाँच ज्ञान की चर्चा की है, फिर ज्ञान प्रमाण है इस सूत्र की रचना की है।<sup>५</sup> जैन विद्वान् डॉ० सागरमल जैन भी ज्ञानमीमांसा में प्रमाणमीमांसा का आगमन ३री-४थी शताब्दी ही मानते हैं<sup>६</sup> जो आर्यरक्षित और उमास्वाति का काल माना जाता है। उमास्वाति ने पंचज्ञान को ही दो भागों में विभाजित किया है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान



को परोक्ष तथा अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष बतलाया है। प्रमाण को दो भागों में विभक्त कर उनका पंचज्ञान के साथ सम्बन्ध जोड़ना जैन दर्शन में उमास्वाति द्वारा किया गया नया मोड़ है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि जैन शिक्षण-पद्धति में प्रमाण-विधि का प्रवेश ३री-४थी शताब्दी में हुआ। जैन श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जैन न्याय के अधिष्ठाता के रूप में सिद्धसेन दिवाकर का नाम आता है। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा के अनुसार समन्तभद्र जैन न्याय के अधिष्ठाता थे। सिद्धसेन की प्रमुख रचना 'न्यायावतार' है जिसमें उन्होंने प्रत्यक्ष, परोक्ष, अनुमान और उसके अवयवों का अपने ढंग से विवेचन किया है। प्रमाण को परिभाषित करते हुये उन्होंने कहा है कि प्रमाण उस ज्ञान को कहते हैं जो स्व के साथ-साथ पर को भी जान सके। इतना ही नहीं, बल्कि उसका खण्डन भी किसी अन्य ज्ञान के द्वारा न हो सके।<sup>७</sup> सिद्धसेन के पश्चात् जैन न्याय का विकसित रूप अकलंक के दर्शन में देखने को मिलता है। मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ) के अनुसार आचार्य सिद्धसेन के 'न्यायावतार' में प्रत्यक्ष, परोक्ष, अनुमान और उसके अवयवों कि चर्चा प्रमाणशास्त्र की स्वतंत्र रचना का द्वार खोल देती है। फिर भी उसकी आत्मा शैशवकालीन-सी लगती है। इसे यौवनश्री तक ले जाने का श्रेय दिगम्बर आचार्य अकलंक को है।<sup>८</sup> प्रमाण को परिभाषित करते हुये कहा है- प्रमाण को अविश्ववादी तथा अनधिगतार्थ होना चाहिये।<sup>९</sup> ज्ञान को अविश्ववादी बताकर अकलंक ने पूर्वमान्य प्रमाण परिभाषाओं को एक नवीनता प्रदान की।

अकलंक के अनुसार प्रमाण के मुख्यतः दो भेद हैं— (१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। प्रत्यक्ष के भी दो भेद किये गये हैं— (१) सांव्यावहारिक या इन्द्रिय प्रत्यक्ष, (२) मुख्य (पारमार्थिक) या सकल प्रत्यक्ष। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की श्रेणी में मतिज्ञान आता है और मुख्य प्रत्यक्ष की श्रेणी में अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान आता है। चूँकि व्यवहार में इन्द्रिय और मन से प्राप्त होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाता है, संभवतः यही कारण है कि अकलंक ने प्रत्यक्ष को मुख्य और सांव्यवहारिक रूपों में विभाजित किया है।

प्रमाण का एक विभाजन 'अनुयोगद्वारसूत्र' में प्राप्त होता है। इसमें ज्ञान को चार भागों में विभाजित किया गया है- प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान।<sup>१०</sup>

**प्रत्यक्ष-** इसके स्वरूप के विषय में पूर्व में विचार किया जा चुका है।

**अनुमान-** साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है। जैसे- धूँआ को देखकर अग्नि की उपस्थिति का ज्ञान होना। दूसरे शब्दों में लिङ्ग ग्रहण और व्याप्ति स्मरण के पश्चात् होनेवाला ज्ञान अनुमान कहलाता है। साधन से साध्य नियत ज्ञान अविनाभाव

के बल पर होता है। जैन दर्शन में साध्य के अविनाभावी हेतु से होनेवाले ज्ञान को अनुमान कहा गया है। अनुमान को परिभाषित करते हुये सिद्धसेन ने अविनाभावी लिङ्ग द्वारा साध्य के निश्चयात्मक ज्ञान को अनुमान कहा है।<sup>११</sup> वस्तुतः साध्य और साधन के बीच अविनाभाव सम्बन्ध ही अनुमान का मूल आधार है। अविनाभाव का यह सम्बन्ध दो नियमों पर आधारित होता है- एक सहभाव नियम और दूसरा क्रमभाव नियम।<sup>१२</sup> जो पदार्थ एक साथ रहते हैं उनमें सहभाव नियम सम्बन्ध होता है। धूम और अग्नि में सहभाव सम्बन्ध है। इसे व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध भी कहते हैं। जिसका विस्तार कम होता है वह व्याप्य कहलाता है और जिसका विस्तार अधिक होता है वह व्यापक कहलाता है। व्याप्य का विस्तार व्यापक से कम या बराबर होता है तथा व्यापक का विस्तार व्याप्य से अधिक या बराबर होता है। धूँआ और अग्नि में धूँआ व्याप्य है और अग्नि व्यापक, क्योंकि धूँआ का विस्तार अग्नि से कम होता है। किन्तु व्याप्य-व्यापक का यह सम्बन्ध हमेशा रहे यह निश्चित नहीं है, क्योंकि जहाँ-जहाँ धूँआ है वहाँ-वहाँ अग्नि है यह कथन तो सत्य है किन्तु जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ-वहाँ धूँआ है यह कथन हमेशा सत्य नहीं होता। जैसे- तप्त लोहे में अग्नि होती है, धूँआ नहीं। कृतिका नक्षत्र का उदय अन्तर्मुहूर्त पहले होता है और रोहिणी नक्षत्र का उदय उसके बाद होता है, इसलिए इन दोनों में क्रमभाव सम्बन्ध माना जाता है। जैन दर्शन में सहभाव और क्रमभाव का स्पष्ट प्रतिपादन माणिक्यनन्दी द्वारा किया गया है, किन्तु इसके बीज अकलंक के ग्रन्थ में मिलते हैं।<sup>१३</sup>

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान अनुमान के दो प्रकार हैं। जो अनुमान अपने लिये किया जाता है वह स्वार्थानुमान और स्वार्थानुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान को दूसरे को समझाना परार्थानुमान कहलाता है। दूसरे शब्दों में प्रमाता का हेतु द्वारा साध्य का ज्ञान करना स्वार्थानुमान है।<sup>१४</sup> और उसी प्रमाता द्वारा साध्य का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् किसी दूसरे को हेतु आदि का कथन करके साध्य का ज्ञान कराना परार्थानुमान है।<sup>१५</sup> 'अनुयोगद्वार' में अनुमान के तीन प्रकार बताये गये हैं- पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टिसाधर्म्यवत्।<sup>१६</sup>

**आगम-** आप्त या प्रामाणिक पुरुषों के शब्दों द्वारा वस्तुओं का जो ज्ञान होता है उसे आगम प्रमाण कहते हैं। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में आप्तपुरुष के वचनादि से आविर्भूत अर्थज्ञान को आगम कहा गया है।<sup>१७</sup> आप्तपुरुष से तात्पर्य है जो वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में जैसा जानता है वैसा ही कहता है वह आप्तपुरुष है।<sup>१८</sup> लौकिक या लोकोत्तर दो प्रकार के आप्त पुरुष होते हैं।<sup>१९</sup> माता-पिता, गुरु आदि लौकिक आप्त के अन्तर्गत आते हैं तथा तीर्थंकर अथवा केवली लोकोत्तर आप्त कहलाते हैं।<sup>२०</sup>

**उपमान-** सादृश्यता के आधार पर वस्तु को ग्रहण करना उपमान है। उपमा दो प्रकार की होती है- साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत।<sup>२१</sup> समानता के आधार पर जो उपमा दी जाती है उसे साधर्म्योपनीत कहते हैं तथा दो अथवा अधिक पदार्थों में जिसके द्वारा विलक्षणता बतलाई जाती है उसे वैधर्म्योपनीत कहते हैं।

परोक्ष के पाँच भेद बताये गये हैं— स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

**स्मृति-** संस्कार के जागृत होने पर भूतकाल में प्रत्यक्ष द्वारा जानी हुई किसी वस्तु को याद करना स्मृति है। माणिक्यनन्दी के अनुसार संस्कार की जागृति से 'तत्' (वह) आकारक ज्ञान स्मृति है।<sup>२२</sup>

**प्रत्यभिज्ञान-** अनुभव और स्मरणपूर्वक होनेवाले संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।<sup>२३</sup> दो वस्तुओं में पारस्परिक एकता, सादृश्यता, विलक्षणता आदि के व्यवहार का ज्ञान प्रत्यभिज्ञान से होता है। प्रत्यभिज्ञान के दो प्रकार होते हैं- एकत्वप्रत्यभिज्ञान और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान।<sup>२४</sup> वर्तमान का प्रत्यक्ष करके उसी के अतीत का स्मरण होने पर 'यह वही है', इस प्रकार एकता या एकरूपता का ज्ञान होना एकत्वप्रत्यभिज्ञान कहलाता है। इसी प्रकार पूर्व ज्ञात अर्थ के समान अन्य अर्थ का प्रत्यक्ष होने पर यह कहना कि 'यह उसके सदृश है' सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है। जैसे- गाय के समान गवय होता है। इस वाक्य के आधार पर गाय के समान पशु का अवलोकन करके यह निश्चय करना कि यह गवय है।

**तर्क-** साधन का साध्य के होने पर ही घटित होना और साध्य के अभाव की स्थिति में घटित न होना ही तर्क है। जितना भी धूम है वह अग्नि से उत्पन्न होता है उसके अभाव में नहीं। इस प्रकार सकल देश एवं सकल काल की व्याप्ति से साध्य एवं साधन के सम्बन्ध का जो ऊहापोह ज्ञान होता है वह तर्क है।<sup>२५</sup>

### (ग) नय-विधि<sup>२६</sup>

किसी भी विषय का सापेक्ष निरूपण करने वाला विचार नय कहलाता है। इस विधि के द्वारा वस्तु के स्वरूप का आंशिक विश्लेषण करके ज्ञान कराया जाता है। नय के दो भेद किये गये हैं— (१) द्रव्यार्थिक नय, (२) पर्यायार्थिक नय।

मनुष्य की बुद्धि कभी वस्तुओं के सामान्य अंश की ओर झुकती है तो कभी विशेष अंश की ओर। जब वह सामान्य अंश को ग्रहण करती है तब उसका वह विचार द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और जब वह विशेष अंश को ग्रहण करती है, तब उसका

वह विचार पर्यायार्थिक नय कहलाता है। इसमें प्रथम अर्थात् द्रव्यार्थिक नय के तीन तथा द्वितीय अर्थात् पर्यायार्थिक नय के चार, कुल मिलाकर दोनों के सात भेद होते हैं—

- (१) **नैगम नय**— जो विचार लौकिक रूढ़ि अथवा लौकिक संस्कार के अनुसरण से पैदा होता है उसे नैगमनय कहते हैं अर्थात् अनिष्पन्न अर्थ में संकल्प मात्र को ग्रहण करना नैगम नय है, यथा— किसी काम के संकल्प से जानेवाले व्यक्ति से कोई पूछता है कि आप कहाँ जा रहे हैं तब वह कहता है- मैं साइकिल बनवाने जा रहा हूँ। जबकि वास्तव में उत्तर देनेवाला साइकिल की मरम्मत करवाने जा रहा होता है।
- (२) **संग्रह नय**— सामान्य अथवा अभेद को ग्रहण करनेवाली दृष्टि संग्रह नय है अर्थात् भेद सहित सब पर्यायों को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करना संग्रह है, जैसे वस्त्र कहने से सभी प्रकार के वस्त्रों का ग्रहण हो जाता है।
- (३) **व्यवहार नय**— संग्रह नय के द्वारा गृहीत अर्थ का विधिपूर्वक अवहरण या भेद करना व्यवहार नय है अर्थात् सामान्य को भेदपूर्वक ग्रहण करना, यथा- केवल वस्त्र कहने से किसी विशेष प्रकार के वस्त्र का बोध नहीं हो जाता बल्कि खादी का वस्त्र या मिल का वस्त्र- इस तरह के भेद करने ही पड़ते हैं।
- (४) **ऋजुसूत्र नय**— भूत और भावी को छोड़कर वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करना ऋजुसूत्र नय है।
- (५) **शब्द नय**— शब्द प्रयोगों में आनेवाले दोषों को दूर करके तदनुसार अर्थ-भेद की कल्पना करना शब्द नय है।
- (६) **समभिरूढ नय**— शब्द-भेद के अनुसार अर्थ-भेद की कल्पना करना समभिरूढ नय है।
- (७) **एवंभूत नय**— शब्द से व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ के घटित होने पर ही उस शब्द का वह अर्थ मानना। दूसरे शब्दों में जिस शब्द का जो अर्थ होता है, उसके होने पर ही उस शब्द का प्रयोग करना एवंभूत नय है।

(घ) **अनुयोगद्वार-विधि**— तत्त्वों के विस्तृत ज्ञान के लिए कुछ विचारणा

द्वारों का निर्देश किया गया है जिसे शास्त्रों में अनुयोगद्वार कहा गया है। अनुयोगद्वार का अर्थ बताते हुए पं० सुखलाल संघवी ने कहा है 'अनुयोग का अर्थ होता है व्याख्या या विवरण और द्वार अर्थात् प्रश्न। अतः विचारणा द्वार का मतलब हुआ प्रश्न। प्रश्न ही वस्तु में प्रवेश करने के अर्थात् विचारणा द्वारा उसकी तह तक पहुँचने के द्वार है।' <sup>२७</sup>

कोई भी व्यक्ति किसी नयी वस्तु को देखता है या सुनता है तब उसकी जिज्ञासा वृत्ति जाग उठती है तथा वह अदृष्टपूर्व या अश्रुतपूर्व वस्तु के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न करने लगता है, यथा- उस वस्तु का रंग-रूप, उसके मालिक, बनाने के उपाय आदि। उन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करके वह अपने ज्ञान की वृद्धि करता है। इसी प्रकार अन्तर्दृष्टि युक्त व्यक्ति भी मोक्षमार्ग को सुनकर या हेय-उपादेय आध्यात्मिक तत्त्व को सुनकर तत्सम्बन्धी विविध प्रश्नों के द्वारा अपना ज्ञान बढ़ाता है। अतः निर्देश, स्वामित्व आदि <sup>२८</sup> प्रश्नों के द्वारा सम्यक्-दर्शन पर संक्षेप में विचार किया जाता है:

- (१) निर्देश— वस्तु के नाम का कथन करना। यह सम्यक्-दर्शन का स्वरूप है। <sup>२९</sup>
- (२) स्वामित्व— वस्तु के स्वामी का कथन करना। यथा- सम्यक्-दर्शन का अधिकारी जीव है। <sup>३०</sup>
- (३) साधन (कारण)— जिन साधनों से वस्तु बनी है उनका कथन करना, यथा- सम्यक्-दर्शन के अन्तरंग एवं बहिरंग कारणों को बताना। <sup>३१</sup>
- (४) अधिकरण— वस्तु के आधार का कथन करना, यथा- सम्यक्-दर्शन का आधार जीव है क्योंकि वह उसका परिणाम होने के कारण उसी में निहित है। <sup>३२</sup>
- (५) स्थिति— वस्तु के काल का कथन करना, यथा- तीनों प्रकार के सम्यक्त्व अमुक समय में उत्पन्न होते हैं। <sup>३३</sup>
- (६) विधान— वस्तु के भेदों का कथन करना, यथा- सम्यक्त्व के प्रकार को बताना। <sup>३४</sup>
- (७) सत्— अस्तित्व का कथन करके समझाना, यथा- सम्यक्त्व गुण सत्तारूप से सभी जीवों में विद्यमान हैं। <sup>३५</sup>
- (८) संख्या— भेदों की गणना करके समझाना, यथा- सम्यक्त्व की गिनती उसे प्राप्त करनेवालों की संख्या पर निर्भर है। <sup>३६</sup>
- (९) क्षेत्र— वर्तमान काल विषयक निवास को ध्यान में रखकर समझाना, यथा— सम्यक्-दर्शन का क्षेत्र सम्पूर्ण लोकाकाश नहीं किन्तु उसका असंख्यातवाँ भाग है। <sup>३७</sup>

(१०) **स्पर्शन**— त्रिकाल विषयक निवास को ध्यान में रखकर समझाना, यथा- सम्यक्-दर्शन का स्पर्शन क्षेत्र भी लोक का असंख्यातवाँ भाग ही होता है, परन्तु यह भाग उसके क्षेत्र की अपेक्षा कुछ बड़ा होता है क्योंकि इसमें क्षेत्रभूत आकाशपर्यन्त प्रदेश भी सम्मिलित होते हैं।<sup>३८</sup> क्षेत्र में केवल आधारभूत आकाश ही आता है। स्पर्शान् में आधार क्षेत्र के चारों तरफ आधेय द्वारा स्पर्शित आकाश-प्रदेश भी आते हैं। क्षेत्र और आकाश में यही अन्तर है।

(११) **काल**— समयावधि को ध्यान में रखकर समझाना, यथा- भूत, वर्तमान और भविष्यत् अर्थात् अनादिकाल से सम्यक्-दर्शन का आविर्भाव क्रम जारी है।<sup>३९</sup>

(१२) **अन्तर**— समय के अन्तर को ध्यान में रखकर समझाना, यथा- एक जीव को लेकर सम्यक्-दर्शन का विरह काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अपार्धपुद्गलपरावर्त जितना समझना चाहिए, क्योंकि एक बार सम्यक्त्व का वमन (नाश) हो जाने पर पुनः वह जल्दी से अन्तर्मुहूर्त में प्राप्त हो सकता है। ऐसा न हुआ तो भी अन्त में अपार्धपुद्गलपरावर्त के बाद अवश्य ही प्राप्त हो जाता है।<sup>४०</sup>

(१३) **भाव**— भावों का कथन करके समझाना। भाव का अर्थ होता है- अवस्था विशेष। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन अवस्थाओं में सम्यक्त्व पाया जाता है।<sup>४१</sup>

(१४) **अल्प-बहुत्व**— एक-दूसरे की अपेक्षा न्यूनाधिक ज्ञान करके समझाना, यथा- तीन प्रकार के सम्यक्त्व में औपशमिक सम्यक्त्व सबसे अल्प है।<sup>४२</sup>

उपर्युक्त चौदह प्रकारों को कुछ विद्वान् दो भागों में विभाजित करते हैं, जिनमें से पहले के छः को अनुयोगद्वार के अन्तर्गत तथा बाद के आठ को प्ररूपणा के अन्तर्गत रखते हैं।

(च) **स्वाध्याय-विधि**— स्वाध्याय-विधि का प्रयोग विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति के लिए किया जाता है। ज्ञान प्राप्त करना, उसे सन्देहरहित विशद और परिपक्व बनाना तथा उसके प्रचार का प्रयत्न करना- ये सभी स्वाध्याय के अन्तर्गत आ जाते हैं।

स्वाध्याय शब्द 'स्व' और 'अध्याय' तथा 'सु' और 'अध्याय' से मिलकर बना है जिसका अर्थ होता है 'स्व' अर्थात् आत्मा के लिए हितकर शास्त्रों का अध्ययन करना, स्वाध्याय है। समीचीन शास्त्रों के अध्ययन से कर्मों का संवर और निर्जरा होती है। दूसरा 'सु' अर्थात् सम्यक् शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय है।<sup>४३</sup> इसके पाँच भेद किये गये हैं— (१) वाचना, (२) प्रच्छना, (३) अनुप्रेक्षा, (४) आम्नाय और (५)

धर्मकथा। इसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है:

(१) **वाचना**— वाचना का अर्थ होता है 'पढ़ना'। शब्द का शुद्ध उच्चारण करना, अर्थ को शुद्ध रूप से ग्रहण करना, बिना विचारे न तो शीघ्रता से पढ़ना और न अस्थान में रुक-रुक कर पढ़ना तथा 'आदि' शब्द से पढ़ते हुए अक्षर या पद को न छोड़ना इत्यादि वाचना है।<sup>४४</sup>

(२) **प्रच्छना**— प्रच्छना का अर्थ पूछना, प्रश्न आदि करना होता है। ग्रन्थ और अर्थ दोनों के विषय में 'क्या यह ऐसा है अथवा अन्यथा है', इस सन्देह को दूर करने के लिए अथवा 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार से निश्चितता को दृढ़ करने के लिए प्रश्न करना प्रच्छना है। प्रश्न करना स्वाध्याय का मुख्य अंग है।<sup>४५</sup>

(३) **अनुप्रेक्षा**— ज्ञात या निश्चित अर्थ का मन से बार-बार चिन्तन अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा के अन्तर्गत ही स्वाध्याय के लक्षण और अन्तर्जल्प रूप पाठ आते हैं। वाचना आदि में बहिर्जल्प होता है जबकि अनुप्रेक्षा में मन में पढ़ने या विचारने से अन्तर्जल्प होता है। 'मूलाचार टीका' में अनित्यता आदि के बार-बार चिन्तन को अनुप्रेक्षा कहा गया है और उसे स्वाध्याय का भेद स्वीकार किया गया है।<sup>४६</sup>

(४) **आम्नाय**— पठित ग्रन्थ के शुद्धतापूर्वक पुनःपुनः उच्चारण को आम्नाय कहते हैं।<sup>४७</sup>

**धर्मकथा**— देववन्दना के साथ मंगलपाठ पूर्वक धर्म-उपदेश करना धर्मकथा है।<sup>४८</sup> इसके भी आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेजनी और निर्वेदनी चार भेद हैं—

(१) **आक्षेपिणी**— जिस कथा में ज्ञान और चारित्र का कथन किया जाता है, जैसे मति आदि ज्ञानों का यह स्वरूप है और सामाजिक आदि चारित्र का यह स्वरूप है, उसे आक्षेपिणी कहते हैं।<sup>४९</sup>

(२) **विक्षेपिणी**— जिस कथा में स्वसमय और परसमय का कथन किया जाता है वह विक्षेपिणी है, जैसे वस्तु सर्वथा नित्य है या सर्वथा क्षणिक है, सर्वथा एक है या सर्वथा अनेक है, सब सत्स्वरूप ही है या विज्ञान रूप ही है या सर्वथा शून्य है, इत्यादि। परसमय को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित करके प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से उसमें विरोध बतलाकर कथंचित नित्य, कथंचित अनित्य, कथंचित एक, कथंचित अनेक इत्यादि स्वरूप का निरूपण करना विक्षेपिणी कथा कहलाती है।<sup>५०</sup>

(३) **संवेजनी**— ज्ञान, चारित्र और तप के अभ्यास से आत्मा में प्रकट होनेवाली

शक्तियों का निरूपण करनेवाली कथा संवेजनी कहलाती है।<sup>५१</sup>

- (४) **निर्वेदनी**— रस आदि सात धातुओं से निर्मित शरीर अपवित्र है। रज और वीर्य उसका बीज है, अशुचि आहार उसका पोषक है, अशुचि स्थान से वह निकलता है, केवल अशुचि ही नहीं बल्कि असार भी है। स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला, भोजन आदि भोग प्राप्त होने पर भी उसकी तृप्ति नहीं होती। उसके प्राप्त होने पर या नष्ट हो जाने पर महान शोक होता है। देव और मनुष्य पर्याय दुःखबहुल हैं, यहाँ सुख अल्प हैं- इस प्रकार शरीर और भोगों से विरक्त करनेवाली कथा निर्वेदनी है।<sup>५२</sup> इन कथाओं के स्वरूप को इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं- समदर्शी कला को यथायोग्य अनेकान्त मत का संग्रह करनेवाली कथा आक्षेपिणी, एकान्तवादी मतों का निग्रह करनेवाली कथा विक्षेपणी, पुण्य का फल बतलाने वाली कथा संवेजनी तथा संसार, शरीर और भोगों में वैराग्य उत्पन्न करानेवाली कथा निर्वेदनी है।<sup>५३</sup> इस प्रकार स्वाध्याय के द्वारा विद्यार्थी श्रुत की आराधना करता है, ज्ञान की उपासना करता है और ज्ञान के दिव्य प्रकाश से अपने जीवन को उज्ज्वल बनाता है।

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त 'आदिपुराण' में शिक्षा-विधि के निम्नलिखित भेद वर्णित हैं- (१) पाठ-विधि, (२) प्रश्नोत्तर-विधि, (३) शास्त्रार्थ-विधि, (४) उपदेश-विधि, (५) नय-विधि, (६) उपक्रम या उपोद्घात-विधि और (७) पंचांग-विधि। इन विधियों का विवेचन प्रस्तुत है-

### (१) पाठ-विधि<sup>५४</sup>

इस विधि का प्रारम्भ आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव से होता है। इसी विधि के द्वारा उन्होंने अपनी कन्याओं— ब्राह्मी और सुन्दरी को शिक्षा दी थी। इस विधि में गुरु विद्यार्थियों की काष्ठपट्टिका के ऊपर अंक या अक्षर लिख देते थे। विद्यार्थी उसका अनुकरण कर बार-बार लिखकर उसे कण्ठस्थ करते थे। शिक्षक द्वारा लिखे गये अंक और अक्षरों के लेखन एवं वाचन दोनों ही प्रक्रियाओं के द्वारा शिक्षार्थी अभ्यास भी करता था तथा अभ्यासात्मक प्रश्नों के उत्तर भी लिखता था। यह शिक्षा-विधि वर्तमान में भी अल्पायु छात्रों के लिए अत्यधिक उपयोगी है। पाठ-विधि के तीन उपभेद भी वर्णित हैं—

- (१) **उच्चारण की स्पष्टता**— पाठ-विधि का प्रथम तत्त्व है उच्चारण की स्पष्टता। उच्चारण उनके स्थान एवं प्रयत्न के अनुसार सीखा जाता है। प्राचीन काल में शिक्षा ग्रन्थों में दी गई उच्चारण-विधि के अनुसार वर्णों का उच्चारण शिष्यों को सिखलाया जाता था। यह विधि वर्तमान में भी विद्यमान है।



- (२) **लेखनकला का अभ्यास**— लेखनकला का अभ्यास पाठ-विधि का दूसरा चरण है। इस कला का अभ्यास ब्राह्मी और सुन्दरी को कराया गया था।
- (३) **तर्कात्मक संख्या प्रणाली**— किसी भी वस्तु को गिनने और उसकी संख्या मालूम करने के लिए अंकज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। पाठ-विधि के इस तीसरे तत्त्व के माध्यम से योग, गुणा, घटाव, भाग, वर्ग, वर्गमूल, धन एवं धनमूल- इन आठ क्रियाओं का ज्ञान कराया जाता था।

### (२) प्रश्नोत्तर-विधि<sup>५५</sup>

प्रश्नोत्तर-विधि में शिष्य प्रश्न करता था और गुरु प्रश्न का उत्तर देते थे। साथ ही गुरु भी शिष्य से प्रश्न पूछते थे। आदिपुराण में श्रेणिक प्रश्नकर्ता अर्थात् शिष्य के प्रतीक हैं तो गौतम गणधर उत्तरदाता अर्थात् गुरु के। बारहवें अध्ययन में देवियाँ विभिन्न प्रकार के प्रश्न माता से पूछती हैं और माता उसका चमत्कारपूर्ण उत्तर देकर उनके ज्ञान का संवर्धन करती हैं। समस्यापूर्ति एवं पहेली बुझाने की विधि भी इसके अन्तर्गत आती थी जिसका लक्ष्य क्रमशः बुद्धि को तीव्र बनाना तथा अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त कराना था। माता द्वारा दिये गये चमत्कारपूर्ण उत्तर का एक उदाहरण निम्नलिखित है— बच्चे माँ से प्रश्न करते हैं— “कुछ आदमी कड़कती धूप में खड़े थे, उनसे किसी ने कहा— “यह तुम्हारे सामने घनी छाँव वाला बड़ा भारी वट का वृक्ष खड़ा है” ऐसा कहने पर उनमें से कोई भी वहाँ नहीं गया। हे माता! कहिये यह कैसा आश्चर्य है? इसके उत्तर में माता ने कहा ‘इस श्लोक’<sup>५६</sup> में ‘वटवृक्षः’ शब्द का ‘वटो ऋक्षः’ इस प्रकार सन्धि विच्छेद करना चाहिए और अर्थ करना चाहिए ‘रे लड़के! तेरे सामने यह मेघ के समान कान्तिवाला काला भालू बैठा है’ ऐसा कहने पर भी कड़ी धूप में उसके पास कोई मनुष्य नहीं गया तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

इस प्रकार गुरु शिष्य के प्रश्नों का चामत्कारिक एवं तर्कपूर्ण उत्तर देकर शास्त्रीय ज्ञान का संवर्द्धन करते थे। इस प्रश्नोत्तर-विधि के माध्यम से गूढ़ और दुरुह विषय को भी सरलतापूर्वक समझाया जाता था जिससे विषयों को हृदयङ्गम करने में सरलता होती थी। इस विधि का प्रयोग प्रौढ़ और प्रतिभाशाली छात्रों के लिए किया जाता था।

### (३) शास्त्रार्थ-विधि<sup>५७</sup>

शास्त्रार्थ-विधि प्राचीन शिक्षा-पद्धति का मुख्य अंग थी। वर्तमान में भी यह विधि विद्यमान है। इस विधि में दो पक्ष होते हैं, एक पूर्व अर्थात् वादी तथा दूसरा उत्तर अर्थात् प्रतिवादी। दोनों ही अपने पक्ष की स्थापना के लिए विभिन्न तर्कों, विकल्पों का प्रयोग करते हैं। जैन न्याय के समस्त ग्रन्थों में शास्त्रार्थ-विधि का वर्णन पाया

जाता है। 'आदिपुराण' में उल्लेख है कि प्राचीनकाल में शास्त्रार्थ मन्त्रियों के बीच आप्ततत्त्व की जानकारी के लिए किया जाता था। इस विधि द्वारा गुरु-शिष्य में तत्क्षण उत्तर-प्रत्युत्तर देने की शक्ति का विकास करते हैं। स्वपक्ष की सिद्धि तथा परपक्ष में दोष निकालना ही शास्त्रार्थ-विधि का उद्देश्य है। शास्त्रों के सम्यक्-ज्ञानप्राप्ति में सहायक इस विधि की निम्नलिखित सात विशेषताएँ हैं<sup>५८</sup>—

१. 'ननु' शब्द द्वारा शंका उत्पन्न करना,
२. 'इति चेत्' द्वारा शंका का निवारण करना,
३. 'यथैकं' द्वारा परपक्ष का निराकरण करना,
४. अनवस्था, चक्रक, प्रसंगसाधन आदि दोषों का उद्भावन करना,
५. एवं, आह, तत्र, तन्त्रोक्त आदि संकेतांशों द्वारा कथनों और उद्धरणों को उपस्थित कर समालोचन करना,
६. विकल्पों को उठाकर प्रतिपक्षी का समाधान करते हुए स्वपक्ष की सिद्धि के लिए आक्षेपिणी, विक्षेपणी, संवेजनी तथा निर्वेदनी कथाओं का प्रयोग करना,
७. 'तदुक्त' 'नापि' जैसे शब्दों का किसी वस्तु या कथन पर बल देने के लिए प्रयोग करना।

#### (४) उपदेश-विधि<sup>५९</sup>

उपदेश-विधि का वास्तविक रूप गुरु द्वारा व्याख्यान के रूप में विषयों का प्रतिपादन करना है। स्वाध्याय के पाँच भेदों में उपदेश भी है। प्राचीन काल में प्रौढ़ अर्थात् विकसित मस्तिष्क वाले शिष्य को प्रमुख विषयों का ग्रहण कराने हेतु उपदेश-विधि का प्रयोग किया जाता था।

#### (५) उपक्रम या उपोद्घात विधि

प्रकृत<sup>६०</sup> अर्थात् उद्दिष्ट पदार्थ को श्रोताओं (शिष्य) की बुद्धि में बैठा देना, उन्हें अच्छी तरह समझा देना उपक्रम है। इसका दूसरा नाम उपोद्घात भी है। इसके पाँच भेद हैं - आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, अभिधेय और अर्थाधिकार। आदिक्रम, मध्यक्रम और अन्त्यक्रम द्वारा वस्तुओं का प्रतिपादन करना आनुपूर्वी कहलाता है। आनुपूर्वी विधि के द्वारा गुरु या पाठक किसी क्रम विशेष से पाठ्य-विषय का विवेचन या व्याख्यान करते थे जिससे विषय को हृदयङ्गम करने में सहायता प्राप्त होती थी। नाम विधि के अन्तर्गत वस्तुओं के नामों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता था। इस विधि के विशेषज्ञ गुरु अपनी पाठ्य-शैली में मनोरंजकता और सरसता लाने के लिए नाम-विस्तार करते थे।<sup>६१</sup>

प्रमाण विधि में वस्तु के विभिन्न पक्षों का विवेचन किया जाता था। प्रमाण के ही एक अंश नय विधि में किसी एक पक्ष का विवेचन किया जाता था। इसी प्रकार अभिधेय में अर्थ का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों द्वारा कथन करने का विधान था। द्रव्य और भावपूर्वक पदों की व्याख्या प्रस्तुत कर विविध भंगावलियों की स्थापना की जाती थी। अर्थाधिकार-विधि के द्वारा एक ही विषय को अनेक रूपों में प्रतिपादित कर पाठ्यविषय को सरल और बोधगम्य बनाया जाता था।<sup>६२</sup>

### (६) पंचांग-विधि<sup>६३</sup>

पंचांग-विधि के स्वाध्याय-सम्बन्धी पाँच अंग हैं। इन पाँचों अंगों द्वारा विषय के मर्म को समझा जाता था। वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और उपदेश पाँच अंग हैं। इनका विस्तृत विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। प्राचीन काल में पंचांग विधि द्वारा विषयों की व्याख्या द्वारा तथ्य को समझाने का पूर्ण प्रयास किया जाता था। इससे विद्यार्थियों में शिक्षा का उत्तरोत्तर विस्तार होता था।

### (७) श्रवण-विधि

किसी भी तथ्य को सुनकर ग्रहण करना श्रवण विधि है। 'विशेषावश्यकभाष्य'<sup>६४</sup> में सात प्रकार की श्रवण विधियों का उल्लेख है—

१. गुरु के मुख से किसी भी बात को चुपचाप सुनना,
२. उसे हाँ करके स्वीकार करना,
३. बहुत अच्छा कहकर अनुमोदन करना,
४. सुने हुये विषय में जिज्ञासा व्यक्त करना,
५. उस विषय की मीमांसा करना,
६. उक्त विषय को पूरी तरह पारायण करना,
७. गुरु की भाँति स्वयं उस विषय को अभिव्यक्त करना।

### (८) प्ररूपणा-विधि

वाच्य-वाचक, प्रतिपाद्य-प्रतिपादक एवं विषय-विषयी भाव की दृष्टि से शब्दों का आख्यान करना प्ररूपणा विधि कहलाती है। प्रमुखतः शिक्षार्थी की जिज्ञासा और गुरु द्वारा उन जिज्ञासाओं का समाधान इन दोनों का समन्वय ही इस विधि की विशेषता है। 'सवार्थसिद्धि'<sup>६५</sup> में प्ररूपणा के आठ प्रकार वर्णित हैं— सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व। अनुयोग विधि के क्रम में चौदह द्वारों में इन

आठ प्रकारों का विवेचन पूर्व में किया जा चुका है।

इस प्रकार जैन शिक्षा-पद्धति में गूढ़ से गूढ़ विषय को इस रूप में प्रस्तुत किया जाता था कि शिष्य उसे सुगमता से हृदयङ्गम कर सके। प्राचीनकाल में विषयवस्तु सूत्र रूप में कही जाती थी क्योंकि उस युग में सम्पूर्ण शिक्षाएं मौखिक और स्मृति के आधार पर प्रदान की जाती थीं। इसी कारण प्रारम्भिक साहित्य सूत्र रूप में मिलता है। बाद में चलकर इन पद्धतियों का विकास हुआ और सूत्र की व्याख्याएं की गयीं, फलतः निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, वृत्ति आदि की रचना की गयी।

### स्वाध्याय से लाभ

स्वाध्याय केवल ग्रन्थों का अध्ययनमात्र नहीं है अपितु उसके अनुसार आचरण करना भी स्वाध्याय ही कहलाता है। 'धर्माभ्यास'<sup>६६</sup> में स्वाध्याय के लाभ इस प्रकार वर्णित हैं—

- (१) स्वाध्याय से मुमुक्षु की तर्कशील बुद्धि का उत्कर्ष होता है।
- (२) परमागम की स्थिति का पोषण होता है अर्थात् परमागम की परम्परा पुष्ट होती है।
- (३) मन, इन्द्रियाँ और संज्ञा अर्थात् आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की अभिलाषा का निरोध होता है।
- (४) संशय का छेदन होता है तथा क्रोधादि चार कषायों का भेदन होता है।
- (५) दिन प्रतिदिन तप और संवेग भाव में वृद्धि होती है, परिणाम प्रशस्त तथा समस्त अतिचार दूर होते हैं।
- (६) स्वाध्याय से अन्य वादियों का भय नहीं रहता है तथा जिनशासन की प्रभावना करने में मुमुक्षु समर्थ होता है।
- (७) स्वाध्याय से जीवन में सद्विचार आते हैं, मन में सद्-संस्कार जागृत होते हैं।<sup>६७</sup>
- (८) स्वाध्याय से प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि होती है। दीर्घकालीन साधनाओं के द्वारा महापुरुषों ने जो ज्ञान प्राप्त किया उस ज्ञान का लाभ सहज ही प्राप्त हो जाता है।<sup>६८</sup>
- (९) स्वाध्याय से मनोरंजन होता है, साथ ही आनन्द और योग्यता भी प्राप्त होती है।<sup>६९</sup>

(१०) निरन्तर स्वाध्याय से मन एकाग्र एवं स्थिर होता है। जीवन में नियमितता और निर्विकारता आती है, जैसे अग्नि से सोने-चांदी का मैल दूर होता है, वैसे ही स्वाध्याय से मन का मैल दूर हो जाता है।<sup>७०</sup>

### स्वाध्याय का महत्त्व

स्वाध्याय एक अभूतपूर्व तप है- 'तपो हि स्वाध्यायः' अर्थात् स्वाध्याय स्वयं में एक तप है। इसके तुल्य तप न कभी हुआ है, न वर्तमान में है और न भविष्य में होगा।<sup>७१</sup> स्वाध्याय अपने आप में एक अद्भुत तप है।

सत्-शास्त्र का अध्ययन जीवन में अत्यन्त आवश्यक माना गया है और इसे तीसरा नेत्र भी कहा गया है। शास्त्र को नेत्र व्यष्टि की दृष्टि से नहीं बल्कि समष्टि अर्थात् समस्त जगत की दृष्टि से कहा गया है। सत्-शास्त्र के अध्ययन का महत्त्व व्यावहारिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक है। स्वाध्याय के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए भगवान् महावीर ने कहा है - स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है।<sup>७२</sup> जन्म-जन्मान्तरों से संचित किये हुए कर्म स्वाध्याय से क्षीण हो जाते हैं।<sup>७३</sup> 'उत्तराध्ययन' में स्वाध्याय के फल को बताते हुए कहा गया है - स्वाध्याय एक प्रकार से ज्ञान की उपासना है, स्वाध्याय करने से ज्ञान-सम्बन्धी ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय हो जाता है।<sup>७४</sup> 'आदिपुराण' के अनुसार स्वाध्याय करने से मन का निरोध होता है, मन के निरोध से इन्द्रियों का निग्रह होता है। अतः स्वाध्याय करने वाला व्यक्ति स्वतः संयमी और जितेन्द्रिय बन जाता है।<sup>७५</sup> प्रख्यात दिगम्बर आचार्य अकलंक ने प्रज्ञातिशय, प्रशस्त अध्यवसाय, प्रवचनस्थिति, संयमोच्छेद, परवादियों की शंका का अभाव, परम संवेग, तपोवृद्धि, अतिचार-शुद्धि आदि के लिए स्वाध्याय करना आवश्यक बतलाया है।<sup>७६</sup>

अतः निश्चित रूप से धर्म-ग्रन्थों तथा आगमों का स्वाध्याय करने से बुद्धि निर्मल होती है, ज्ञान की वृद्धि होती है तथा वस्तु तत्त्वों की जानकारी होती है।

### बौद्ध परम्परा

बौद्ध ग्रन्थों में विभिन्न शिक्षण-विधियों का उल्लेख मिलता है जिसके आधार पर उसके निम्न भेद बनते हैं —

- (१) पाठ-विधि, (२) शास्त्रार्थ-विधि, (३) उपमा-विधि, (४) प्रश्नोत्तर-विधि, (५) उपदेश-विधि, (६) प्रमाण-विधि, तथा (७) स्वाध्याय-विधि।

## पाठ-विधि

पाठ-विधि के द्वारा बालक के शिक्षारम्भ की नींव डाली जाती थी। लेखन एवं वाचन के द्वारा अंक एवं वर्णमाला का अभ्यास करवाया जाता था। इस विधि में गुरु बालक को चन्दन की पट्टिका पर लिपि अर्थात् वर्णमाला, अंक आदि लिखना सिखाते थे। 'ललितविस्तर'<sup>७७</sup> में बोधिसत्त्व के चन्दन की पट्टिका पर संख्या, लिपि, गणना आदि सीखने का वर्णन आया है। इत्सिंग के अनुसार वर्णमाला में चालीस अक्षर थे।<sup>७८</sup>

## शास्त्रार्थ-विधि

इस विधि का प्रयोग प्राचीनकाल से ही होता आ रहा है। वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन इस विधि के अंग हैं। इस विधि में तथ्य एक ही होता है, परन्तु उसकी प्राप्ति के लिए पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष विभिन्न तर्कों एवं युक्तियों का सहारा लेते हैं।

'विनयपिटक'<sup>७९</sup> में चार प्रकार के अधिकरण का उल्लेख मिलता है जिससे शास्त्रार्थ-विधि का स्वरूप निर्धारित होता है—

- (१) **विवादाधिकरण**— विवादित विषय के सम्बन्ध में निर्णय करना विवादाधिकरण है।
- (२) **अनुवादाधिकरण**— शास्त्रार्थ के समय किसी विषय पर एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को नियम के उल्लंघन का दोषी ठहराना अनुवादाधिकरण है।
- (३) **आपत्ताधिकरण**— भिक्षु द्वारा आचार सम्बन्धी सिद्धान्त का जान-बूझ कर उल्लंघन करना आपत्ताधिकरण है।
- (४) **किच्चाधिकरण**— संघ सम्बन्धी नियम पर विचार करना किच्चाधिकरण कहलाता है।

बौद्ध ग्रन्थ में किसी सिद्धान्त को शास्त्रार्थ के निमित्त प्रतिपादित करने को अनुलोम तथा प्रतिपक्षी के उत्तर की संज्ञा को प्रतिकर्म (पटिकम्म) कहा गया है। इसी तरह प्रतिपक्ष के पराजय को निग्रह (निग्गह), प्रतिपक्ष के हेतु का उसी के सिद्धान्त में प्रयोग करने को उपनय तथा अन्तिम सिद्धान्त को निगमन कहा गया है।<sup>८०</sup>

हेनसांग ने भी अपनी पुस्तक में लिखा है— शास्त्रार्थ का नियम प्रचलित होने के कारण विद्यार्थियों को कठिन से कठिन विषय भी शीघ्र हृदयंगम हो जाते थे, उनकी योग्यता बढ़ती थी और निराशजनों को उत्तेजना मिलती थी।<sup>८१</sup>

माइडरल ने लिखा है— शास्त्रार्थ-विधि में शास्त्रीय विवादों को प्रोत्साहन दिया जाता था। इस प्रकार की विज्ञमंडलियाँ शिक्षा की एक अनोखी विशेषता थीं।<sup>८२</sup>

ओमप्रकाशजी ने भी इस विधि का समर्थन किया है। उनके कथन से यह बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रार्थ-विधि बौद्ध शिक्षण-प्रणाली की प्रधान विधि थी। उनका कहना है कि अन्य धर्मावलम्बियों को बौद्ध बनाने के लिए यह आवश्यक था कि बौद्ध भिक्षु उनसे शास्त्रार्थ करके यह सिद्ध कर सकें कि दूसरों के सिद्धान्त गलत हैं और बौद्ध मतावलम्बियों के सिद्धान्त सही हैं। इसीलिए बौद्ध शिक्षण-पद्धति में तर्क और न्याय की शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है।<sup>८३</sup>

### उपमा-विधि

उपमा-विधि को उदाहरण विधि भी कहा जा सकता है। इस शैली का प्रयोग कथ्य विषय को और स्पष्ट करने के लिए किया जाता था। भगवान् बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने इस विधि का खुलकर प्रयोग किया था। 'मिलिन्दपन्ह' में नागसेन ने राजा मिलिन्द के प्रश्नों का उत्तर विभिन्न उपमाओं के माध्यम से दिया है।<sup>८४</sup> इस विधि के द्वारा गुरु विषय को सरलतम ढंग से हृदयंगम करने योग्य तथा कर्णप्रिय बनाते थे<sup>८५</sup> जिससे शिक्षार्थी आसानी से तथ्य को समझ सकें।

### प्रश्नोत्तर-विधि

इस विधि में गुरु और शिष्य दोनों एक-दूसरे से प्रश्न करते थे तथा एक-दूसरे के प्रश्नों का उत्तर देते थे। 'कथावत्यु' एवं 'मिलिन्दपन्ह' में इस विधि का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। बौद्ध साहित्य में चार प्रकार की प्रश्नोत्तर शैली का निरूपण है।<sup>८६</sup>—

- (१) **एकांशव्याकरणीय**— जिस प्रश्न का उत्तर सरल रूप से दिया जाता है वह एकांशव्याकरणीय है, जैसे—प्रश्न - क्या प्राणी जो उत्पन्न हुआ है, वह मरेगा? उत्तर - हाँ।
- (२) **विभज्यव्याकरणीय**— जिस प्रश्न का उत्तर विभक्त करके दिया जाता है वह विभज्यव्याकरणीय है, जैसे— क्या मृत्यु के अनन्तर प्रत्येक प्राणी जन्म लेता है? उत्तर - क्लेश से विमुक्त प्राणी जन्म नहीं लेता और क्लेशयुक्त प्राणी जन्म लेता है।
- (३) **प्रतिपृच्छाव्याकरणीय**— जिस प्रश्न का उत्तर एक दूसरा प्रश्न पूछकर दिया जाता है वह प्रतिपृच्छाव्याकरणीय है, जैसे- क्या मनुष्य उत्तम है या अधम? इसका उत्तर देने के लिए पूछना पड़ेगा कि किसके सम्बन्ध में? यदि प्रश्न पशुओं

के सम्बन्ध में है तो उसका उत्तर होगा— मनुष्य उनसे उत्तम है। यदि इस प्रश्न का सम्बन्ध देवताओं से है तो वह उनसे अधम है।

(४) **स्थापनीय**— जिस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल छोड़ देने से ही दिया जाता है, जैसे— क्या पंचस्कन्ध तथा जीवित प्राणी (सत्त्व) एक ही है? इस प्रश्न का उत्तर छोड़ देने में ही दिया जा सकता है क्योंकि बौद्ध परम्परा के अनुसार सत्त्व कोई है ही नहीं।

इन चारों प्रकार को जाननेवाला दुर्विजय, गम्भीर, अनाक्रमणीय, अर्थ-अनर्थ का जानकार और पण्डित होता है।<sup>८७</sup>

### उपदेश-विधि

इस विधि में गुरु-शिष्य को व्याख्यान द्वारा शिक्षा प्रदान करते थे। वर्तमान में भी यह विधि बहुत लोकप्रिय है। स्वयं भगवान् बुद्ध ने उपदेश-विधि के द्वारा सर्वप्रथम सारनाथ में अपने पांच शिष्यों को शिक्षा दी थी। उपदेश देना कोई बन्धन नहीं है। एक बार भगवान् बुद्ध से शक नामक एक यक्ष ने कहा कि जिसकी सभी गाँठें कट गयी हों, स्मृतिमान् और विमुक्त हुए आप श्रमण को यह अच्छा नहीं लगता कि दूसरों को उपदेश देते रहे। भगवान् ने कहा—

शक! किसी तरह भी किसी का संवास हो जाता है,

तो ज्ञानी पुरुष के मन में उसके प्रति अनुकम्पा हो जाती है,

प्रसन्न मन से जो दूसरे को उपदेश देता है,

उससे वह बन्धन में नहीं पड़ता, अपनी अनुकम्पा अपने से पैदा होती है।<sup>८९</sup>

अर्थात् उपदेश देने से मन को शान्ति मिलती है तथा वह बन्धन में नहीं पड़ता है। विनयपिटक में कहा गया है कि शिष्य को उपदेश ग्रहण करना चाहिए या स्वयं उपदेश करे या दूसरे से इसके लिए प्रार्थना करे।<sup>८८</sup>

### प्रमाण-विधि

अज्ञात अर्थों को प्रमाण-विधि के द्वारा प्रकाशित किया जाता था। प्रमाण को परिभाषित करते हुए 'प्रमाणवार्तिक'<sup>९०</sup> में कहा गया है— प्रमाण वह ज्ञान है जो अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करता है और वस्तुस्थिति के विरुद्ध कभी नहीं जाता, वह अविश्वसनीय होता है। प्रमाण तथा वस्तुस्थिति में किसी प्रकार विसंवाद/असामञ्जस्य नहीं होता। जो ज्ञान कल्पना के ऊपर अवलम्बित रहता है वह विसंवादी होता है तथा जो ज्ञान अर्थ-क्रिया



के ऊपर अवलम्बित रहता है वह अविस्वादी होता है।<sup>९१</sup> 'प्रमाणवार्तिक' के वृत्तिकार मनोरथनन्दी के अनुसार उपदर्शित अर्थ के अनुरूप क्रिया की स्थिति होना अविस्वादकता है और यही प्रमाणयोग्यता है क्योंकि ज्ञान से अर्थ को जानकर भी पुरुष प्रवृत्त नहीं होता है एवं प्रवृत्त होता हुआ भी प्रतिबन्ध आदि के कारण अर्थक्रिया को प्राप्त नहीं करता है, तथापि उपदर्शित अर्थ का ज्ञान प्रमाणयोग्यता रूप अविस्वादकता के प्राप्त होने से प्रमाण होता है।<sup>९२</sup>

प्रमाण के दो भेद हैं— (१) स्वलक्षण अर्थात् प्रत्यक्ष, (२) सामान्य लक्षण अर्थात् अनुमान। प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों ही ज्ञान अविस्वादक होने से प्रमाण हैं। अर्थक्रियासामर्थ्य से युक्त स्वलक्षण को विषय करने के कारण प्रत्यक्ष स्वतः अविस्वादक है जबकि अनुमान की अविस्वादकता उसके द्वारा स्वलक्षण की प्राप्ति कराये जाने पर निर्भर करती है। यद्यपि धर्मकीर्ति ने अनुमान को भ्रान्तज्ञान माना है<sup>९३</sup> तथापि सामान्यलक्षणविषयक अनुमान से अर्थक्रियासमर्थस्वलक्षण की प्राप्ति होने से उसे अविस्वादक माना है। मणिप्रभा और दीपप्रभा का उदाहरण देते हुये उन्होंने कहा है कि कोई व्यक्ति मणिप्रभा और दीपप्रभा को 'यह मणि है' मानकर उसकी ओर दौड़ता है, किन्तु मणिप्रभा और दीपप्रभा दोनों ही मणि नहीं हैं, अतः उस व्यक्ति का ज्ञान भ्रान्त है। किन्तु भ्रान्त होने पर भी वह ज्ञान अविस्वादक है।<sup>९४</sup>

### प्रत्यक्ष

वह ज्ञान जो कल्पना से रहित और निर्भ्रान्त हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष के चार भेद हैं— (१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष, (२) मानस प्रत्यक्ष, (३) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, (४) योगज प्रत्यक्ष।

(१) **इन्द्रिय प्रत्यक्ष**- इन्द्रिय द्वारा जो कल्पनारहित और अभ्रान्त ज्ञान प्राप्त होता है वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इसे परिभाषित करते हुये धर्मकीर्ति ने कहा है- सभी ओर से चिन्तन अथवा विकल्प को समेटकर शान्त चित्त से युक्त पुरुष चक्षु से रूप को देखता है तब इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।<sup>९५</sup>

(२) **मानस प्रत्यक्ष**- इन्द्रिय ज्ञान के विषय को समनन्तर प्रत्यय बनाकर जो मन में उत्पन्न होता है वही मानस प्रत्यक्ष है।<sup>९६</sup> जिस कारण से पूर्व ज्ञान का उद्बोध होता है उस कारण को 'समनन्तर प्रत्यय' कहते हैं। इस ज्ञान के तीन स्तर होते हैं- (क) यह ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान के अनन्तर उत्पन्न होता है, (ख) इन्द्रिय ज्ञान के विषय क्षण के अनन्तर उत्पन्न सजातीय द्वितीय क्षण इसका विषय बनता है और (ग) इन्द्रिय विज्ञान तथा द्वितीय-क्षण विषय के द्वारा एक मनोविज्ञान उत्पन्न होता है।

(३) **स्वसंवेदन प्रत्यक्ष-** समस्त चित्त तथा चैत पदार्थों का आत्मसंवेदन या स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है।<sup>१७</sup> यहाँ चित्त का अभिप्राय ज्ञान से है जो अर्थमात्र का ग्राहक होता है तथा चित्त में प्रकट होनेवाली सुख-दुःख आदि रूप विभिन्न अवस्थाएँ चैत हैं। चित्त और चैतों का ज्ञान होना स्वसंवेदन है।

(४) **योगज प्रत्यक्ष-** यथार्थ या भूतार्थ का पुनः-पुनः चिन्तन करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे योगज प्रत्यक्ष कहते हैं।<sup>१८</sup> दूसरे शब्दों में जब यथार्थ तत्त्वों के चिन्तन का प्रकर्ष हो जाता है तब योगज प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट होता है।<sup>१९</sup>

### अनुमान

किसी सम्बन्धी धर्म से धर्मों के विषय में जो परोक्ष ज्ञान होता है, वह अनुमान है।<sup>१००</sup> अनुमान के दो भेद हैं— (१) स्वार्थानुमान, (२) परार्थानुमान। स्वार्थानुमान का प्रयोग किसी निर्णय पर पहुँचने के लिये किया जाता है और परार्थानुमान का प्रयोग किसी दूसरे समझाने के लिये किया जाता है।

(१) **स्वार्थानुमान-** जिस अनुमान द्वारा प्रमाता स्वयं अनुमेय अर्थ का ज्ञान करता है वह स्वार्थानुमान कहलाता है।<sup>१०१</sup>

(२) **परार्थानुमान-** स्वार्थानुमान के द्वारा निश्चित अर्थ का जब हेतु एवं दृष्टांत के द्वारा अन्य की प्रतिपत्ति के लिये कथन किया जाता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है।<sup>१०२</sup>

इस प्रकार जैन एवं बौद्ध दोनों ही मूल रूप से दो ही प्रमाण को स्वीकार करते हैं। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष एवं परोक्ष तथा बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष एवं अनुमान, किन्तु जैन दर्शन में परोक्ष के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम- इन पाँच प्रमाणों को समाहित किया गया है, इस दृष्टि से जैन दर्शन में प्रमाणों की संख्या छह हो जाती है। बौद्ध दर्शन स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को प्रमाण के अन्तर्गत नहीं मानता है। यद्यपि आगम या शब्द<sup>१०३</sup> प्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार करता है।

### स्वाध्याय-विधि

बौद्ध शिक्षण-प्रणाली में स्वाध्याय पर विशेष बल दिया गया है। स्वाध्याय का अर्थ होता है - आत्मा के लिए हितकर शास्त्रों का अध्ययन करना। स्वाध्याय से चित्त शान्त रहता है, मन को सन्तोष प्राप्त होता है तथा बाह्य जगत में आदर और प्रतिष्ठा मिलती है। 'संयुक्तनिकाय' में वर्णित है—

‘एक समय कोई भिक्षु कौशल के वनखण्ड में विहार करता था। उस समय वह भिक्षु पहले स्वाध्याय में लगा रहता था— उत्सुकता रहित हो चुपचाप अलग बैठा रहता था। तब उस वन में रहनेवाले देवता उस भिक्षु के धर्मपठन को न सुनकर भिक्षु के पास आये और बोले—

भिक्षु! क्यों आप उन धर्मपदों को,  
भिक्षुओं से मिलकर नहीं पढ़ा करते हैं?  
धर्म को पढ़कर मन में सन्तोष होता है,  
बाहरी संसार में भी उसकी बड़ी बड़ाई होती है।

भिक्षु बोला —

पहले धर्मपदों को पढ़ने की ओर मन बढ़ता था,  
जब तक वैराग्य नहीं हुआ,  
जब पूरा वैराग्य चला आया,  
तो संत लोग देखे-सुने आदि पदार्थों को  
जानकर त्याग कर देना कहते हैं।<sup>१०४</sup>

स्वाध्याय करने से मन की शान्ति के साथ-साथ इस दुःखमय संसार के प्रति वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है। ‘जातक’ में एक आचार्य के बारे में वर्णन आया है कि पहले तो वे ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर वेद पढ़ते और पढ़ाते थे। प्रथम आश्रम का त्याग करके गृहस्थाश्रम के चक्कर में फंसे। स्वाध्याय की गड़बड़ी पैदा हो गयी और वेदों का तत्त्वार्थ उन्हें अरुचिकर लगने लगा। वे भगवान् बुद्ध की सेवा में अपनी व्यथा सुनाने आये। भगवान् ने उन्हें फिर से अरण्यवासी होने की सलाह दी। गृहस्थाश्रम में रहते हुए वे स्वस्थ चित्त से वेदाध्ययन नहीं कर सकते थे और बिना स्वाध्याय किये तत्त्वार्थ का बोध असम्भव था।<sup>१०५</sup>

अतः स्वाध्याय अपने आप में एक तप है जिसके द्वारा इन्द्रियाँ संयमित रहती हैं तथा ज्ञान-विज्ञान का विकास होता है और शिक्षार्थी अपने कार्यपथ पर अग्रसर होते हैं।

## तुलना

१. जैन एवं बौद्ध दोनों ही शिक्षण प्रणालियों में पाठ-विधि के द्वारा शिक्षारम्भ कराये जाने का विधान है। जैन परम्परा काष्ठ की किसी भी पट्टिका पर पाठ-विधि के

द्वारा शिक्षारम्भ करती है जबकि बौद्ध परम्परा चन्दन की पट्टिका पर। जिससे यह कहा जा सकता है कि जैन शिक्षण-पद्धति में साधारण परिवार के बालक आसानी से शिक्षारम्भ कर सकते थे जबकि बौद्ध शिक्षा-पद्धति में चन्दन की पट्टिका उपलब्ध करना उनके लिए मुश्किल कार्य था।

२. प्रश्नोत्तर-विधि दोनों ही परम्पराओं की शिक्षण-प्रणाली का आधार रही है। जैन शिक्षण-प्रणाली में प्रश्नोत्तर-विधि में गुरु शिष्य के कठिन एवं दुरुह प्रश्नों के उत्तर बड़े ही सरल ढंग से देते थे। साथ ही उत्तर पहेलियों के द्वारा तथा चमत्कारपूर्ण ढंग से देते थे। जबकि बौद्ध-शिक्षण-प्रणाली में प्रश्न एवं उत्तर के चार प्रकार बताये गये हैं - एकांशव्याकरणीय, विभज्यव्याकरणीय, प्रतिपृच्छाव्याकरणीय और स्थापनीय। ये दोनों शिक्षण प्रणालियों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं।
३. शास्त्रार्थ-विधि दोनों ही परम्पराओं में पायी जाती है, परन्तु बौद्ध-प्रणाली में इसका विशेष महत्त्व देखने को मिलता है। जैन-परम्परा में 'ननु' शब्द कहकर शंका उत्पन्न की जाती थी तथा 'इतिचेन्न' द्वारा शंका का निवारण होता था। बौद्ध-प्रणाली में सम्भवतः इस तरह का विधान नहीं है, परन्तु शास्त्रार्थ के निमित्त प्रतिपादन को अनुलोम, प्रतिपक्षी के उत्तर को प्रतिकर्म, प्रतिपक्षी की पराजय को निग्गह, प्रतिपक्ष के हेतु को उसी के सिद्धान्त में प्रयोग करने को उपनय तथा निष्कर्षित सिद्धान्त को निगमन कहा गया है। इस विधि के द्वारा विद्यार्थियों को कठिन से कठिन विषय भी सरलता से हृदयंगम कराये जाते थे।
४. जैन एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में उपदेश-विधि पायी जाती है तथा दोनों परम्पराओं ने यह स्वीकार किया है कि यह विधि प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए थी।
५. दोनों ही परम्पराओं में स्वाध्याय-विधि पर बल देते हुए कहा गया है कि स्वाध्याय से कर्मों का नाश, दुःखों का क्षय होता है तथा निर्वाण के मार्ग प्रशस्त होते हैं।
६. जैन परम्परा के अनुसार जिस ज्ञान में सम्यक्त्व हो वह प्रमाण है। बौद्ध परम्परा ने भी प्रमाण-विधि को स्वीकार किया है और कहा है कि जो ज्ञान अविस्वादी है वह प्रमाण है, परन्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बताने में अपनी असमर्थता व्यक्त की है। जैन-परम्परा में प्रत्यक्ष और परोक्ष के आधार पर प्रमाण के दो भेद किये गये हैं। पुनः प्रत्यक्ष के दो अर्थात् पारमार्थिक और सांख्यावहारिक तथा परोक्ष के पांच- स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान तथा आगम आदि प्रकारों का निरूपण किया गया है। बौद्ध-परम्परा में भी प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रकार

के प्रमाण स्वीकार किये गये हैं तथा प्रत्यक्ष के चार अर्थात् इन्द्रिय, मानस, स्वसंवेदन और योगि-प्रत्यक्ष तथा अनुमान के दो- स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान आदि भेद बताये गये हैं।

७. जैन-परम्परा में निक्षेप-विधि, अनुयोगद्वार-विधि, प्ररूपणा-विधि, नय-विधि, उपक्रम या उपोद्धात-विधि तथा पंचांग-विधि आदि विधियाँ पायी जाती हैं जिनका बौद्ध परम्परा में अभाव पाया जाता है।

### सन्दर्भ :

१. तत्रिसर्गादधिगमाद्वा। 'तत्त्वार्थसूत्र', विवे०-पं० सुखलाल संघवी, १/३.
२. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् ..... । 'प्रमाण-परीक्षा', पृ० १.
३. मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्। तत्त्वार्थसूत्र, १/९
४. श्रुतं मतिपूर्वद्वयनेकद्वादशभेदम्। वही, १/१४
५. 'नन्दी', टिप्पण, सूत्र-२, पृ०-४९
६. The theory of five-fold knowledge originally belonged to Jainas but the case is different with the theory of Pramāṇa. This later conception is borrowed by the Jainas from other philosophical traditions. The conception of Pramāṇa in Jain Philosophy came into existence in c. 3rd-4th A.D. and continued to develop upto c. 13th A.D. Historical Development of Jaina Philosophy and Religion. *Aspects of Jainology*, Vol. VI, p. 33
७. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्। 'न्यायावतार', १/२
८. 'जैन दर्शन मनन और मीमांसा', पृ०-५५८
९. 'अष्टसहस्री', पृ०-१७५
१०. पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे। 'अनुयोगद्वार', प्रमाणद्वार।
११. साध्याविनाभुनो लिङ्गात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम्।  
अनुमानं तदध्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्॥ 'न्यायावतार', ५
१२. सहक्रमभावनियमोऽविनावः। 'परीक्षामुख', ३/१२
१३. सहक्रमविदामेकं तर्कात् स्वसंवेदनम्। 'सिद्धिविनिश्चय', ६/४१
१४. साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत्प्रतिपादकम्।  
परार्थमनुमानं तत् पक्षादिवचनात्मकम्॥ 'न्यायावतार', १३
१५. स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः।  
परार्थं मानमाख्यातं, वाक्यं तदुपचारतः॥ वही, १०
१६. पुव्ववं सेसवं दिट्ठसाहम्मव। 'अनुयोगद्वार', ४४०

१७. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक', ४/१
१८. अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः। वही, ४/४
१९. स च द्वेधा-लौकिको लोकोत्तरश्च। वही, ४/६
२०. लौकिको जनकादिः, लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिः। वही, ४/७
२१. तं जहा- साहम्मोवणीते य वेहम्मोवणीते या 'अनुयोगद्वार', ४५८
२२. संस्कारोद्बोधनिबन्धना तादित्याकारा स्मृतिः। 'परीक्षामुख', ३/३
२३. दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्। वही, ३/५
२४. द्विविधं हि प्रत्यभिज्ञानं- तदेवेदमित्येकत्वनिबन्धनम् तादृश्यमेवेदमिति सादृश्यनिबन्धनं च। 'प्रमाणपरीक्षा', पृ०-४२
२५. यावान् कश्चिद्भूमः स सर्वः पावकजन्मैवापावकजन्मा वा न भवतीति सकलदेशकालव्याप्त्या साध्यसाधनसम्बद्धोहापोहलक्षणो हि तर्कः प्रमाणयितव्यः। वही, पृ०-४४-४५
२६. नैगमसङ्ग्रहव्यवहारजूसूत्रशब्दा नयाः।  
आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ। 'तत्त्वार्थसूत्र', १/३४-३५
२७. वही, पृ०-६
२८. निर्देशस्वामित्वसाधनाऽधिकरणस्थितिविधानतः।  
सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालाऽन्तरभावाऽल्पबहुत्वैश्च॥ वही, १/७-८
- २९-४२. वही, पृ०-९-११
४३. वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाप्रायधर्मोपदेशाः। 'धर्मावृत्त' (अनगार), ९/२५
४४. शब्दार्थशुद्धता द्रुतविलम्बिताघूनता च सम्यक्त्वम्।  
शुद्धप्रन्थार्थोभयदानं पात्रेऽस्य वाचना भेदः॥ वही, ७/८३
४५. प्रच्छनं संशयोच्छित्त्यै निश्चितद्रव्यनाय वा  
प्रश्नोऽधीति प्रवृत्त्यर्थत्वादधीतिरसावपि॥ वही, ७/८४.
४६. साऽनुप्रेक्षा यदभ्यासोऽधिगतार्थस्य चेतसा।  
स्वाध्यायलक्ष्य पाठोऽन्तर्जल्पामाऽत्रापि विद्यते॥ वही, ७/८६
४७. आम्नायो घोषशुद्धं यद् वृत्तस्य परिवर्तनम्  
धर्मोपदेशः स्याद्धर्मकथा संस्तुतिमङ्गला॥ वही, ७/८७
४८. वही
४९. आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्था।  
ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेपणी णाम॥ 'भगवती आराधना', ६५५
५०. वही
५१. संवेयणी पुण कहा णाणचरित्ततवीरियइड्ढिगदा।  
णिज्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे या॥ वही, ६५६

५२. वही
५३. 'धर्माभूत' (अनगार), ७/८८
५४. 'आदिपुराण में प्रतिपादित भारत', पृ०-२६७-२६८
५५. वही
५६. वटवृक्षः पुरोऽयं ते घनच्छायः स्थितो महान्।  
इत्युक्तोऽपि न तं धर्मे श्रितः कोऽपि वदाद्भुतम्॥ 'आदिपुराण', १२/२२६
५७. 'आदिपुराण में प्रतिपादित भारत', पृ० २६८-२६९
५८. वही, पृ०-२६९
५९. वही, पृ०-२६९
६०. प्रकृतस्यार्थतत्त्वस्य श्रोतृबुद्धो समर्पणम्। उपक्रमोऽसौ विज्ञेयस्तथोपोद्धात इत्यपि।  
'आदिपुराण', २/१०३
६१. 'आदिपुराण में प्रतिपादित भारत', पृ०-२६९
६२. वही, पृ०-२७०
६३. वही, पृ०-२७०
६४. 'विशेषार्थयकभाष्य', सम्पा०-डॉ० नथमल टाटिया, पृ०-१६८-१६९
६५. सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च॥ 'सवार्थसिद्धि', १/८
६६. प्रज्ञोत्कर्षजुषः श्रुतस्थितिपुषश्चेतोऽक्षसंज्ञामुषः  
संदेहच्छिदुराः कषायभिदुराः प्रोद्यतपोमेदुराः।  
संवैगोल्लसिताः सदध्यवसिताः सर्वातिचारोज्झिताः  
स्वाध्यायात् परवाद्यशङ्कितधियः स्युः शासनोद्भासिनः। 'धर्माभूत' (अनगार) ७/८९
६७. 'जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण', पृ० ४५९
६८. वही,
६९. वही,
७०. वही, पृ० ४५९
७१. न वि अत्थि न वि अ होद्धी सज्झाय समं तवोकम्मा 'बृहत्कल्पभाष्य', ११६९
७२. सज्झाएवा निउतेण सव्वदूक्खविमोक्खणे। 'उत्तराध्ययन', २६/१०.
७३. बहुभवे संचित्य खलु सज्झाएण खणे खवेई। 'चन्द्रप्रज्ञप्ति', ९१.
७४. सज्झायणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेई। 'उत्तराध्ययन', २९/१८.
७५. स्वाध्यायेन मनरोधस्ततोऽक्षाणां विनिर्जयः।  
इत्याकलय्य ते धीराः स्वाध्यायधियः धियमादधुः॥ 'आदिपुराण', ३४/१३४.
७६. 'तत्त्वार्थवार्तिक', पृ०-७८९.
७७. 'ललितविस्तर' (हि०अनु०) अ० १०, पृ०-२४९ तथा लेफमैन, 'ललितविस्तर', १२५/७.

७८. 'इत्सिंग रेकर्ड', पृ० १७०-१७४.
७९. 'विनयपिटक' के पंचम खण्ड (डॉ० ओल्डनवर्ग संस्करण) के ९-१३ अध्याय, पालि टेक्स्ट सोसायटी संस्करण, उद्धृत, 'बौद्धदर्शन मीमांसा', पं० बलदेव उपाध्याय
८०. 'बौद्धदर्शन मीमांसा', द्वितीय संस्करण, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ०-३१८
८१. 'हेनेत्सांग की भारत यात्रा' (अनु०), पृ०-५४.
८२. Scholastic debates were encouraged. Such learned assemblies were a noble feature of Buddhist education. *Asian Dharma*, Vol. 3, p. 1629.
८३. 'प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास', ओमप्रकाश, पृ०-२३१.
८४. 'मिलिन्दपन्हपालि', ओपम्मकथापन्ह, पृ०-२५६.
८५. 'मिलिन्दपन्ह', बहिरकथा, गाथा ३-४
८६. 'बौद्ध दर्शन मीमांसा', पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ४२.
८७. एक सवचनं एक विभज्जवचनापरं।  
ततियं पटिपुच्छेय्य, चतुत्थं पन ढापये।।  
यो च तेसं तत्थ-तत्थ जानाति अनुधम्मंतं।  
चतुपज्जस्स कुसलो, आहु भिक्खुं तथा विधं।।  
दुरासदो दुप्पसहो गंभीरो दुप्पधसियो।  
तत्थो अत्थे अनत्थो च उभयस्स होति कोविदो।।  
अनत्थं परिवज्जेति अत्थं गण्हाति पण्डितो।  
अत्थाभिसमया धीरो पण्डितो ति पवुच्चति।।  
- 'अंगुत्तरनिकाय', उद्धृत 'जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास', पृ०-३९९-४००.
८८. 'विनयपिटक', राहुल सांकृत्यायन, पृ०-१४६
८९. 'संयुक्तनिकाय', सक्कसुत्त, पृ० १६४
९०. प्रमाणमविसंवादी ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः।  
अविसंवादनं शाब्देप्यभिप्रायनिवेदनात्॥ 'प्रमाणवार्तिक', २/१.
९१. प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहननिवर्तनम्। वही, २/४
९२. यथोपदर्शितार्थस्य क्रियायाः स्थितिः प्रमाणयोग्यता अविसंवादनम्। अतश्च यतो ज्ञानार्थं परिच्छिद्यापि न प्रवर्तते, प्रवृत्तो वा कुतश्चित् प्रतिबन्धादेरर्थक्रियां नाधिगच्छति, तदपि प्रमाणमेव प्रमाणयोग्यतालक्षणस्याविसंवादस्य सत्त्वात्। 'प्रमाणवार्तिक' (मनोरथनन्दी टीका) १/३, पृ०-४
९३. अयथाभिनवेशेन द्वितीया भ्रान्तिरिष्यते। 'प्रमाणवार्तिक', २/५४
९४. अभिप्रायाऽविसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता। वही, २/५६
९५. संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना।  
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साक्षजा मतिः॥ वही, २/१२४



१३२ जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन

९६. स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन सननन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम् ।  
'न्यायबिन्दु', १/९
९७. सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनम् । वही, १/१०
९८. *Buddhist Logic*, Vol. ii, p. 31
९९. भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति। 'न्यायबिन्दु', १/११
१००. या च सम्बन्धिनो धर्माद् भूतिधर्मिणि ज्ञायते।  
सानुमानं परोक्षाणामेकान्तेनैव साधनम् ॥ 'प्रमाणवार्तिक', २/६२
१०१. स्वस्मादिदं स्वार्थम् । 'न्यायबिन्दु' (टीका) २/२
१०२. परार्थानुमानं तु स्दृष्टार्थप्रकाशनम् । 'प्रमाणसमुच्चय', उद्धृत- 'द्वादशारनयचक्र',  
भाग-१, परिशिष्ट, पृ०-१२५
१०३. शाब्देऽप्यप्रायनिवेदनात् । प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य। 'प्रमाणवार्तिक', १/३-४
१०४. 'संयुक्तनिकाय' (अनु०), भाग १, पृ० १६१.
१०५. 'जातककालीन भारतीय संस्कृति', पृ० १००



## पञ्चम अध्याय

# शिक्षक की योग्यता एवं दायित्व

भारतीय संस्कृति में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरु को सामाजिक विकास का सूत्रधार माना जाता है। समाज की आकांक्षाओं, आवश्यकताओं और आदर्शों को व्यावहारिक रूप में परिणत करने का कर्तव्य गुरु को ही निभाना पड़ता है। यदि कहा जाय कि गुरु हमारी संस्कृति के केन्द्रविन्दु हैं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिस प्रकार तराजू में दो पलड़े होते हैं। दोनों पलड़ों के बीच डण्डी होती है उसमें एक मुठिया लगी रहती है जो केन्द्र का काम करती है। डण्डी या मुठिया के अभाव में केवल पलड़ों से किसी भी वस्तु को तौला नहीं जा सकता है क्योंकि डण्डी या मुठिया के होने पर ही हम तराजू का उपयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार हमारी संस्कृति में तीन मुख्य तत्त्व पाये जाते हैं— देव, गुरु और धर्म। इन तत्त्वों में गुरु का पद मध्यस्थ है और मध्यवर्ती होकर वे देव और धर्म की पहचान करवाते हैं। जैन परम्परा में भी गुरु को नमस्कार महामन्त्र में 'णमो आचरियाणं' के रूप में मध्यस्थ स्थान प्राप्त है।

भारत की इस पावन धरती पर महान ज्ञानी, ध्यानी तथा ऋषि आदि उत्पन्न हुए जिन्होंने अपने ज्ञान की दिव्य ज्योति से व्यक्ति और समाज में व्याप्त अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने का प्रयास किया। इसी कारण जब भी अध्यापक अथवा अध्यापन के विषय में चर्चा होती है तो किसी न किसी रूप में हम अपने उन प्राचीन गुरुओं को आदर्श रूप में स्वीकार करते हैं। चाहे वह अध्यापन कार्य का क्षेत्र हो अथवा ज्ञान के आविष्कार का विषय हो, सभी क्षेत्रों में हमें गुरु की आवश्यकता पड़ती है। जहाँ तक विद्यार्थी जीवन को सार्थक बनाने की बात है तो उसमें गुरु का सर्वोच्च स्थान है।

### ‘गुरु’ का शाब्दिक अर्थ

गुरु शब्द की व्युत्पत्ति ‘गृ’ धातु में ‘कु’ और ‘उत्त्व’ प्रत्यय लगने से होती है। ‘गृणाति उपदिशति धर्मं गिरति अज्ञानं वा गुरुः।’<sup>१</sup> अर्थात् जो अज्ञान को नष्ट करके ज्ञान का प्रकाश प्रदान करता है तथा अन्तर्मन में धर्म की ज्योति प्रज्वलित करता है, धर्म का उपदेश देता है, वही गुरु है। गुरु शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है — ‘गुणातीति गुरुः’ जो ‘गृ निगरणे’ धातु से निष्पन्न है और जिसका अर्थ होता

है जो भीतर से कुछ निकालकर दे वह गुरु कहलाता है। गुरु की तीसरी व्युत्पत्ति है— गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वमनुष्यादिभिः। गीर्यते स्तूयते महात्त्वाद् इति वा। अर्थात् देवों, गन्धर्वों और मनुष्यों के द्वारा स्तुति किये जाने के कारण वह गुरु कहलाता है। महिमा और माहात्म्य के कारण उसकी स्तुति की जाती है। एक अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार - 'गुकारस्तमसि प्रोक्तो रुकास्तन्निवर्तकः।' जिसमें प्रथम वर्ण 'गु' अन्धकार का द्योतक है और दूसरा वर्ण 'रु' प्रकाश का वाचक है। अतः अन्धकार को दूर करने वाला ही गुरु है।

इस प्रकार 'गुरु' शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में गुरु एक धर्मोपदेशक तथा पथ-प्रदर्शक दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु सामान्यतया 'गुरु' शब्द का अर्थ शिक्षक से लिया जाता है जो हमें स्कूल या कालेजों में किसी विषय का विधिवत ज्ञान कराते हैं। इनके अतिरिक्त गुरु के और भी अर्थ देखने को मिलते हैं—

- (१) ज्योतिषशास्त्र में बृहस्पति नाम का एक ग्रह है जिसे गुरु भी कहा जाता है।
- (२) व्याकरण में ह्रस्व और दीर्घ दो प्रकार के स्वर माने गये हैं, जिसमें दीर्घ को गुरु के नाम से भी इंगित किया जाता है।

## जैन परम्परा

जैन ग्रन्थों में गुरु के लिए आचार्य<sup>२</sup>, बुद्ध<sup>३</sup>, पूज्य<sup>४</sup>, धर्माचार्य,<sup>५</sup> उपाध्याय<sup>६</sup> आदि शब्दों के भी प्रयोग देखने को मिलते हैं।

### आचार्य (गुरु) की परिभाषा

'भगवतीसूत्र' के वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने आचार्य को परिभाषित करते हुए कहा है— जो जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित आगम ज्ञान को हृदयंगम कर उसे आत्मसात करने की उत्कण्ठा वाले शिष्यों द्वारा विनयादिपूर्ण, मर्यादापूर्वक सेवित हों उन्हें आचार्य कहते हैं।<sup>७</sup> 'मूलाचार' में कहा गया है - जो आचारवेत्ता हैं, सदा आचार का आचरण करते हैं और दूसरों से करवाते हैं, वे आचार्य हैं।<sup>८</sup> इसी प्रकार आचार्य शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ बताते हुए आचार्य वीरसेन ने कहा है - जो पाँच आचारों का स्वयं पालन करते हैं तथा दूसरों से करवाते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं।<sup>९</sup> सामान्यतया जिनसे आचरण ग्रहण किया जाता है उन्हें आचार्य कहते हैं।<sup>१०</sup> आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि जिसके निमित्त से व्रतों का आचरण करते हैं वे आचार्य कहलाते हैं।<sup>११</sup> 'दशवैकालिकचूर्णि' के अनुसार सूत्र और अर्थ से सम्पन्न तथा अपने गुरु द्वारा जो गुरु पद पर स्थापित होता है वह आचार्य कहलाता है।<sup>१२</sup> जिनशासन के अर्थ का उपदेशक होने के कारण मोक्ष के

अभिलाषी शिष्य विनयपूर्वक जिनकी सेवा करते हैं, वे सूत्रार्थ के दाता मुनिवर आचार्य हैं।<sup>१३</sup> 'मूलाचार' में कहा गया है कि जो सर्वकाल-सम्बन्धी आचार को जानता है तथा योग्य आचार का स्वयं आचरण करता है और अन्य साधुओं को आचरण में प्रवृत्त करता है उसे आचार्य कहते हैं। 'मूलाचार' में आचार्य पद की सार्थकता को निरूपित करते हुये कहा गया है कि पांच प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण करते हुए सुशोभित होने के कारण आचार्य नाम सार्थक होता है।<sup>१४</sup>

धर्म के उपदेशक को उपाध्याय कहते हैं। आचार्य के बाद उपाध्याय का स्थान होता है। उपाध्याय को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जिनके पास आकर अध्ययन किया जाये वे उपाध्याय हैं।<sup>१५</sup> 'मूलाचार' के अनुसार जो स्वाध्याय रूपी द्वादशांगों का अपने शिष्यों को उपदेश देते हैं, पढ़ाते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं।<sup>१६</sup>

### आचार्य के लक्षण

विद्यार्थी के लिए सद्गुरु का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। सद्गुरु के अभाव में विद्यार्थी कितनी ही कुशाय बुद्धि का क्यों न हो, वह उसी प्रकार प्रकाशित नहीं हो सकता जिस प्रकार बिना सूर्य के चन्द्रमा। किन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि सद्गुरु की संगति कैसे की जाये, उसकी पहचान क्या है? उसके लक्षण क्या हैं? जिसे देखकर यह समझा जाये कि यह सद्गुरु है या असद्गुरु। 'भगवतीसूत्र' में सद्गुरु के लक्षणों को बताते हुए कहा गया है कि जो सूत्र और अर्थ दोनों के ज्ञाता हों, उत्कृष्ट कोटि के लक्षणों से युक्त हों, संघ के लिए मेढ़ि के समान हों, जो अपने गण, गच्छ अथवा संघ को सभी प्रकार के सन्तापों से पूर्णतः विमुक्त रखने में सक्षम हों तथा जो अपने शिष्यों को आगमों की गूढ़ अर्थसहित वाचना देते हों, वे सद्गुरु आचार्य हैं।<sup>१७</sup> आचार्य की विशेषता पर प्रकाश डालते हुये कहा गया है- जो प्रवचनरूपी समुद्र जल के मध्य स्नान करने से अर्थात् परमात्मा के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरु के समान निष्कम्प हैं, शूरवीर हैं, सिंह के समान निर्भीक हैं, जो श्रेष्ठ हैं, देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं, संघ के अनुग्रह में कुशल और सूत्रार्थ में विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सर्वत्र फैल रही है, जो सारण (आचरण), वारण (निषेध) और शोधन (व्रतों की शुद्धि) करनेवाली क्रियाओं में निरन्तर उद्यत हैं, वे आचार्य परमेश्वरी के समान हैं।<sup>१८</sup> 'आदिपुराण' के अनुसार आचार्य के निम्न लक्षण हैं—

(१) सदाचारी, (२) स्थिरबुद्धि, (३) जितेन्द्रियता, (४) अन्तरंग और बहिरंग

सौम्यता, (५) व्याख्यान शैली की प्रवीणता, (६) सुबोध व्याख्या शैली, (७) प्रत्युत्पन्नमत्तित्व, (८) गम्भीरता, (९) प्रतिभासम्पन्नता, (१०) तार्किकता अर्थात् प्रश्न तथा कुतर्कों को सहनेवाला हो, (११) दयालुता, (१२) दूसरे अर्थात् शिष्य के अभिप्रायों को अवगत करने की क्षमता, (१३) समस्त विद्याओं का ज्ञाता, (१४) संस्कृत, प्राकृत आदि अनेक भाषाओं में निपुणता, (१५) स्नेहशीलता, (१६) उदारता, (१७) सत्यवादिता, (१८) सत्कुलोत्पन्नता, (१९) परहित साधन-तत्परता, आदि।<sup>२१</sup> 'गुरुतत्त्वविनिश्चय'<sup>२२</sup> में निम्नलिखित लक्षण बताये गये हैं-

(१) जो सुन्दर व्रतवाला हो, (२) जो सुशील हो, (३) जो दृढ़ व्रतवाला हो, (४) जो दृढ़ चरित्रवाला हो, (५) जो अनिन्दित अंगवाला हो, (६) जो अपरिग्रही हो, (७) जो राग-द्वेष रहित हो, (८) मोह-मिथ्यात्वरूपी मल कलंक से रहित हो, (९) उपशान्तवृत्तिवाला हो, (१०) स्वप्नशास्त्र का जानकार हो, (११) महावैराग्य के मार्ग का जानकार हो, (१२) जो स्त्रीकथा, भक्तकथा, चौर्यकथा, राजकथा और देशकथाओं को न करनेवाला हो, (१३) जो अत्यन्त अनुकम्पाशील हो, (१४) परलोक में प्राप्त होनेवाले विघ्नों से डरनेवाला हो, (१५) जो कुशील का शत्रु हो, (१६) जो शास्त्रों के भावार्थ को जाननेवाला हो, (१७) जो शास्त्रों के रहस्यों को जाननेवाला हो, (१८) जो रात-दिन अहिंसा आदि लक्षण तथा क्षमादि दशधर्म में लीन रहनेवाला हो, (१९) जो निरन्तर पर्वत के समान अडिग बारह तपों को करनेवाला हो, (२०) जो पाँच समितियों का सतत् पालन करनेवाला हो, (२१) जो सतत् तीन गुप्तियों से युक्त रहनेवाला हो, (२२) स्वशक्ति से अठारह हजार (१८०००) शीलांग की आराधना करनेवाला हो, (२३) उत्सर्गरुचि, तत्त्वरुचि और शत्रु-मित्र के साथ समभाव रखनेवाला हो, (२४) जो सात भयस्थानों से मुक्त हो, (२५) जो नौ ब्रह्मचर्य तथा गुप्ति की विराधना से डरनेवाला हो, (२६) जो बहुश्रुत हो, (२७) जो आर्यकुल में जन्मा हो, (२८) जो साध्वी वर्ग के संसर्ग में न रहनेवाला हो, (२९) जो निरन्तर धर्मोपदेश करनेवाला हो, (३०) जो सतत् ओष समाचार की प्ररूपणा करनेवाला हो, (३१) साधु-मर्यादा में रहनेवाला हो, (३२) जो सामाचारी से डरनेवाला हो, (३३) जो आलोचना के योग्य शिष्य को प्रायश्चित्त करवाने में समर्थ हो, (३४) जो वन्दन-प्रतिक्रमण-स्वाध्याय-व्याख्यान-आलोचना-उद्देश और समुद्देश आदि सात समूहों की विराधना का जानकार हो, (३५) प्रव्रज्या-उपसम्पदा और उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा की विराधना का जानकार हो, (३६) द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव-भवान्तर के अन्तर को जाननेवाला हो, (३७) द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावादि आलम्बन से विमुक्त हो, (३८) जो थके हुये बाल, (३९) वृद्ध, नवदीक्षित साधु और साध्वी को मोक्षमार्ग की ओर प्रवर्तन करने में कुशल हो, (४०)

जो ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी तप की प्ररूपणा करनेवाला हो, (४१) जो चरण और करण का धारक हो, (४२) जो ज्ञान-दर्शन और चारित्ररूपी तपों के गुणों में प्रभावक हो, (४३) जो दृढ़ सम्यक्त्ववाला हो, (४४) जो सतत् परिश्रम करनेवाला हो, (४५) जो धैर्य रखने में समर्थ हो, (४६) जो गम्भीर स्वभाववाला हो, (४७) जो अतिशय कान्तिवाला हो, (४८) सूर्य की भाँति तप रूपी तेज से दूसरे द्वारा पराजित न होनेवाला हो, (४९) दान-शील-तप और भावनारूपी चतुर्विध धर्म में उत्पन्न करनेवाले विघ्नों से डरनेवाला हो, (५०) जो सभी प्रकार की अशातनाओं से डरनेवाला हो, (५१) ऋद्धि-रस-सुख आदि तथा रौद्र आर्त आदि ध्यानों से अत्यन्त मुक्त हो, (५२) सभी आवश्यक क्रियायों में उद्यत हो, (५३) जो विशेष लब्धियों से युक्त हो, (५४) जो बहुनिद्रा न करनेवाला हो, (५५) जो बहुभोजी न हो, (५६) जो सभी आवश्यक, स्वाध्याय, ध्यान, अभिग्रह आदि में परिश्रमी हो, (५७) जो परीषह और उपसर्ग में न घबरानेवाला हो, (५८) जो योग्य शिष्य को संग्रहित करने में सक्षम हो, (५९) अयोग्य शिष्य का त्याग करने की विधि जाननेवाला हो, (६०) जो मजबूत शरीरवाला हो, (६१) जो स्व-पर शास्त्रों का मर्मज्ञ हो, (६२) क्रोध, मान, माया, लोभ, ममता, रति, हास्य, क्रीड़ा, काम, अहितवाद आदि बाधाओं से सर्वथा मुक्त हो, (६३) जो सांसारिक विषयों में लिप्त रहनेवाले व्यक्ति को अपने अभिभाषण/धर्मोपदेश द्वारा वैराग्य उत्पन्न कराने में समर्थ हो, (६४) जो भव्य जीवों को प्रतिबोध द्वारा गच्छ में लानेवाला हो।

उपर्युक्त गुणों का विवेचन करने के पश्चात् यह कहा गया है कि इन गुणों से युक्त साधु (गुरु) गणी हैं, गणधर हैं, तीर्थ हैं, अरिहन्त हैं, केवली हैं, जिन हैं, तीर्थप्रभावक हैं, वंघ हैं, पूज्य हैं, नमस्करणीय हैं, दर्शनीय हैं, परमपवित्र हैं, परम कल्याण हैं, परममंगल हैं, सिद्ध हैं, मुक्त हैं, शिव हैं, मोक्ष हैं, रक्षक हैं, सन्मार्ग हैं, गति हैं, शरण्य हैं, पारंगत और देवों के देव हैं।<sup>२३</sup>

### आचार्य पद पर नियुक्त होने की योग्यताएँ

जीवन के निर्माण में गुरु एक महान विभूति के रूप में प्रस्तुत होता है, परन्तु उस महान विभूति का योग्य होना भी आवश्यक है, क्योंकि यदि गुरु ही अयोग्य होगा तो शिष्य योग्य कैसे बन सकता है? जैन ग्रन्थों में गुरु की योग्यता बताते हुए कहा गया है- जो संग्रह और अनुग्रह में कुशल हो (दीक्षा आदि देकर शिष्यों को संघ में एकत्रित करना संग्रह है और पुनः उन शिष्यों को शास्त्रादि ज्ञान द्वारा संस्कारयुक्त, योग्य बनाना अनुग्रह है।), सूत्र के अर्थ में विशारद, कीर्ति से प्रसिद्धि को प्राप्त, ग्राह्य और आदेय वचन बोलनेवाला (कथित मात्र को ग्रहण करने वाला अर्थात् गुरु ने कुछ कहा तो 'यह ऐसा है' इस प्रकार के भाव से उन वचनों को ग्रहण करना ग्राह्य है और प्रमाणीभूत

वचन को आदेय कहते हैं), गम्भीर प्रवादियों द्वारा कभी भी परिभव-तिरस्कार आदि प्राप्त न करनेवाला, शूर, धर्म की प्रभावना करनेवाला, क्षमा गुण में पृथ्वी के समान, सौम्य गुण में चन्द्रमा और निर्मलता में समुद्र के समान विशिष्ट गुणों से युक्त हो वह आचार्य है।<sup>२०</sup>

आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने की योग्यताओं के विषय में 'व्यवहारसूत्र' में कहा गया है कि कम से कम पाँच वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले श्रमणाचार में कुशल, प्रवचन में प्रवीण, प्रज्ञाबुद्धि में निष्णात, आहारादि के उपग्रह में कुशल, अखण्डाचारी, सबल दोषों से रहित, भिन्नता रहित, आचार का पालन करनेवाले, निःकषाय चरित्रवाले, अनेक सूत्रों और आगमों में पारंगत श्रमण आचार्य अथवा उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित होने के योग्य हैं।<sup>२१</sup>

आचार्य, उपाध्याय और साधु- ये तीनों साधु अवस्था के ही भेद हैं। श्रमणत्व की दृष्टि से तीनों समान ही होते हैं और सामान्य रूप से मूल गुणों तथा उत्तर गुणों का पालन सभी को करना पड़ता है। चूँकि आचार्य संघ के प्रधान होते हैं, अतः उनमें अनेक विशिष्ट गुण माने गये हैं। 'भगवती आराधना' में आचार्य को आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान, कर्ता (प्रकुर्वीत), रत्नत्रय के लाभ और विनाश को दिखानेवाला (आयापाय दर्शोद्यत), अवपीड़क (उत्पीलक), अपरिस्रावी, निर्वापक, निर्यापक, प्रसिद्धकीर्तिशाली (प्रथितकीर्ति) तथा निर्यापन आदि विशिष्ट गुणों से सम्पन्न बताया गया है।<sup>२२</sup> इनके अतिरिक्त आचार्य परमेष्ठी के छत्तीस गुण बताये गये हैं।

### छत्तीस गुण

आचार्य अनेक गुणों से सम्पन्न होते हैं। उनके गुणों की परिगणना नहीं की जा सकती। शास्त्रानुसार वे साधु के साधारण गुणों के साथ-साथ विशिष्ट छत्तीस गुणों के धारक होते हैं। जैन धर्म की दोनों परम्पराओं में आचार्य के छत्तीस गुण कहे गये हैं, किन्तु संख्या में एकरूपता होते हुए भी भेदों में एकरूपता नहीं है।

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार जो पाँच इन्द्रियों को वश में करता है, नौ बाड़ से विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करता है, पाँच महाव्रतों से युक्त होता है, पाँच आचारों के पालन में समर्थ होता है, पाँच समिति और तीन गुप्ति का पालक होता है और जो चार प्रकार के कषायों से मुक्त होता है वही गुरु या आचार्य है।<sup>२३</sup>

दिगम्बर परम्परा में भी आचार्य के गुणों की संख्या छत्तीस स्वीकार की है, किन्तु गुणों के भेदों में आचार्यों के बीच मतैक्य नहीं है। 'भगवती आराधना' में आचारवत्त्व आदि आठ गुण, दस स्थितिकल्प, बारह तप, छः आवश्यक आदि छत्तीस गुणों का

उल्लेख है।<sup>२४</sup> 'भगवती आराधना' की अपनी टीका में पं० आशाधर जी ने उक्त गाथा के सम्बन्ध में लिखा है - 'भगवती आराधना' के अनुसार छत्तीस गुण इस प्रकार हैं - आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह तप, पाँच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ आदि। ये छत्तीस गुण 'भगवती आराधना की संस्कृत टीका' के अनुसार हैं। प्राकृत टीका में अट्ठाइस मूल गुण और आचारवत्त्व आदि आठ- ये छत्तीस गुण हैं अथवा दस आलोचना के गुण, दस प्रायश्चित्त के गुण, दस स्थितिकल्प और छह जीतगुण- ये छत्तीस गुण हैं। ऐसी स्थिति में भगवती आराधना में सुनी गयी यह गाथा प्रक्षिप्त ही प्रतीत होती है।<sup>२५</sup> 'बोधपाहुड' की गाथा दो की संस्कृत टीका के अनुसार आचार्य के छत्तीस गुण इस प्रकार हैं— आचारवान, श्रुतधारी, प्रायश्चित्तदातार, गुण-दोष का प्रवक्ता; किन्तु दोष को प्रकट न करनेवाला, अपरिस्रावी, साधुओं को सन्तोष देनेवाले निर्यापक, दिगम्बरवेषी, अनुदिष्टभोजी, अशय्यासनी, अराजभुक्, क्रियायुक्त, व्रतवान्, ज्येष्ठसद्गुणी, प्रतिक्रमण करनेवाला, षट्मास योगी, द्वि निषद्धावाला, बारह तप और छह आवश्यक ये छत्तीस गुण आचार्य (गुरु) के हैं।<sup>२६</sup>

### आचारवत्त्व आदि आठ गुण

आचार्य आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान, प्रकृतृत्व, आय और अपायदर्शी, अवपीडक, अपरिस्रावी और सुखकारी होता है। इन आठ गुणों को निम्न रूप से परिभाषित किया गया है—

**आचारवान**— दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार- इन पाँच आचारों का जो स्वयं पालन करते हैं और अपने शिष्यों को करवाते हैं, वे आचार्य आचारवान होते हैं। दूसरे शब्दों में जो ज्ञान, दर्शनादि आचारों में अपने आपको भी नियुक्त करते हैं और अपने शिष्यादि को भी नियुक्त करते हैं, वे आचार्य आचारवान हैं।<sup>२७</sup>

**आधारवान**— वे आचार्य जिन्हें श्रुतशास्त्र का असाधारण ज्ञान हो आधारवान होते हैं। दूसरे शब्दों में जो चौदह पूर्व या दस पूर्व या नौ पूर्व के ज्ञाता हों, महाबुद्धिशाली हों, सागर की तरह गम्भीर हों, कल्पव्यवहार के ज्ञाता हों वे आधारवान हैं।<sup>२८</sup>

**व्यवहारवान**— प्रायश्चित्त को ही व्यवहार कहते हैं।<sup>२९</sup> जो आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत आदि पाँच प्रकार के व्यवहार (प्रायश्चित्त) को यथार्थ रूप में विस्तार से जानता है, जिसने बहुत से आचार्यों को प्रायश्चित्त देते देखा है और स्वयं भी प्रायश्चित्त किया है उसे व्यवहारवान आचार्य कहते हैं।<sup>३०</sup>



**प्रकर्तृत्व**— आचार्य में इतनी कर्तृत्व शक्ति होनी चाहिए कि संकट का समय उपस्थित होने पर संघ की रक्षा करने में पीछे न हटे। साथ ही समाधिमरण कराने एवं समाधिमरण ग्रहण करनेवाले श्रमणों का वैयावृत्य कराने में कुशल हो।

**आयापायदर्शी**— दोषों की आलोचना न करनेवाले क्षपक को भय होता है कि मेरे दोष प्रकट होने पर सब मेरा निरादर करेंगे। ऐसे समय में आलोचना करनेवाले क्षपक को आय और उपाय यानी कि आलोचना के गुण एवं आलोचना न करने के दोषों को बतलाने में कुशल आचार्य आयापायदर्शी आचार्य होते हैं।

**अवपीडक**— कोई क्षपक आलोचना के गुण-दोष को जानते हुए भी अपने दोषों को प्रकट करने के लिए तैयार नहीं होता। तब आचार्य क्षपक के दोषों को उसी प्रकार निकालते हैं जिस प्रकार माता बच्चे का मुँह खोलकर दवा पिलाती है।

**अपरिस्त्राव**— श्रमणों द्वारा आलोचित दोषों को दूसरे श्रमणों के आगे वैसे ही प्रकट नहीं करना जैसे तपाये गये लोहे द्वारा पीया गया पानी कभी प्रकट नहीं होता है।<sup>३१</sup>

**निर्यापक**— समाधिमरण स्वीकार करनेवाले साधु क्षुधा, तृषादि परीषहों से पीड़ित होने पर क्रुद्ध भी होते हैं। उन्हें अपनी मृदुवाणी से हितोपदेश देते हुए उनकी बाधाओं को दूर करने में कुशल आचार्य निर्यापकधारी होते हैं।<sup>३२</sup>

उपर्युक्त आठ गुणों से सम्पन्न साधु को ही आचार्य पद के योग्य माना गया है। श्वेताम्बर परम्परा के 'व्यवहारभाष्य' में प्रायश्चित्तों के वर्णन में आलोचनार्ह की विशेषताओं का भी उल्लेख है। आलोचनार्ह निरप्रलापी होते हैं और इन आठ विशेषणों से युक्त होते हैं।<sup>३३</sup>

उक्त आठ गुणों के अतिरिक्त आचेलक्य आदि दस स्थितिकल्प, बारह तप और छह आवश्यक आदि, लेकर छत्तीस गुण बताये गये हैं।

### दस स्थितिकल्प

आचेलक्य, औद्देशिक का त्याग, शय्यातरपिण्ड का त्याग, राजपिण्ड का त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मासस्थिति और पर्युषण — ये दस स्थितिकल्प हैं। 'भगवती आराधना' में आचार्य के आचारवत्त्व आदि गुण का प्रकारान्तर से कथन करते हुए इन दस कल्पों पर प्रकाश डाला गया है। जो दस स्थितिकल्पों में स्थित हैं, वे आचार्य आचारवत्त्व गुण के धारक हैं और आठ प्रवचन माताओं में संलग्न हैं।<sup>३४</sup> किन्तु यह दिगम्बरीय मान्यता है। श्वेताम्बर परम्परा में भी स्थितिकल्प हैं लेकिन वहाँ

दस स्थितिकल्प के धारक ही आचार्य हों यह आवश्यक नहीं है क्योंकि दस स्थितिकल्प में से चार स्थित होते हैं और छ अस्थित। शय्यातरपिण्ड का त्याग, व्रत, ज्येष्ठता और कृतिकर्म चार स्थित हैं, शेष अस्थित। ऋषभ और महावीर को छोड़कर मध्य के बाईस तीर्थंकरों के काल में साधु तथा विदेह के साधु छः अस्थित का पालन करते भी थे और नहीं भी करते थे। श्वेताम्बर परम्परा में दस स्थितिकल्प का पालन प्रत्येक साधु के लिये करणीय है। इसका सम्बन्ध आचार्य के आचार्यत्व से नहीं है।

**आचेलक्य**— चेल का अर्थ होता है- वस्त्र। वस्त्रादि परिग्रह का अभाव या नग्नता का नाम आचेलक्य है। प्रत्येक साधु को नग्न रहना चाहिए। (यह दिगम्बर मान्यता है।) 'भगवती आराधना' की अपनी संस्कृत टीका में अपराजितसूरि ने इसका समर्थन किया है, परन्तु श्वेताम्बर शास्त्रों में उनकी मान्यता के प्रति विरोध प्रकट किया गया है, क्योंकि श्वेताम्बर परम्परा के भाष्यकारों और टीकाकारों ने अचेल का अर्थ अल्प चेल या अल्पमूल्य का चेल से किया है। श्वेताम्बर परम्परा में साधु के लिये नग्नता का निषेध है।

**औद्देशिक का त्याग**— श्रमणों के उद्देश्य से बनाये गये भोजन आदि को ग्रहण न करना, क्योंकि ओष रूप से या विभाग रूप से श्रमणों और श्रमणियों के कुल, गण और संघ के संकल्प से जो भोजन आदि बनाया जाता है वह ग्राह्य नहीं होता है।<sup>३५</sup>

**शय्यातरपिण्ड का त्याग**— जिसने वसतिका बनवायी है, जो वसतिका की सफाई आदि करता है तथा जो वहाँ का व्यवस्थापक है उसके भोजन आदि को ग्रहण न करना तीसरा स्थितिकल्प है। कारण कि उसका भोजन आदि ग्रहण करने पर वह धर्मफल के लोभ से छिपाकर भी आहार आदि की व्यवस्था कर सकता है और जो आहार देने में असमर्थ है, दरिद्र या लोभी है, वह इसलिए रहने को स्थान नहीं देगा कि स्थान देने से भोजनादि भी देना होगा। वह सोचेगा कि अपने स्थान पर ठहराकर भी यदि मैं आहारादि नहीं दूँगा तो लोग मेरी निन्दा करेंगे कि इसके घर में मुनि ठहरे हैं और इस अभागे ने उन्हें आहार नहीं दिया। दूसरे, मुनि का उस पर विशेष स्नेह हो सकता है कि यह हमें वसति के साथ भोजन भी देता है। किन्तु उसका भोजन ग्रहण न करने पर उक्त दोष नहीं होता। अन्य कुछ ग्रन्थकार 'शय्यागृहपिण्ड का त्याग' ऐसा पाठ रखकर उसकी यह व्याख्या करते हैं कि मार्ग में जाते हुए जिस घर में रात को सोये उसी घर में दूसरे दिन भोजन नहीं करना अथवा वसतिका के निमित्त से प्राप्त होनेवाले द्रव्य से बना भोजन ग्रहण नहीं करना।<sup>३६</sup>

**राजपिण्ड का त्याग**— राजा जिसका जन्म इक्ष्वाकु आदि कुल में हुआ है अथवा जो प्रजा को प्रिय शासन देता है या राजा के समान ऐश्वर्यशाली है उसके भोजनादि

को राजपिण्ड कहते हैं। आहार, अनाहार और उपाधि के भेद से राजपिण्ड तीन प्रकार के हैं और इन तीनों को ग्रहण न करना राजपिण्ड का त्याग है। इनके ग्रहण करने से अनेक दोष आते हैं, जैसे- राजभवन में मन्त्री, श्रेष्ठी, कार्यवाहक आदि बराबर आते-जाते रहते हैं, अतः भिक्षा के लिए राजभवन में प्रविष्ट भिक्षु को उनके आने-जाने से रुकावट हो सकती है, उनके कारण साधु को रुकना पड़ सकता है। हाथी, घोड़ों के जाने-आने से भूमि शोधकर नहीं चला जा सकता। नंगे साधु को देखकर और उसे अमंगल मानकर कोई बुरा व्यवहार कर सकता है, कोई उसे चोर भी समझ सकता है। कामवेदना से पीड़ित स्त्रियाँ बलात् साधु को उपभोग के लिए रोक सकती हैं। राजा से प्राप्त सुस्वादु भोजन के लोभ से साधु अनेषणीय भोजन भी ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार राजपिण्ड ग्रहण करने पर अनेक दोष आ सकते हैं, किन्तु जहाँ इस प्रकार के दोषों की सम्भावना न हो और अन्यत्र भोजन सम्भव न हो तो राजपिण्ड भी ग्राह्य हो सकता है।<sup>३७</sup>

**कृतिकर्म**— छह आवश्यकों के पालक गुरुजनों का विनय करना कृतिकर्म है।<sup>३८</sup> चारित्र में स्थित साधु के द्वारा भी महान गुरुओं के प्रति विनय, सेवा करना कृतिकर्म है।

**व्रतारोपण**— जो धर्म की रक्षा करने में समर्थ हो, जो अचेल हो, अपने उद्देश्य से बनाये गये भोजनादि का तथा राजपिण्ड का त्यागी, गुरुभक्त और विनीत हो, उसी को नियमपूर्वक व्रत देना चाहिए, वही व्रतारोपण के योग्य है।<sup>३९</sup>

**ज्येष्ठता**— चिरकाल से दीक्षित और पाँच महाव्रतों की धारिणी साध्वी से एक दिन के भी दीक्षित साधु ज्येष्ठ होते हैं, अतः उनके प्रति विनित भाव रखना चाहिए।

**प्रतिक्रमण**— अचेलता आदि कल्प में स्थित साधु को यदि अतिचार लगता है तो उसका शोधन करना प्रतिक्रमण है।<sup>४०</sup>

**मास**— छः ऋतुओं में एक-एक मास ही एक स्थान पर रहना और अन्य समय में विहार करना मास स्थितिकल्प है।<sup>४१</sup>

**पर्युषण**— वर्षाकाल में भ्रमण त्यागकर चार मास एक ही स्थान पर रहना, क्योंकि उस समय असंयम का डर रहता है। इसके साथ ही वर्षा तथा शीत से आत्मा की विराधना होती है। पानी में छिपे ढूँढ़, काँटे, कीचड़ आदि से भी विराधना होती है।<sup>४२</sup> पं० आशाधरजी ने इस कल्प का नामकरण वार्षिक योग किया है।<sup>४३</sup>

## बारह तप

जैन परम्परा में 'तप' को धर्म का प्राणतत्त्व माना गया है। जिस साधना के

द्वारा शरीर के रस, रक्त, मांस, हड्डियाँ, मज्जा, शुक्र आदि तप जाते हैं, सूख जाते हैं तथा जिसके द्वारा अशुभ कर्म जल जाते हैं, वह तप है।<sup>४४</sup> इसी प्रकार जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता हो, उन्हें भस्मसात कर डालने में समर्थ हो, उसे तप कहते हैं।<sup>४५</sup> तप आत्मा को ठीक उसी प्रकार शुद्ध एवं निर्मल करती है जिस प्रकार अग्नि सोने को शुद्ध करती है, फिटकरी मैले जल को निर्मल बनाती है, सोडा या साबुन मलिन वस्त्र को उज्ज्वल बनाता है। 'उत्तराध्ययन में' तप के दो भेद वर्णित हैं—

(१) बाह्य तप और (२) आभ्यन्तर तप।<sup>४६</sup>

बाह्य तप का अर्थ होता है - बाहर से दिखायी देनेवाला तप। जो तप-साधना शरीर से अधिक सम्बन्ध रखती हो वह बाह्य कहलाती है, यथा - उपवास आदि। इसके अन्तर्गत अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रस-परित्याग, काय-क्लेश और संलीनता आदि तप आते हैं। अन्तर्मन में चलनेवाली शुद्धि-प्रक्रिया आभ्यन्तर तप कहलाती है। इसका सम्बन्ध मन से अधिक रहता है। मन को मांजना, सरल बनाना, एकाग्र करना और शुभ चिन्तन में लगाना आदि आभ्यन्तर तप की विधियाँ हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग आदि तप इसके अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर दोनों मिलाकर तप के बारह प्रकार होते हैं, जिनका अलग-अलग विवेचन निम्न प्रकार से है—

**अनशन**— अनशन को सभी तपों में प्रथम स्थान मिला है क्योंकि यह आचरण में अन्य तपों से अधिक कठोर एवं दुर्घर्ष है। आहार का त्याग ही अनशन है। अनशन का अर्थ ही होता है अशन का त्याग अर्थात् आहार का त्याग। आहार का त्याग करने से मन से विषय विकार दूर होते हैं। तप के लाभ के विषय में गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया है — आहार त्याग करने से किस फल की प्राप्ति होती है? अर्थात् आत्मा को अनशन से क्या लाभ होता है? उत्तर में कहा गया है— आहार का त्याग करने से जीवन की आशांसा अर्थात् शरीर एवं प्राणों का मोह छूट जाता है।<sup>४७</sup>

**ऊनोदरी**— तप का दूसरा भेद है ऊनोदरी। ऊनोदरी अर्थात् भोजन करते समय पेट को खाली रखना, भूख से कम खाना ऊनोदरी है। ऊनोदरी का ही दूसरा नाम अवमौदर्य है। दूसरे शब्दों में खाना खाते-खाते रसना पर संयम कर लेना ऊनोदरी है। स्वाद आते हुए भोजन को बीच में छोड़ देना उतना ही दुष्कर है जितना कि उपवास करना। ऊनोदरी तप से अनेक रोग मिट जाते हैं तथा अस्वस्थ व्यक्ति भी स्वस्थ हो जाता है।

**भिक्षाचरी तप—** भिक्षाचरी का अर्थ होता है— विविध प्रकार के अभिग्रह करके आहार की गवेषणा करना। भिक्षा यानी माँगना, याचना करना, किन्तु सिर्फ माँगना मात्र तप नहीं है। शास्त्र में कहा गया है कि दीनतापूर्वक माँगना पाप है।<sup>४८</sup> अतः भिक्षाचरी 'तप' तभी संभव है जब उसे नियमपूर्वक पवित्र उद्देश्य से और शास्त्रसम्मत विधि-विधान के साथ ग्रहण किया जाय। जैन ग्रन्थों में उच्च, नीच और मध्यम कुलों में समान भाव से भिक्षा करने को कहा गया है।<sup>४९</sup> गोचरी, मधुकरी और वृत्तिसंक्षेप आदि नाम भिक्षाचरी के ही पर्यायवाची हैं।<sup>५०</sup>

**रस-परित्याग तप—** रस-परित्याग एक प्रकार का अस्वाद व्रत है। इसमें स्वाद पर विजय प्राप्त करने की साधना की जाती है। रस का अर्थ होता है प्रीति बढ़ानेवाला। जिस कारण से भोजन में प्रीति उत्पन्न होती हो उसे रस कहते हैं। सरस भोजन के सेवन का निषेध करते हुए महावीर स्वामी ने कहा है— सरस पदार्थों का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि रसदार गरिष्ठ आहार से धातु आदि पुष्ट होती हैं, वीर्य उत्तेजित होता है, उससे कामाग्नि प्रचण्ड होती है और विकार साधक को वैसे ही घेरने लगते हैं जैसे कि स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष को पक्षीगण घेर लेते हैं।<sup>५१</sup> अतः स्वाद भावना से रहित भोजन करना चाहिए, क्योंकि स्वाद न लेने से कर्मों का हल्कापन होता है और साधक आहार करता हुआ भी तपस्या करता है।<sup>५२</sup>

**कायक्लेश तप—** कायक्लेश का अर्थ होता है शरीर को कष्ट देना। कष्ट दो प्रकार के होते हैं— (i) कष्ट का प्राकृतिक रूप में स्वयं आना तथा (ii) कष्ट को उदीरणा करके बुलाना। यहाँ कायक्लेश का दूसरा अर्थ ही ग्रहण किया गया है। कायक्लेश अर्थात् अपनी ओर से कष्टों को स्वीकार करना। साधक विशेष कर्म-निर्जरा के लिए अनेक प्रकार के आसन, ध्यान, प्रतिमा, केशलुंचन, शरीर के प्रति मोह-त्याग आदि के माध्यम से विदेह भाव को स्वीकार करता है। यह विशेष प्रकार का तप ही काय-क्लेश तप है।<sup>५३</sup> कायक्लेश महान धर्म और कर्म-निर्जरा का कारण है।

**प्रतिसंलीनता तप—** आत्मा के प्रति लीनता प्रतिसंलीनता है। दूसरे शब्दों में पर-भाव में लीन आत्मा को स्वभाव में लीन बनाने की प्रक्रिया ही प्रतिसंलीनता तप है। इन्द्रियों को, कषायों को, मन-वचन आदि योगों को ठीक उसी प्रकार अपने में समेट लेना जिस प्रकार कछुआ अपने अंगोपांग को भीतर समेट लेता है। भगवती में कहा भी गया है— कछुए की तरह समस्त इन्द्रियों एवं अंगोपांग का गोपन करना चाहिए। यह साधक का इन्द्रिय संयम काययोग तप है।<sup>५४</sup>

**प्रायश्चित्त तप—** पाप की विशुद्धि अथवा दोष की विशुद्धि के लिए जो क्रिया

की जाती है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। 'राजवार्तिक' में प्रायश्चित्त को परिभाषित करते हुए कहा गया है— 'प्रायः' का अभिप्राय है- अपराध और चित्त का- 'शोधना' अर्थात् जिस क्रिया से अपराध की शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त है।<sup>५५</sup> प्रायश्चित्त हृदय को अत्यन्त सरल बनाकर गुरुजनों के समक्ष पाप प्रकट करने की तप-साधना-विधि है।

**विनय तप—** जैन धर्म में विनय को धर्म का मूल माना गया है।<sup>५६</sup> यश, प्रतिष्ठा आदि की भावना पर संयम करना, अहंकार पर विजय करना, मन की निरंकुशता को समाप्त करना एवं गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना आदि विनय के अन्तर्गत आते हैं। विनय का फल मोक्ष है। यह बात आगमों में स्वीकार की गयी है। जिस प्रकार वृक्ष का मूल है- जड़ और अन्तिम फल है- रस, उसी प्रकार धर्मरूपी वृक्ष का मूल है- विनय और उसका अन्तिम फल है- मोक्ष।<sup>५७</sup>

**वैयावृत्य तप—** जीवों में परस्पर एक-दूसरे का सहयोग व उपकार करने की वृत्ति रहती है।<sup>५८</sup> जब यही वृत्ति एक-दूसरे के जीवन में, धर्म की साधना में, आत्मिक विकास में तथा जीवन-विकास में सहयोग करती है, सेवा करती है, तब वह वैयावृत्य कहलाती है। वैयावृत्य करने से आत्मा तीर्थङ्कर नाम-गोत्र-कर्म का उपार्जन करती है।<sup>५९</sup> इस तप की साधना से आत्मा विश्व में सर्वोत्कृष्ट पद की प्राप्ति कर सकती है।

**स्वाध्याय तप—** सत्शास्त्रों को मर्यादापूर्वक पढ़ना, विधि सहित अच्छी पुस्तकों का अध्ययन करना स्वाध्याय है।<sup>६०</sup> स्वाध्याय का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है।

**ध्यान तप—** मन की एकाग्रता का दूसरा नाम ही ध्यान है। आचार्य भद्रबाहु ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है— चित्त को किसी भी विषय पर स्थिर करना, एकाग्र करना ध्यान है।<sup>६१</sup> ध्यान के द्वारा मन स्थिर रहता है। मन को एकाग्र करने के लिए ध्यान अमोघ साधन है।

**व्युत्सर्ग तप—** विशिष्ट उत्सर्ग, विशिष्ट त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। व्युत्सर्ग में सभी पदार्थों के मोह का त्याग किया जाता है। यहाँ तक कि प्राणों के प्रति भी मोह को त्याग दिया जाता है। आचार्य अकलंक ने व्युत्सर्ग को परिभाषित करते हुए कहा है— निस्संगता- अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग ही व्युत्सर्ग है।<sup>६२</sup> दूसरे शब्दों में- आत्मसाधना के लिए अपने-आपको उत्सर्ग करने की विधि का नाम व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग के द्वारा जीव अतीत एवं वर्तमान के दोषों की विशुद्धि करता है।

**छः आवश्यक**

अवश्य करने योग्य कार्य आवश्यक है। कहा भी गया है— अवश्यम् करणाद् आवश्यकम्।<sup>६३</sup> जो अवश्य किया जाये वह आवश्यक है। आवश्यक छः प्रकार के हैं—

**सामायिक**— राग-द्वेष रहित समभाव को सामायिक कहते हैं। सामायिक का मुख्य लक्षण 'समता' है।<sup>६४</sup> सामायिक शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ बताते हुए पं० आशाधर जी ने कहा है— सामायिक शब्द 'सम' और 'अय' के मेल से निष्पन्न हुआ है जिसमें सम का अर्थ होता है राग और द्वेष से रहित तथा 'अय' का अर्थ होता है— ज्ञान। अतः राग-द्वेष से रहित ज्ञान 'समाय' है और उसमें जो हो वह सामायिक है।<sup>६५</sup> इसी को उपाध्याय अमरमुनि ने इस प्रकार कहा है - आत्मा को मन, वचन तथा काय की पापवृत्तियों से रोककर आत्मकल्याण के एक निश्चित ध्येय की ओर लगा देने का नाम सामायिक है।<sup>६६</sup>

सामायिक का पालन करनेवाला साधक सांसारिक दुष्प्रवृत्तियों की ओर से हटकर आध्यात्मिकता की ओर अपने मन, वचन और काय को केन्द्रित कर लेता है, कषाय और राग-द्वेष पर विजय पाकर सबके साथ मित्रवत व्यवहार करता है और सबके प्रति समभाव की दृष्टि रखता है।

**चतुर्विंशतिस्तव**— ऋषभ आदि चौबीस तीर्थङ्करों के जिनवरत्व आदि गुणों की स्तुति करना, कीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है। इनकी स्तुति से साधना का मार्ग प्रशस्त होता है, जड़ एवं मृत श्रद्धा सजीव एवं स्फूर्तिमयी होती है। साथ ही त्याग एवं वैराग्य का महान आदर्श आँखों के सामने देदीप्यमान हो उठता है।<sup>६७</sup>

**वन्दन**— मन, वचन और शरीर का वह प्रशस्त व्यापार जिसके द्वारा गुरुदेव के प्रति भक्ति और बहुमान प्रकट किया जाता है, वन्दन कहलाता है। वन्दन का यथाविधि पालन करने से विनय की प्राप्ति होती है। अहंकार का नाश होता है, उच्च आदर्शों की झाँकी का स्पष्टतया भान होता है, गुरुजनों की पूजा होती है, तीर्थङ्करों की आज्ञा का पालन होता है और श्रुत धर्म की आराधना होती है।<sup>६८</sup>

**प्रतिक्रमण**— प्रमादवश शुभ योग से च्युत होकर अशुभ योग को प्राप्त करने के बाद पुनः शुभ योग में लौट आना प्रतिक्रमण है। आचार्य भद्रबाहु ने चार<sup>६९</sup> विषयों का प्रतिक्रमण बतलाया है ।

(१) हिंसा, असत्य आदि जिन पाप कर्मों का श्रावक तथा साधु के लिए निषेध किया गया है, यदि कभी भ्रान्तिवश वे कर्म कर लिए जायें तो प्रतिक्रमण करना चाहिए।

- (२) शास्त्र-स्वाध्याय, प्रतिलेखना, सामायिक आदि जिन कार्यों के करने का विधान शास्त्र में किया गया है, उनके न किये जाने पर भी प्रतिक्रमण करना चाहिए। कर्तव्य कर्म को न करना भी एक पाप है।
- (३) शास्त्र प्रतिपादित आत्मा आदि अमूर्त तत्त्वों की सत्यता के विषय में सन्देह लाने पर अर्थात् अश्रद्धा उत्पन्न होने पर प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह मानसिक शुद्धि का प्रतिक्रमण है।
- (४) आगम विरुद्ध विचारों का प्रतिपादन करने पर अर्थात् हिंसा आदि के समर्थक विचारों की प्ररूपणा करने पर भी अवश्य प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह वचन शुद्धि का प्रतिक्रमण है।

**कायोत्सर्ग-** संयमित जीवन को विशेष रूप से परिष्कृत करने के लिए, विशुद्ध करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग तप का एक भाग है जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है।

**प्रत्याख्यान-** प्रत्याख्यान तीन शब्दों से बना है— प्रति+आ+आख्यान। अविरति एवं असंयम के प्रति आ अर्थात् मर्यादा स्वरूप आकार के साथ आख्यान या प्रतिज्ञान करना प्रत्याख्यान है।<sup>७०</sup> प्रत्याख्यान करने से संयम होता है, संयम से आश्रव का निरोध अर्थात् संवर होता है। आश्रव निरोध से तृष्णा का नाश होता है।<sup>७१</sup> अतः प्रत्याख्यान द्वारा ही आशा, तृष्णा, लोभ, लालच आदि विषय विकारों पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

उपर्युक्त छत्तीस गुणों के धारक ही सच्चे गुरु होते हैं। आगम में कहा गया है कि जो आचार्य अथवा गुरु इन छत्तीस गुणों का पालन नहीं करते, वे स्वयं तो धर्म से भ्रष्ट होते ही हैं, साथ ही औरों को भी धर्म से पथभ्रष्ट कर देते हैं। जो स्वयं भ्रष्टाचारी हैं, भ्रष्टाचारवालों की अपेक्षा करते हैं और उत्सूत्ररूप मार्ग का प्रस्थापन करते हैं, ये तीनों ही प्रकार के आचार्य सन्मार्ग का विनाश करते हैं। भगवान् महावीर गौतम से कहते हैं— हे गौतम! जो ऐसे उन्मार्ग-आश्रित आचार्यों की सेवा करते हैं, वे अपने-आपको संसार-समुद्र में गिराते हैं।<sup>७२</sup>

### आचार्य की गणि-सम्पदायें

‘स्थानांग’<sup>७३</sup> में आचार्य को आठ प्रकार की सम्पदाओं से युक्त बताया गया है।

- (१) आचार-सम्पदा अर्थात् संयम की समृद्धि का होना।
- (२) श्रुत-संपदा अर्थात् श्रुतज्ञान की समृद्धि का होना।



१४८ जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन

- (३) शरीर-संपदा अर्थात् प्रभावक शरीर-सौन्दर्य होना।
  - (४) वचन-सम्पदा अर्थात् वचन की कुशलता का होना।
  - (५) वाचन-सम्पदा अर्थात् अध्ययन-अध्यापन में निपुण होना।
  - (६) मति-सम्पदा अर्थात् बुद्धि की कुशलता से सम्पन्न होना।
  - (७) प्रयोग-सम्पदा अर्थात् प्रवीणता(वाद) सम्पन्न होना।
  - (८) संग्रह-परिज्ञा अर्थात् संघ की व्यवस्था तथा उसकी देखभाल में निपुण होना।
- ‘दशाश्रुतस्कंध’ में इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद किये गये हैं<sup>७४</sup>—

### आचार-सम्पदा

- (१) संयम ध्रुवयोगयुक्तता— संयम में ध्रुव, निश्चल योगवाले तथा प्रमार्जना, प्रतिलेखनादि क्रिया में सदैव संलग्न रहनेवाला।
- (२) असंग्रही आत्मा— आत्मा में कषायादि का संग्रह न करना तथा जाति, श्रुत आदि मदों का त्याग करना।
- (३) अनियत वृत्ति— आहार-विहारादि कार्य में प्रतिबद्धता रहित होना ।
- (४) वृद्धशीलता— क्षमाशीलता, गंभीरता आदि गुणों से युक्त होना।

### श्रुत-सम्पदा

- (१) बहुश्रुतता — अनेक शास्त्रों का ज्ञाता होना।
- (२) विचित्रसूत्रता — स्वसमय-परसमय का ज्ञाता तथा एक अर्थ को विचित्र/कई प्रकार से समझाने की क्षमता का होना।
- (३) परिचितसूत्रता — सूत्रार्थ से भलीभाँति परिचित होना।
- (४) घोष विशुद्धिकर्ता — शुद्ध उच्चारण करने में समर्थ होना।

### शरीर-सम्पदा

- (१) आरोहपरिणाहसंपन्नता— शरीर की ऊँचाई और विशालता से सम्पन्न होना।
- (२) अनुत्पन्न शरीर— अंगोपांग की हीनता, अपलक्षणादि दोषों से रहित होना।
- (३) स्थिरसंहननता— बलिष्ठ पुष्ट परीषह से चालित होना।
- (४) परिपूर्ण इन्द्रियता— श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों का धारक होना

### वचन- सम्पदा

- (१) आदेयवचनता— जिसका कहा हुआ वचन सभी लोग स्वीकार करें।
- (२) मिष्ठवचनता— जिसके कटुवचन मधुर लगे।
- (३) अनिश्रितवचनता— निरपेक्ष वचन बोलनेवाला।
- (४) असंदिग्धवचनता— संशय रहित अर्थात् सुलझे वचन बोलनेवाला।

### वाचना- सम्पदा

- (१) विदित्वोद्देशन— ज्ञान ग्रहण करनेवाले पात्र अर्थात् शिष्य की योग्यता देखकर उद्देशन देना, वाचना देना।
- (२) विदित्वासमुद्देशन— जो भी पढ़ावें, उसे विस्तार से समुद्देशन करना।
- (३) परिनिर्वाण्यवाचना— विषयवस्तु को सब प्रकार से भेदानुभेद दर्शाना।
- (४) अर्थ निर्वाचना— अर्थ-संगतिपूर्वक नय प्रमाण से अध्ययन करानेवाला।

### मति- सम्पदा

- (१) अवग्रह— सामान्य रूप से अर्थ को जानना।
- (२) ईहा— सामान्यरूप से जाने हुये अर्थ को विशेष रूप से जानने की ईच्छा होना।
- (३) आवाय— ईहित वस्तु का विशेष रूप से निश्चय करना।
- (४) धारणा— ज्ञान वस्तु का कालान्तर में स्मरण रखना।

### प्रयोग- सम्पदा

- (१) आत्मपरिज्ञान — अपनी शक्ति देखकर दूसरे के साथ संवाद करना।
- (२) पुरुष परिज्ञान — जो प्रतिपक्षी है उसकी शक्ति को देखकर उसके साथ संवाद करना।
- (३) क्षेत्र परिज्ञान — वाद-प्रतिवाद करने के क्षेत्र का परिज्ञान होना।
- (४) वस्तु परिज्ञान — वाद-प्रतिवाद काल में निर्णायक के रूप में स्वीकृत सभापति आदि का ज्ञान होना क्योंकि धर्म के धारी कहाग्रही हैं कि न्यायपक्षी हैं। प्रतिवादी किस प्रकार का है - अल्पज्ञ है कि विशेषज्ञ, शान्तस्वभावी है या क्रोधी। इससे वाद चर्चा करने में कुछ निष्कर्ष निकलेगा कि नहीं, फिर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल,

भाव, स्वात्मा, परात्मा का तथा उपकार, अपकार का विचार कर वाद करना चाहिए।

### संग्रह-परिज्ञा

संग्रह-परिज्ञा का अर्थ होता है संघ की व्यवस्था में निपुणता को प्राप्त होना। संग्रह परिज्ञा के भी चार भेद किये गये हैं—

(१) बालादियोग्यक्षेत्र— बालादियोग्यक्षेत्र को बहुजनयोग्य क्षेत्र भी कहते हैं। बहुजनयोग्य क्षेत्र के दो अर्थ होते हैं — (१) वर्षा ऋतु में सम्पूर्ण संघ के योग्य विस्तृत क्षेत्र का निर्वाचन करनेवाला तथा (२) जो क्षेत्र बालक, दुर्बल, ग्लान आदि के लिए उपयुक्त हो।

(२) पीठ-फलंग सम्प्राप्ति— पीठ-फलंग, चौकी आदि की व्यवस्था करना।

(३) कालसमानयन— यथासमय स्वाध्याय, भिक्षा आदि की व्यवस्था करना।

(४) गुरुपूजा— यथोचित विनय की व्यवस्था बनाये रखना।

### उत्तराधिकारी आचार्य

आचार्य संघ के प्रमुख होते हैं। जब उन्हें अपने आयुष्य पर भरोसा नहीं रहता और संघ के विकास एवं नेतृत्व के लिए एक सुयोग्यतम उत्तराधिकारी की आवश्यकता होती है, तब आचार्य अपनी आयुष्य समाप्त होने से पूर्व योग्य शिष्य को अपना उत्तरदायित्व सौंपना चाहते हैं ताकि वे निश्चल भाव से आत्म-साधना में संलग्न हो सकें। 'व्यवहारसूत्र' में कहा गया है कि आचार्य जब रोग आदि की गिल्यता को प्राप्त हो जाते थे तो अपने शिष्यों को बुलाकर कहते थे कि मेरे आयुष्यपूर्ण होने के बाद इन योग्यताओं वाले अमुक श्रमण को इस पद पर प्रतिष्ठित करना। यदि वह इस पद के योग्य परीक्षा में असफल रहे तो दूसरे को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करना।<sup>७५</sup> किन्तु आचार्य द्वारा बताये गये उस साधु को उस समय पदवी के योग्य होने की अवस्था में ही पदवी प्रदान करनी चाहिए, अयोग्यता की अवस्था में नहीं। कदाचित् उसे पदवी प्रदान कर दी गयी हो; किन्तु उसमें आवश्यक योग्यता न हो तो अन्य साधुओं को उससे कहना चाहिए कि तुम इस पदवी के योग्य नहीं हो, अतः इसे छोड़ दो। ऐसी अवस्था में यदि वह पदवी छोड़ देता है तो उसे किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है।<sup>७६</sup> उत्तराधिकारी आचार्य की यह चयन-प्रक्रिया एक ओर जहाँ व्यक्ति की योग्यता के महत्त्व को दर्शाती है वहीं दूसरी ओर भारतवर्ष के प्रजातांत्रिक स्वरूप को प्रदर्शित करती है।

## नियुक्ति विधि

‘भगवती आराधना’ में उत्तराधिकारी आचार्य की नियुक्ति के विषय में कहा गया है<sup>७७</sup> कि संलेखना करनेवाले आचार्य को गण का हित सोचना चाहिए तथा आगे के लिये संघ की क्या व्यवस्था की जाये? इस पर विचार करना चाहिए। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि संलेखना लेनेवाले आचार्य अपनी आयु व स्थिति विचारकर सम्पूर्ण संघ को और बालाचार्य को बुलाकर शुभ दिन, शुभ करण, शुभ नक्षत्र, शुभ लग्न और शुभ देश में गच्छ का अनुपालन करने योग्य गुणों से विभूषित अपने समान भिक्षु के विषय में विचार करने के पश्चात् कुछ उपदेश देकर उस बालाचार्य के लिए अपने गण का त्याग करते थे अर्थात् अपना पद छोड़कर सम्पूर्ण गण बालाचार्य को सौंप देते थे। इस तरह बालाचार्य ही संघ के नायक माने जाते थे।

आचार्य उस नवीन आचार्य की अनुज्ञा करते हुए चतुर्विध संघ से कहते थे— ज्ञान, दर्शन और चारित्रात्मक धर्मतीर्थ की व्युच्छिन्ति न हो, इसलिए उसे सब गुणों से युक्त जानकर मैंने आचार्य बनाया है। अब यह ही तुम्हारा आचार्य है। आप सब इस गण का पालन करें। ऐसा कहकर नवीन आचार्य की अनुज्ञा करते थे। वे अपने द्वारा स्वीकृत गणी (आचार्य) को गण के मध्य में स्थापित करके तथा स्वयं अलग होकर बाल और वृद्ध मुनियों से भरे उस गण में मन, वचन और कायपूर्वक क्षमा मांगते थे। वे कहते थे- दीर्घकाल तक साथ रहने से उत्पन्न हुए राग और द्वेष के कारण जो कटु और कठोर वचन कहे गये हों, उन सबके लिए मैं क्षमा माँगता हूँ। समस्त गण भी वन्दना करके, पृथ्वी पर पाँचों अंगों को स्थापित कर पंचांग नमस्कार करके संसार के दुःखों से रक्षा करनेवाले सबको प्रिय अपने दस प्रकार के उत्तम क्षमादि रूप धर्म में स्वयं प्रवृत्त और दूसरों को प्रवृत्त करनेवाले आचार्य से मन, वचन और काय से क्षमा माँगते थे।

अन्तिम रूप से आचार्य अपने पद से अनेक प्रकार से शिक्षाप्रद उपदेश प्रदान करते हुए चतुर्विध संघ से कहते थे- जिनेन्द्र के द्वारा कहे गये सूत्र आदि के अर्थ में जो निपुण है, जिसने प्रायश्चित्तशास्त्र सुना है, उस आचार्य को अपने प्रयोजन की चिन्ता करते हुए भी जिन भगवान् की आज्ञा से गण को मुक्ति के मार्ग में सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चरित्र को बढ़ानेवाला विहार तथा उत्तरोत्तर उन्नत अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकार शुभ तिथि आदि से युक्त काल और देश में गणाधिपति आचार्य गण को स्नेहिल माधुर्ययुक्त, सारवान, गम्भीर, सुखदायक चित्त को आनन्द प्रदान करनेवाली हितकारी शिक्षा देते थे।

शिक्षा देने के बाद नवनिर्मुक्त उत्तराधिकारी आचार्य को आशीर्वाद देते हुए कर्तव्यबोध कराते हुए कहते थे कि उत्पत्ति स्थान में छोटी-सी भी नदी उत्तम नदी जैसे विस्तार के साथ बढ़ती हुई समुद्र तक जाती है, उसी प्रकार तुम भी शील और गुणों में आगे बढ़ो। तुम विलाव के शब्द की भाँति आचरण मत करना, क्योंकि विलाव का शब्द पहले जोर का होता है फिर क्रम से मन्द होता जाता है, उसी तरह रत्नत्रय की भावना को पहले बड़े उत्साह से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे मन्द मत करना। इस तरह अपना तथा संघ दोनों का विनाश सम्भव है। क्योंकि जो जलते हुए अपने घर को भी आलस्यवश बचाना नहीं चाहता, उस पर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि वह दूसरे के जलते हुये घर को बचायेगा। अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य विषयक अतिचारों को दूर करना चाहिये। धार्मिक और मिथ्या दृष्टियों के साथ विरोध नहीं करना चाहिए। चित्त की शान्ति भंग करनेवाला वाद-विवाद भी नहीं करना चाहिए। क्रोधादि कषाय अपनी और दूसरे की मृत्यु के कारण हैं। कषाय विष रूप होते हैं, अतः इन्हें छोड़ना चाहिए।

पुनः आचार्य कहते थे- आगम के सारभूत रत्नत्रय में जो गण को और अपने को स्थापित करता है, वही गणधर कहलाता है। मेरे अधीन बहुत मुनि हैं, इसलिए अपने आप में गणी होने का घमण्ड नहीं होना चाहिए। हमारा यह गुरु आलोचित दोषों को दूसरे से नहीं कहता, ऐसा मानकर शिष्यों के द्वारा प्रकट किये अपराधों को किसी अन्य से नहीं कहना चाहिये। कार्यों में समदर्शी रहकर बाल और वृद्ध यतियों से भरे गण की रक्षा अपनी आँख की तरह करनी चाहिये। जिस क्षेत्र में राजा न हो अथवा जिस क्षेत्र का राजा दुष्ट हो उस क्षेत्र को भी त्याग देना चाहिये। जिस क्षेत्र में प्रज्या प्राप्त न हो अर्थात् शिष्य न बने, जिस क्षेत्र में संयम का घात हो, उस क्षेत्र को त्याग देना चाहिये। बाल और वृद्ध मुनियों से भरे हुए गण में सर्वज्ञ की आज्ञा से सदा अपनी शक्ति और भक्ति से वैयावृत्य करने में तत्पर रहना चाहिये, क्योंकि सर्वज्ञ देव की आज्ञा है कि वैयावृत्य करना चाहिए। वैयावृत्य करने से कर्ता का उपकार होता है। निर्दोष रत्नत्रय का दान होता है। संयम में सहायता मिलती है। जैसे आचार्य की धारणा से संघ की धारणा होती है, वैसे ही एक साधु की धारणा से अर्थात् वैयावृत्य करने से साधु समुदाय की धारणा होती है।

### आचार्य (गुरु) के प्रकार

‘राजप्रशनीय’ में आचार्य (गुरु) के तीन प्रकार बताये गये हैं - कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य।<sup>७८</sup> जो ७२ कलाओं की शिक्षा देते थे वे कलाचार्य; जो शिल्प, विज्ञान आदि की शिक्षा देते थे वे शिल्पाचार्य तथा जो धर्म का प्रतिबोध कराते थे वे धर्माचार्य कहलाते थे। इनमें से कलाचार्य और शिल्पाचार्य का भौतिकता की दृष्टि से महत्त्व

है तो धर्माचार्य का आध्यात्मिकता से सम्बन्ध है। धर्माचार्य धर्म-प्रवचन के द्वारा लोगों के मन में विशुद्ध आचार को प्रतिष्ठित करते थे। धर्माचार्य के पाँच प्रकार निरूपित हैं<sup>७९</sup>—

- (१) **प्रव्राजकाचार्य**— सामायिक व्रत आदि का आरोपण करनेवाले प्रव्राजकाचार्य कहलाते थे।
- (२) **दिगाचार्य**— सचित्त (शिष्य-शिष्याएँ) अचित्त और मिश्र वस्तु (वस्त्रादियुक्त शिष्य-शिष्याएँ) के ग्रहण की आज्ञा प्रदान करनेवाले आचार्य दिगाचार्य कहलाते थे।
- (३) **उद्देशाचार्य**— सर्वप्रथम श्रुत का उपदेश देनेवाले तथा मूल सुत्तागम का अध्ययन करानेवाले को उद्देशाचार्य कहते थे।
- (४) **समुद्देशाचार्य**— श्रुत की गम्भीर वाचना देनेवाले और श्रुत में स्थिर करनेवाले आचार्य समुद्देशाचार्य कहलाते थे।
- (५) **आम्नाचार्य वाचकाचार्य**— उत्सर्ग अपवाद रूप आम्नाय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले आचार्य आम्नाचार्य वाचकाचार्य कहलाते थे।

स्थानांग में ज्ञान, उपशम आदि गुणों की अपेक्षा से आचार्य के चार<sup>८०</sup> प्रकार बताये गये हैं—

- (१) **आमलक मधुर फल के समान**— कोई आचार्य आँवले के फल के समान अल्पमधुर होते हैं।
- (२) **मुन्दीकामधुर फल के समान**— कोई आचार्य दाख के फल के समान मधुर होते हैं।
- (३) **क्षीरमधुर फल के समान**— कोई आचार्य दूध-मधुर फल के समान अधिक मधुर होते हैं।
- (४) **खण्डमधुर फल के समान**— कोई आचार्य खाँड-मधुर फल के समान बहुत अधिक मधुर होते हैं।

पुनः करण्डक की उपमा देकर आचार्य के चार प्रकार बताये गये हैं<sup>८१</sup>—

- (१) **चाण्डाल अथवा चर्मकार के करण्डक के समान**— जैसे चाण्डाल अथवा चर्मकार के करण्डक में चमड़े को छीलने-काटने आदि के उपकरणों, चमड़े के उपकरणों और चमड़े के टुकड़ों आदि के रखे रहने से वह असार या निकृष्ट

कोटि का माना जाता है, उसी प्रकार जो आचार्य केवल षट्काय- प्रज्ञापक गाथादि रूप अल्पसूत्र के धारक और विशिष्ट क्रियाहीन होते हैं वे चाण्डाल के करण्डक के समान माने जाते हैं।

- (२) **वेश्या के करण्डक के समान**— जैसे वेश्या का करण्डक लाख सोने के दिखावटी आभूषणों से भरा होता है, वैसे ही जो आचार्य ज्ञान अधिक न होने पर भी बाह्याडम्बर से व्यक्तियों को प्रभावित कर लेते हैं वे वेश्या के करण्डक के समान होते हैं।
- (३) **गृहपति के करण्डक के समान**— जो आचार्य स्व-समय - पर-समय के जानकार तथा चारित्र-सम्पन्न होते हैं वे गृहपति के करण्डक के समान समझे जाते हैं।
- (४) **राजा के करण्डक के समान**— जैसे राजा का करण्डक मणि-माणिक आदि बहुमूल्य रत्नों से भरा होता है, उसी प्रकार जो आचार्य अपने पद के योग्य सर्वगुणों से सम्पन्न होते हैं, वे राजा के करण्डक के समान होते हैं।

‘महानिशीथ’ व ‘गुरुतत्त्वविनिश्चय’ में निक्षेप की अपेक्षा से आचार्य के चार प्रकार बताये गये हैं<sup>८२</sup>—

- (१) **नाम आचार्य**— जिसका नाम आचार्य हो।
- (२) **स्थापना आचार्य**— आचार्य की प्रतिकृति बनाकर कागज आदि पर आचार्य लिखना।
- (३) **द्रव्य आचार्य**— वर्तमान में आचार्य नहीं हैं, अतीत काल में थे या भविष्य में होनेवाले हैं, उन्हें द्रव्य आचार्य कहते हैं। ‘गुरुतत्त्वविनिश्चय’ के अनुसार द्रव्याचार्य दो प्रकार के हैं- (क) प्रधान द्रव्याचार्य और (ख) अप्रधान द्रव्याचार्य। जो आचार्य वर्तमान में भावाचार्य नहीं हैं, लेकिन भविष्य में भावाचार्य बनने योग्य हैं वे प्रधान द्रव्याचार्य हैं। जो आचार्य भावाचार्य नहीं हैं और न भविष्य में ही भावाचार्य बनाने लायक हैं वे अप्रधान द्रव्याचार्य हैं।
- (४) **भाव आचार्य**— आचार्य के समग्र गुणों से युक्त होना भाव आचार्य है।

### आचार्य (गुरु) की गरिमा

गुरु का स्थान हमारे समाज में अतीव पूजनीय है। उनकी गरिमा का गुणगान जैन आगमों में मुक्त कण्ठ से किया गया है। पंचतत्त्वों में उन्हें मध्य स्थान प्राप्त है तथा ‘णमो आयरियाणं’ के रूप में उनकी उपासना की जाती है।<sup>८३</sup> वैदिक धर्म में

तो उन्हें देव का स्वरूप माना गया है।<sup>८४</sup> आचार्य की आज्ञा तीर्थङ्कर के समान अनुलंघनीय होती है।<sup>८५</sup> वे तीर्थङ्कर की अनुपस्थिति में तीर्थङ्कर के समान तीर्थ के संचालक होते हैं। अतः वे तीर्थङ्कर के सदृश होते हैं।<sup>८६</sup> 'दशवैकालिक' में अनेक उपमाओं द्वारा उपमित करते हुए उनकी गरिमा पर प्रकाश डाला गया है। जिस प्रकार प्रातःकाल रात्रि के अन्त में देदीप्यमान सूर्य समस्त भरतखण्ड को अपने किरण समूह से प्रकाशित करता है, ठीक उसी प्रकार आचार्य भी श्रुत, शील और बुद्धि से युक्त उपदेश द्वारा जीवादि पदार्थों के स्वरूप को यथावत् प्रकाशित करते हैं तथा जिस प्रकार स्वर्ग में देव सभा के मध्य इन्द्र शोभते हैं, उसी प्रकार साधु सभा के मध्य आचार्य शोभते हैं।<sup>८७</sup> चन्द्रमा की उपमा देते हुए कहा गया है - जिस प्रकार कौमुदी के योग से युक्त तथा नक्षत्र और ताराओं के समूह से घिरा हुआ चन्द्रमा बादलों से रहित अतीव स्वच्छ आकाश में शोभित होता है, ठीक उसी प्रकार आचार्य भी साधु समूह में सम्यक्त्वा शोभित होते हैं।<sup>८८</sup>

### आचार्य (गुरु) के कर्तव्य

जैन ग्रन्थों में गुरु के निम्नलिखित कर्तव्य बताये गये हैं —

- (१) आचार्य (गुरु) को चाहिए कि विनीत शिष्य को, अपनी कमजोरी छिपाये बिना सरल शब्दों में सही-सही ज्ञान कराये।<sup>८९</sup>
- (२) गुरु को चाहिए कि वे सारगर्भित प्रश्नों के उत्तर ही दें। असम्बद्ध, असारगर्भित और निश्चयात्मक वाणी का प्रयोग न करें।<sup>९०</sup>
- (३) गुरु निपुण एवं विनीत शिष्य की ही अभिलाषा करें। यदि विनीत शिष्य न मिले तो व्यर्थ का शिष्य परिवार न बढ़ाकर एकाकी विचरण करें।<sup>९१</sup>
- (४) उपदेश देते समय शिष्य को पुत्र के समान मानकर उसके लाभ को दृष्टि में रखें।<sup>९२</sup>
- (५) ऐसे शिष्य को उपदेश न दें जो उस उपदेश का पालन न करे, अपितु विनीत शिष्य को ही उपदेश दें, जैसे- चित्त का जीव, सम्भूत के जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को उपदेश देकर सोचता है कि मैंने इसे व्यर्थ उपदेश दिया, क्योंकि इस पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।<sup>९३</sup>

### बौद्ध परम्परा

बौद्ध शिक्षण-पद्धति में शिक्षक अथवा गुरु को आचार्य और उपाध्याय की संज्ञा से विभूषित किया गया है।<sup>९४</sup> जो विद्या, चारित्र तथा स्तर की दृष्टि से योग्य होते थे वही आचार्य और उपाध्याय कहलाते थे। उन दोनों के कार्य को देखते हुए दोनों में अन्तर दिखलाना कठिन है। जैसा कि 'महावग्ग' में वर्णन है- उपाध्याय वरिष्ठ अधिकारी



होते थे जो नये भिक्षुओं (शिक्षार्थियों) को शास्त्र एवं सिद्धान्त की शिक्षा दिया करते थे जबकि आचार्य की यह जबाबदेही होती थी कि वे उनके (नये भिक्षुओं के) आचरण की देख-रेख करें। इसीलिए उन्हें कर्माचार्य की संज्ञा से भी सम्बोधित किया जाता था।

पालि बौद्ध ग्रन्थों में आध्यात्मिक गुरु के लिए 'उपज्झाय' शब्द प्रयोग किया गया है, जो संस्कृत शब्द 'उपाध्याय' का रूपान्तरण है। 'उपज्झाय' शब्द का अर्थ बताते हुए डॉ० मदनमोहन सिंह ने कहा है - 'जो निकट चला गया हो।' इसी तरह आचार्य के लिए 'आचरिय' शब्द का प्रयोग किया गया है। डॉ० सिंह के अनुसार शिक्षा द्वारा जीविकोपार्जन करनेवाले को आचरिय की संज्ञा दी गयी है।<sup>९५</sup>

बुद्धघोष की टीका के अनुसार 'उपाध्याय' वे भिक्षु हो सकते हैं जो दस वर्ष या इससे अधिक काल से भिक्षु रहे हों और 'आचार्य' वे हो सकते हैं जो छः वर्ष से अधिक भिक्षु रहे हों।<sup>९६</sup> किन्तु मात्र उम्र की वरीयता पर्याप्त नहीं होती थी यदि वे विद्वान् और निपुण न हों।

### गुरु की परिभाषा

'बोधिपथ-प्रदीप' में गुरु को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जो संवर देने में समर्थ तथा कृपालु हो, वह सद्गुरु है।<sup>९७</sup> 'खुद्दकनिकाय' के अनुसार- शिक्षक उस नाविक के समान है जो स्वयं नदी पार करने के साथ ही दूसरों को भी पार कराता है।<sup>९८</sup> 'महावग्ग' में कहा गया है - 'तथागत केवल आख्याता अथवा शिक्षक हैं, उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर तुम्हें स्वयं ही चलना है।' <sup>९९</sup> इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षक एक मार्गदर्शक है, किन्तु उसे सबसे पहले उस विषय का अध्ययन, चिन्तन एवं मनन करना आवश्यक है जिसे वह दूसरे को देना चाहता है क्योंकि दूसरों को सद्मार्ग पर प्रेरित करने से पूर्व स्वयं को प्रेरित करना आवश्यक है।

### गुरु के लक्षण

गुरु बहुश्रुत, संयमी, सांसारिकता से परे तथा उत्साही होते हैं। बौद्ध-ग्रन्थों में गुरु के लिए विप्र,<sup>१००</sup> शास्त्रकर्ता<sup>१०१</sup> आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। इनके अतिरिक्त सुतंतक, विनयधर, मातिकाधर आदि शब्द भी देखने को मिलते हैं।<sup>१०२</sup> धम्म के विद्वानों को सुतंतक, विनय के विद्वानों को विनयधर तथा मन्नादि अर्थात् मात्रिकाएं जाननेवाले विद्वानों को मातिकाधर कहा गया है।<sup>१०३</sup> ये तीनों शब्द भी उपाध्याय के ही पर्यायवाची जान पड़ते हैं। 'विनयपिटक'<sup>१०४</sup> में योग्य विनयधर के लक्षण को बताते हुए कहा गया है—

- (१) जो प्रधान शीलों में दोष रहित हो।
- (२) जितेन्द्रिय अर्थात् अपेक्षित आचारवाला और इन्द्रियों में सुसंयमी हो।
- (३) जिसे विरोधी भी धर्म से दोषी नहीं कह सके।
- (४) विषयों में विशारद हो।
- (५) जो सभा में विचलित न हो।
- (६) जो विहितों की गणना करते समय किसी बात को नहीं छोड़ता।
- (७) प्रत्युत्पन्नमतित्व अर्थात् जो सभा में प्रश्न पूछने पर तुरन्त उत्तर देने में समर्थ हो।
- (८) जो पण्डित काल से प्राप्त उत्तर देने योग्य वचन को कहकर विज्ञों की सभा का रंजन करता हो।
- (९) जो बुजुर्ग भिक्षुओं में भी आदरयुक्त देखा जाता हो।
- (१०) अपने मतों की मीमांसा करने में समर्थ तथा विरोधियों के भाव को जाननेवाला हो।
- (११) सुबोध व्याख्या शैली हो जिससे सर्वसाधारण भी बात को समझ पाये।
- (१२) प्रश्न का उत्तर देते समय बिना हानि किये अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त को नहीं त्यागनेवाला।
- (१३) जो दूतकर्म में समर्थ तथा अपने किये गये कार्य पर अभिमान नहीं करता।
- (१४) जो दोनों विभंग को अच्छी तरह जानता हो।
- (१५) जो विभंग का कोविद जानता हो।

### गुरु (उपाध्याय) के कर्तव्य

प्रायः सभी शिक्षक अपने धर्म और सम्प्रदाय में निर्धारित नियमों के अनुसार शिष्य के साथ समुचित व्यवहार करते थे। 'विनयपिटक' में शिष्य के प्रति उपाध्याय के बताये गये कर्तव्य इस प्रकार हैं—

- (१) उपाध्याय को शिष्य पर अनुग्रह करना चाहिए।
- (२) शिष्य को उपदेश देना चाहिए।
- (३) पात्र देना चाहिए।

(४) यदि शिष्य को चीवर नहीं है तो चीवर देना चाहिए।

(५) यदि शिष्य रोगी हो तो समय से उठकर दातून, पानी आदि देना चाहिए।

बौद्ध शिक्षण-प्रणाली में ऐसा विधान था कि शिष्य के रोगी हो जाने पर उपाध्याय को शिष्य की वे सभी सेवायें करनी होती थीं जो शिष्य को उपाध्याय के प्रति करनी होती थी।

इनके अतिरिक्त 'मिलिन्दप्रश्न'<sup>१०५</sup> में उपाध्याय के निम्न पच्चीस कर्तव्यों का उल्लेख है—

- (१) उपाध्याय को शिष्य का पूरा ध्यान रखना चाहिए।
- (२) किस कार्य में सावधान रहे और किस कार्य में नहीं, इसका उपदेश देते रहना चाहिए।
- (३) कर्तव्याकर्तव्य का सदा उपदेश देते रहना चाहिए।
- (४) शिष्य के शयन आदि पर ध्यान रखना चाहिए।
- (५) बीमार होने पर उसकी सेवा करनी चाहिए।
- (६) शिक्षार्थी ने क्या पाया, क्या नहीं पाया, इसका ध्यान रखना चाहिए।
- (७) शिक्षार्थी के विशेष चरित्र को जानना चाहिए।
- (८) भिक्षापात्र में जो मिले, उसे बांटकर खाना चाहिए।
- (९) उसे (विद्यार्थियों को) सदा उत्साह देते रहना चाहिए।
- (१०) अमुक आदमी की संगति कर सकते हो, ऐसा निर्देश देना चाहिए।
- (११) अमुक गाँव में जा सकते हो, यह बता देना चाहिए।
- (१२) अमुक विहार में जा सकते हो, यह निर्देशित कर देना चाहिए।
- (१३) अमुक के साथ बातचीत नहीं करनी चाहिए।
- (१४) शिक्षार्थी के दोषों को क्षमा कर देना चाहिए।
- (१५) पूरे उत्साह के साथ सिखाना चाहिए।
- (१६) शिक्षा बिना किसी अन्तराल के देना चाहिए।
- (१७) किसी बात को छिपाना नहीं चाहिए।

- (१८) बद्ध-मुष्टि नहीं होनी चाहिए।
- (१९) पुत्रवत् स्नेह करना चाहिए।
- (२०) वह अपने उद्देश्य से पतित न हो सके, यह हमेशा प्रयत्न करना चाहिए।
- (२१) समस्त शिक्षा प्रकारों को देकर उसे अभिवृद्ध कर रहा हूँ, ऐसा सोचना चाहिए।
- (२२) शिक्षार्थी के साथ मैत्री भाव रखना चाहिए।
- (२३) विपत्ति आ जाने पर उसे छोड़ना नहीं चाहिए।
- (२४) सिखाने योग्य बातों को सिखाने में कभी भी चूक नहीं करनी चाहिए।
- (२५) धर्म से गिरते देख उसे आगे बढ़ाना चाहिए।

डॉ० आर० के० मुखर्जी ने भी उपाध्याय के उपर्युक्त कर्तव्यों का समर्थन करते हुए कहा है— शिष्य के द्वारा गुरु के प्रति हार्दिक समर्थन, यह अपेक्षा करता है कि गुरु भी शिष्य के प्रति सहृदयता और स्नेह का भाव रखें, जिस तरह से शिष्य के कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं, उसी तरह शिष्य के प्रति गुरु के कर्तव्यों का भी विधान है। गुरु के कर्तव्यों को डॉ० मुखर्जी ने तीन भागों में विभक्त किया है, जो इस प्रकार हैं<sup>१०६</sup>—

- (१) गुरु अपने नियन्त्रण में रखे गये शिष्यों को शिक्षण द्वारा, प्रश्न पूछकर, प्रबोधन देकर तथा उपदेश देकर सभी सम्भव बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा पथ-प्रदर्शक सहायता प्रदान करे।
- (२) शिष्य के पास यदि किसी आवश्यक सामग्री की कमी है तो गुरु उसे अपनी सामग्रियों में से दे। जैसे- भिक्षापात्र, वस्त्र आदि।
- (३) शिष्य के अस्वस्थ हो जाने पर गुरु उसकी सेवा, उसके जीवनान्त तक अथवा स्वस्थ होने तक करे। इस अवधि में गुरु को शिष्य की सेवा उसी तरह करनी चाहिए जिस तरह शिष्य स्वस्थ होने की स्थिति में गुरु की सेवा करता है। बिछावन से उठने से लेकर सोने तक सभी आवश्यक सेवाएँ करनी चाहिए। जैसे- दाँत साफ करने के लिए दातून, मुँह धोने के लिए पानी, यहाँ तक की पैर धोने के लिए भी पानी देना चाहिए।

## गुरु के प्रकार

भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्य मौद्गल्यायन से बताया है कि लोक में पाँच प्रकार

के गुरु<sup>१०७</sup> पाये जाते हैं—

- (१) पहला गुरु वह है जो अशुद्ध शीलवाला होने पर भी 'मैं' शुद्ध शीलवाला हूँ, मेरा शील अवदात है, निर्मल है आदि का दावा करता है।
- (२) दूसरा गुरु वह है जो आजीविका के अशुद्ध होने पर भी शुद्ध आजीविका होने का दावा करता है।
- (३) तीसरा गुरु वह है जो धर्मोपदेश अशुद्ध होने पर भी शुद्ध धर्मोपदेशवाला होने का दावा करता है।
- (४) चौथा गुरु वह है जो व्याकरण अर्थात् भविष्य कथन अशुद्ध होने पर भी शुद्ध व्याकरण वाला होने का दावा करता है।
- (५) पांचवां गुरु वह है जो ज्ञान-दर्शन अशुद्ध होने पर भी शुद्ध ज्ञानदर्शन वाला होने का दावा करता है।

परन्तु उपर्युक्त पाँच प्रकार के गुरु झूठे गुरु की श्रेणी में आते हैं। सच्चे गुरु तो वे कहलाते हैं जो शीलसम्पन्न हों, अहिंसा का पालन करनेवाले हों, ब्रह्मचारी हों, मिथ्या भाषण से विरत हों तथा चुगली, कठोर वचन, विवाद, ऊँची शय्या आदि से विरत हों।<sup>१०८</sup>

योग्य वे हैं जो सम्यक्-संबुद्ध, धर्म स्वाध्यायी, मुक्ति की ओर ले जाने वाले, शान्ति देनेवाले तथा सम्यक्-सम्बुद्ध प्रवेदित हों और जिनके बताये गये मार्ग पर शिष्य धर्मानुसार मार्गारूढ़ हों।<sup>१०९</sup>

## गुरु का महत्त्व

ह्वेनसांग ने अपनी यात्रा वृत्तान्त में लिखा है कि 'गुरु लोग स्वयं गूढ़ और गुप्त तत्त्वों का अच्छी तरह अध्ययन करते हैं और उनके कठिन अर्थों को जान लेते हैं तथा विद्यार्थियों को कठिन शब्दों को समझने में सहायता देते हैं।' <sup>११०</sup>

डॉ० मदनमोहन सिंह ने गुरु के महत्त्व को प्रकाशित करते हुए अपनी पुस्तक 'बुद्धकालीन समाज और धर्म' में लिखा है - प्राचीन भारत में आध्यात्मिक गुरु का बड़ा महत्त्व था। भारतीय संस्कृति की परम्परा में ज्ञानार्जन के लिए गुरु-सेवा की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है, चाहे वह वैदिक धर्म हो चाहे जैन या बौद्ध।<sup>१११</sup>

## तुलना

१. जैन एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराएँ गुरु को एक आदर्श गुरु के रूप में ग्रहण

करती हैं। जैन शिक्षण-प्रणाली में एक ओर जहाँ ज्ञान, तप और वीर्य आदि पाँच आचारों का निरतिचार पालन करनेवाले तथा दूसरों को इसमें प्रवृत्त करनेवाले को आचार्य स्वीकार किया है, वहीं दूसरी ओर बौद्ध शिक्षण-प्रणाली में संवर देने में समर्थ तथा कृपालु, गूढ़ विषयों का पहले चिन्तन तथा मनन करनेवाले और जिनके द्वारा बताये गये मार्ग पर शिष्य धर्मानुसार आरूढ़ हों, वे ही उपाध्याय अर्थात् योग्य गुरु होते हैं।

२. जैन एवं बौद्ध शिक्षण-प्रणाली में क्रमशः आचार्य एवं उपाध्याय के लक्षणों तथा योग्यताओं में काफी समानताएँ देखने को मिलती हैं, परन्तु जैन शिक्षा में आचार्य के छत्तीस विशेष गुण बताये गये हैं जिसका बौद्ध ग्रन्थों में कहीं स्पष्ट वर्णन देखने को नहीं मिलता। यद्यपि उपाध्याय के कुछ लक्षणों, गुणों आदि को विवेचित करने का यथासम्भव प्रयास किया गया है।
३. जैन एवं बौद्ध शिक्षण-प्रणाली में गुरु का शिष्य के प्रति कर्तव्यों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इससे जैन एवं बौद्ध शिक्षण-प्रणाली में गुरु-शिष्य सम्बन्ध तथा एक-दूसरे के प्रति प्रेम, स्नेह, आदर आदि का पता चलता है।
४. जैन एवं बौद्ध शिक्षण-प्रणाली में जो मूल अन्तर है वह यह है कि जैन परम्परा आचार्य को प्रथम स्थान देती है तथा उपाध्याय को द्वितीय, जब कि बौद्ध शिक्षण-प्रणाली में उपाध्याय को प्रथम तथा आचार्य को द्वितीय स्थान प्राप्त है। यह बौद्ध-परम्परा की विशेषता कही जा सकती है। जैन परम्परा के अनुसार आचार्य ही संघ का सर्वोच्च अधिकारी होता है, अन्य सब उसके सहायक माने गये हैं और बौद्ध-परम्परा के अनुसार उपाध्याय संघ का सर्वोच्च अधिकारी होता है।

#### सन्दर्भ :

१. 'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ', पृ०-३९८.
२. 'उत्तराध्ययन', १/४०-४१, ८/१३.
३. वही, १/८, १७, २७.
४. वही, १/४६.
५. वही, ३६/२६५.
६. वही, १७/४.
७. आ मर्यादयातद् विषयविनयरूपया चर्य्यन्ते सेव्यते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकांक्षिभिरित्याचार्याः। 'भगवतीसूत्रवृत्ति', १/१/१.
८. सदा आयारबिद्णू सदा आयारियं चरो।  
आयारमायावरन्तो आयरिओ तेण उच्चदे।। 'मूलाचार', ५०९

९. पंचविद्यमाचारं चरन्ति चारयन्तीत्याचार्याः। 'षट्खण्डागम' (धवला टीका), १/१, १, १, ४, ८
१०. आचर्यतेऽस्मादाचार्यः। 'मूलाचारवृत्ति', ४/१५५.
११. आचरन्ति तस्माद् व्रतानीत्याचार्यः। 'सर्वार्थसिद्धि', ८६६, पृ०-३४८
१२. 'दशवैकालिकचूर्णि' (अगस्त्य सिंह), ९/३/१.
१३. 'कल्पसूत्र' (कल्पमञ्जरी टीका), पृ०-४९.
१४. जम्हा पंचविहाचारं आचरंतो पभासदि।  
आयरियाणि देसंतो आयरियो तेण वुच्चदे।। 'मूलाचार', ५१०
१५. उपेत्यास्यादधीयते उपाध्यायः। 'मूलाचारवृत्ति', ४/१५५.
१६. बारसंगे जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे।  
उवदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चदि।। 'मूलाचार', ५११
१७. सुत्रत्थविउलक्खण जुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य।  
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ।।  
'भगवतीसूत्र' (अभयदेववृत्ति), १/१/१
१८. 'षट्खण्डागम' (धवला टीका), १/११, १/२९, ३०, ३१ तथा ४९.
१९. 'आदिपुराण', १/१२६-३३
२०. संगहणुगहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकिती।  
किरिआचरणसुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो य।।  
गंभीरो दुद्धरिसो सूरो धम्मप्पहावणासीलो।  
खिदिससिसायरसरिसो कमेण तं सो दु सपत्तो।। 'मूलाचार', १५८-५९.
२१. पंचवासपरियाए समणे णिग्गंथे- आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले,  
पण्णत्तिकुसले संगहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे,  
असंकिलिद्धाचारे, बहुस्सुए, बब्बागमे, जहण्णेणं दसा-कप्प-ववहारधरे, कप्पइ आयरिय-  
उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए। 'व्यवहारसूत्र', ३/५
२२. व्यवहारं जानंतो, व्यवहारं चेव पन्नवेमाणो।  
व्वहारं फासंतो, गुरुगुणजुत्तो गुरु होइ।। 'गुरुतत्त्वविनिश्चय', २/१
२३. जे सुशीलागुणो, गुणणिक्खेवारिहो गुरु भणिओ।  
आणाभंगो इयराऽणुत्राइ महाणिसीहम्मि।। वही, १/३०
२२. आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीया।  
आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेवा।।  
अपरिस्साई णिव्वावओ य णिज्जावओ पहिदकिती।  
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरियो।। 'भगवती आराधना', ४१९-२०.
२३. पंचिंदिय-संवरणो, तह नवविह-बंधेचर-गुत्तिधरो।

- चउविह-कसायमुक्को, इअ अट्टारसगुणेहि संजुत्तो॥  
 पंच-महव्वय-जुत्तो, पंचविहायारपालणसमत्थो।  
 पंचसमिओ तिगुत्तो, छत्तीसगुणो गुरु मज्झा॥ 'सामायिक सूत्र', ३/१-२
२४. आयारवमादीया अट्टगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो।  
 बारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुण्येव्वा॥ 'भगवती आराधना', ५२८.
२५. 'धर्मामृत' (अनगार), पृ०-६८०.
२६. आचारश्रुताधारः प्रायश्चित्तासनादिदः।  
 आयापायकथी दोषाभाषकोऽस्मावकोऽपि च॥  
 संतोषकारी साधूनां निर्यापक इमेऽष्ट च॥  
 दिगाम्बरवेष्यनुदिष्टभोजी शय्यासनीति च॥  
 अराजभुक् क्रियायुक्तो व्रतवान् ज्येष्ठसद्गुणः।  
 प्रतिक्रमी च षण्मासयोगी तद्विनिषद्यकः॥  
 द्विषट् तपस्तथा षट्चावश्यकानि गुणा गुरोः॥  
 'अष्टपाहुड' (बोधपाहुड) गाथा-२,
२७. 'धर्मामृत' (अनगार), पृ०-६८२.
२८. वही
२९. वही
३०. 'भगवती आराधना', गाथा-४५०.
३१. 'धर्मामृत' (अनगार), पृ०-६८३
३२. वही, ९/७६-७७
३३. 'व्यवहारभाष्य', गाथा-३३६-३४०.
३४. दसविहठिदिकप्पे वा हवेज्ज जो सुट्ठिदो सयायरिओ।  
 आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो। 'भगवती आराधना', गाथा ४२२.
३५. 'वृहत्कल्पभाष्य', ६३७६
३६. वही, पृ०-६८६
३७. वही, पृ०-६८७
३८. वही, पृ०-६८७
३९. वही, पृ०-६८७
४०. 'वृहत्कल्पभाष्य', ६३९८-६४००
४१. 'धर्मामृत' (अनगार), पृ०-६८७
४२. वही, पृ०-३३३.
४३. वही, पृ०-३३४.
४४. 'धर्मामृत' (अनगार), पृ०-६८९



४५. रसरुधिरमांसमेदाऽस्थिमज्जा शुक्रा यनेन तप्यन्ते, कर्माणि वा शुभानीत्यतस्तपो नाम निरुक्तः। 'स्थानांग वृत्ति', ५/३.
४६. तापयति अष्टप्रकार कर्म इति तपः। - 'आवश्यक' (मलयगिरि), खण्ड २, अ० १.
४७. सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा। - 'उत्तराध्ययन', ३०/७.
४८. आहारपच्चच्चाणेण जीवियासंसप्पओगं वोच्छिदंइ। वही, २९/३५.
४९. 'सूत्रकृतांग', १/१०/६.
५०. उच्चनीयमज्झिम कुलाई अडमाणे। 'अंतगददशा' ६/१५.
५१. 'जैन धर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण', पृ०-२३२
५२. रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणां।  
दित्तं च कामा समभिद्वन्ति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी। 'उत्तराध्ययन', ३२/१०.
५३. 'प्रवचनसार', ३/२७
५४. 'जैनधर्म में तप', पृ०-२८५.
५५. 'भगवती', २५/७
५६. अपराधो वा प्रायः चित्तं-शुद्धिः। प्रायस् चित्तं प्रायश्चित्तं- अपराध विशुद्धिः। -  
'राजवार्तिक', ९/२२/१.
५७. धम्मस्स विणओ मूलं। 'दावैकालिक' (विनयसमाधि), ४७०
५८. एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मुक्खो। वही
५९. परस्पोपग्रहो जीवानाम्। 'तत्त्वार्थसूत्र', ५/२१.
६०. उत्तराध्ययन, २९/३.६३. सुष्ठुआ- मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः। 'स्थानांग' (अभयदेव टीका) ५/३/४६५
६१. पुव्वं च जं तदुत्तं चित्तस्ससेगगया हवइ ज्ञाणां।  
आवन्नमपेगगं चित्तं चियं तं न तं ज्ञाणां। 'आवश्यकनिर्युक्ति' १४९९
६२. निःसंग-निर्भयत्व जीविताशा व्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः। 'तत्त्वार्थराजवार्तिक', ९/२६/१०.
६३. 'श्रमणसूत्र', उपा० अमरमुनि, पृ०-६१.
६४. सामाइयंति समभावलक्खणां। 'विशेषावश्यकभाष्य', ९०५
६५. 'धर्मावृत्त' (अनगार), पृ०-५६८
६६. 'श्रमणसूत्र', पृ०-६९
६७. वही, पृ०-६९
६८. विणओवयार माणस्स भंजणा पूअणा गुरुजणस्स।  
तित्थयराण य आणा सुयधम्माराहणाऽकिरिया। 'आवश्यकनिर्युक्ति', १२२९
६९. 'श्रमणसूत्र', पृ०-८८-८९
७०. अविरतिस्वरूपप्रभृति प्रतिकूलतया आ मर्यादया आकारकरणस्वरूपया आख्यानं कथनं प्रत्याख्यानं। - 'प्रवचनसारोद्धार वृत्ति', उद्धृत 'श्रमणसूत्र', पृ०-०४

७१. पच्चक्खणंमि कए, आसवदाराई हुंति पिहियाइ।  
आसववुच्छेएणं, तण्हावुच्छेअणं होइ॥ 'आवश्यकनिर्युक्ति', १६०८
७२. भट्ठायारो सूरि भट्ठायाराणुवेक्खओ सूरि।  
उम्मग्गठिओ सूरि तित्रवि मग्गं पणासंति॥  
उम्मग्गठिए सम्मग्गनासए जो य सेवए सूरि।  
नियमेणं सो गोयम! अप्पं पाडइ संसारे॥ 'गच्छायारपइण्णयं', २८-२९
७३. अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता, तं जहा- आचारसंपया, सुयसंपया, सरीरसंपया,  
वयणसंपया, वायणासंपया, मतिसंपया, पओगसंपया, संगहपरिण्णा णाम अट्ठमा।  
'स्थानांगसूत्र', ८/१५. एवं देखे- 'दशाश्रुतस्कंध', दशा-३
७४. 'दशाश्रुतस्कन्ध', दशा ४
७५. 'व्यवहारसूत्र', ४/१३
७६. 'जैन साहित्य का बृहत् इतिहास', भाग ३, पृ०-२६३.
७७. 'भगवती आराधना', गाथा २७४-३३६.
७८. तओ आयरिआ पण्णत्ता तं जहा कलायरिए, सिप्पायरिए, धम्मायरिए। 'राजप्रश्नीय'  
१५६, पृ०-३४१.
७९. 'पं० अरविन्द जैन अभिनन्दन ग्रन्थ', पृ०-५६.
८०. 'स्थानांगसूत्र', ४/३/४११
८१. चत्तारि करंडगा पण्णत्ता, तं जहा - सोवागकरंडए, वेसियाकरंडए, गाहावतिकरंडए,  
राय करंडए।  
एवामेव चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा - सोवागकरंडगसमाणे, वेसियाकरंडगसमाणे,  
गाहावतिकरंडगसमाणे, रायकरंडगसमाणे। 'स्थानांगसूत्र', ४/५४१
८२. 'महानिशीथ', अ० ५.
८३. 'भगवतीसूत्र', शतक १.
८४. आचार्य देवो भवा। 'तैत्तिरीयोपनिषद्', १/११.
८५. 'महानिशीथ', अ० ५.
८६. तिथ्यरसमो सूरि सम्मं जो जिणमयं पयासेइ। 'गच्छायारपइण्णयं', २७.
८७. जहा ससी कोमुइजोगजुते, नक्खत्ततारागणपरिवुडप्पा।  
खे सोहई विमले अब्भमुक्के, एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्जे॥ 'दशवैकालिक'  
(विनयसमाधि), ४६६
८८. जहा निसंते तवणऽच्चिमाली पभासई केवलभारहं तु।  
एवाऽऽयरिओ सुय-सील-बुद्धिए विरायई सुरमज्जे व इंदो॥ वही, ४६५
८९. एवं बिणय-जुत्तस्स सुतं अत्थं च तदुभयं।  
पुच्छमाणस्स सीसस्स वागेरज्ज जहासुयं॥ 'उत्तराध्ययन', १/२३

९०. मुसं परिहरे भिक्खू न य ओहारिणिं वए।  
भासा-दोसं परिहरे मायं च वज्जए सया॥  
न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं न निरट्ठं न मम्मयं।  
अप्पणट्ठा परट्ठा वा उभयस्सन्तरेण वा ॥ वही, १/२४-२५
९१. वही, ९/१२-१३
९२. वही,
९३. वही, ९/२५
९४. 'महावग्ग', १/२५-३३, उद्धृत- *Ancient Indian Education*, p. 402
९५. 'बुद्धकालीन समाज और धर्म', पृ०-१७०.
९६. As has been already indicated, he was placed in charge of two superiors qualified by learning, character, and standing, who were called the Ācārya and Upādhyāya. It is difficult to distinguish their functions from the texts. They are described in Mahāvagga. The distinction seems to be that the Upādhyāya was the higher authority entrusted with the duty of instructing the young Bikkhu in the sacred texts and doctrines, while the Ācārya assumed responsibility for his conduct and was thus called also in the ecclesiastical Act but also to his tutorial responsibility as regards discipline. According to Buddhaghosha- The Upadhyaya is to be of ten years' and the Acharya of six years' seniority. But, of course, mere seniority is no qualification unless the monk was also learned and competent. *Ancient Indian Education*, p. 402.
९७. कृपालुः संवरः शक्तः ज्ञातव्यः सद्गुरुस्तु सः। 'बोधिपथ प्रदीप', श्लोक २४.
९८. 'खुद्दकनिकाय', भाग १, पृ०-३१५
९९. 'महावग्ग', ५६/२७
१००. 'अवदान', जि० १/१०८/५
१०१. 'दिव्यावदान', ३७०/९.
१०२. 'प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास', ओमप्रकाश, पृ०-२२८.
१०३. वही
१०४. 'विनयपिटक', पृ०-३३७-३३८
१०५. "सम्मापटिपन्ने अन्तेवासिके ये आचरियानं पंचवीसति आचरियगुणा तेहि गुणेहि आचरियेन सम्मा पटिपज्जितब्बं। कतमे पंचवीसति गुणा? इधा भन्ते नागसेन, आचरियेन अन्तेवासिम्हि सततं समितं आरक्खा अपट्टपेतब्बा, असेवनसेवना जानितब्बं,

पमत्ताप्पमतता जानितब्बा, सेय्यावकासो जानितब्बो, भोजनस्स लद्धालद्धं जानितब्बं विसेसो जानितब्बो, पत्तगतं संविभजितब्बं, अस्सासेतब्बो- 'मा भायि, अत्थो ते अभिक्कमती' ति 'इमिना पुग्गलेन पटिचरती' ति पटिचारो जानितब्बो, गामे पटिचारो जानितब्बो, न तेन हासोवादो कातब्बो, न तेन सह आलापो कातब्बो, न तेन सह सल्लापो कातब्बो। छिदं दिस्वा अधिवासेतब्बं, सक्कच्चकारिना भवितब्बं, अखण्डकारिना भवितब्बं, अरहस्सकारिना भवितब्बं, निरवसेसकारिना भवितब्बं, 'जनेमिमं सिप्पेसु' ति जनकचित्तं उपट्ठपेतब्बं, कथं अयं न परिहायेय्या ते वड्ढिचित्तं उपट्ठपेतब्बं, बलवं इमं करोमि सिक्खाबलेना' ति चित्तं उपट्ठपेतब्बं मेतंचित्तं उपट्ठपेतब्बं, आपदासु न वि जहितब्बं, करणीये त पमज्जितब्बं, खलिते धम्मने पग्गहेतब्बो ति।''

‘मिलिन्दपन्हपालि’, पृ०-७६

१०६. This whole-hearted devotion of the pupil to his teacher had its counterpart in the corresponding attitude and conduct of the teacher towards his pupil. If the duties of the pupil are exacting, those of the teacher also are planned on a similar scale. First he must give the Bhikkhu under his charge all possible intellectual and spiritual help and guidance 'by teaching, by putting questions to him, by exhortation, and by instruction.' Second, where the pupil lacked his necessary articles such as, an alms-bowl or a robe, the teacher was expected to supply them out of his own belongings. Third, if the pupil falls ill, the teacher must nurse him as long as his life lasts, and wait until he has recovered. During this period of his illness, the teacher is to minister to his pupil in the same way as the pupil serves him in health, down to even rising from bed early to give his pupil 'the teeth cleanser and water to rinse his mouth with' getting water for the washing of his feet etc. *Ancient Indian Education*, pp. 404-405.

१०७. 'विनयपिटक', पृ०-४८२ तथा देखें- *Ancient Indian Education*, p. 452

१०८. 'दीर्घनिकाय' (अनु०), पृ०-२४.

१०९. वही, पृ०-२९

११०. 'हैनसांग की भारत यात्रा', पृ०-५४

१११. 'बुद्धकालीन समाज और धर्म', पृ०-१७१.



## षष्ठ अध्याय

# शिक्षार्थी की योग्यता एवं दायित्व

विद्यार्थी जीवन मानव जीवन में सबसे श्रेष्ठ है। यदि यह कहा जाय कि विद्यार्थी जीवन मानव जीवन की नींव है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिस प्रकार विशाल भवन के निर्माण में नींव के प्रथम पत्थर या ईंट का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, उसी प्रकार मानव जीवन के निर्माण में विद्यार्थी जीवन का सर्वोपरि स्थान है। वैदिक संस्कृति में वैयक्तिक जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया है जिसमें पहला भाग विद्यार्थी जीवन है, जिसे ब्रह्मचर्याश्रम के नाम से जानते हैं। श्रमण परम्परा में ब्रह्मचर्याश्रम में लौकिक शिक्षाकाल का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है, क्योंकि श्रमण परम्परा ने आध्यात्मिक जीवन पर अधिक बल दिया है, फिर भी जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं में ब्रह्मचर्याश्रम को शिक्षण-काल के रूप में स्वीकार किया गया है।<sup>१</sup>

प्राचीनकाल में शिक्षार्थी को विद्या अर्जन के लिए आचार्य के पास जाना पड़ता था जो अरण्य में रहा करते थे। गुरु (आचार्य) प्रायः सांसारिक विषय भोगों से विरक्त साधु हुआ करते थे जिनसे शिक्षार्थियों को न केवल किताबी ज्ञान मिलता था, अपितु व्यावहारिक जीवन का भी ज्ञान प्राप्त होता था। शिक्षार्थी का अर्थ ही होता है— जो शिक्षा अर्थात् विद्या का इच्छुक हो, वह शिक्षार्थी है। विद्यार्थी के लिए 'छात्र' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। छात्र शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ बताते हुए व्याकरणाचार्य पण्डित तारणीश झा ने कहा है - 'छत्रं गुरोर्दोषावरणं तत् शीलमस्य सः छात्रः'<sup>२</sup> अर्थात् गुरु के दोषों पर आवरण डालना छात्र है और जिसका इस प्रकार का आचरण है वह छात्र है।

## जैन परम्परा

### अध्ययन-काल

जैनागम के अनुसार बालक का अध्ययन कुछ अधिक ८ वर्ष से प्रारम्भ होता है। महावीर ने भी आठ वर्ष की उम्र में लेखशाला में प्रवेश किया था। महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ ने महावीर को लेखशाला में भेजने से पूर्व नैमित्तिकों को बुलाकर मुहूर्त

निकलवाया और स्वजनों को निमन्त्रित कर उनका सत्कार किया। तत्पश्चात् वाग्देवी की प्रतिमा का पूजन किया, नाना रत्नों से जटित स्वर्ण के आभूषण बनवाये और आचार्य को बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण एवं नारियल आदि भेंट में दिये। लेखशाला में विद्यार्थियों को मषिपात्र व लेखनी दी। साथ ही द्राक्षा, खडशर्करा, चिंरौजी और खजूर आदि वितरित किये। तदुपरान्त महावीर ने तीर्थ जल से स्नान कर, सर्वालंकार से विभूषित हो, महाछत्र आदि धारण किये हुए, चामरों से विद्यमान चतुरंग सेना से परिवृत्त गाजे-बाजे के साथ लेखशाला में प्रवेश किया।<sup>३</sup>

इसी प्रकार महाबल कुमार<sup>४</sup> तथा दृढ़प्रतिज्ञ<sup>५</sup> आदि के शिक्षा ग्रहण करने के उपनयन उत्सव का वर्णन भी आया है। अभयदेव ने उपनयन का अर्थ कला ग्रहण किया है। कला का अर्थ है— विद्या। विद्या ग्रहण के समय जो उत्सव मनाया जाता है, उसे उपनयन कहते हैं।<sup>६</sup> 'आदिपुराण' में विद्याध्ययन के अन्तर्गत चार प्रकार के संस्कार बताये गये हैं—

(१) लिपि संस्कार— वैदिक ग्रन्थों के अनुसार उपनयन संस्कार के पश्चात् ही लिपिज्ञान, अंकज्ञान या शास्त्रों आदि का अध्ययन आरम्भ होता था, परन्तु जैन ग्रन्थ 'आदिपुराण' में उपनीति क्रिया के पूर्व लिपि संस्कार करने का वर्णन आया है। बालक जब पाँच वर्ष का हो जाता था तब उसका विधिवत अक्षरारम्भ कराया जाता था।<sup>७</sup> जैन मान्यतानुसार उपनयन तो माध्यमिक शिक्षा के पूर्व होता है।

लिपि संस्कार की विधि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि बालक के पिता को यथाशक्ति पूजन सामग्री लेकर श्रुतदेवता का पूजन करना चाहिए और अध्ययन कराने में कुशल व्रती गृहस्थ को ही उस बालक के अध्यापक पद पर नियुक्त करना चाहिए।<sup>८</sup> इस विधि में बालक को अ, आ इ, ई आदि स्वर, व्यञ्जन, संयुक्ताक्षर योगबाह आदि का अभ्यास कराया जाता था।<sup>९</sup> 'आदिपुराण' के अनुसार लिपि संस्कार के बाद उपनयन संस्कार का विधान है।

(२) उपनीति क्रिया— गर्भ से आठवें वर्ष में बालक की उपनीति क्रिया होती थी। वैदिक-ग्रन्थों में जिसके लिए संस्कार शब्द का प्रयोग किया गया है उसी को आदिपुराण में क्रिया शब्द से इंगित किया गया है। इस क्रिया में शिक्षार्थी को केशों का मुण्डन करवाकर व्रतबन्धन तथा तीन लरियों की बनी मूँज की मेखला धारण करनी पड़ती थी।<sup>१०</sup> तत्पश्चात् सफेद धोती धारण करने का विधान था। जो चोटी रखता था, सफेद धोती और सफेद दुपट्टा धारण करता था, जो विकारों से रहित होता था और व्रत के चिह्न स्वरूप यज्ञोपवीत सूत्र को धारण करता था, वह ब्रह्मचारी कहलाता था। जिनालय में

जाकर अर्हत्देव की पूजा करना आवश्यक था। राजपुत्रों को छोड़कर सभी के लिए भिक्षावृत्ति का विधान था। राजकुमारों को अन्तःपुर में जाकर माता-पिता से भिक्षा माँगनी पड़ती थी। भिक्षा में प्राप्त वस्तु का अग्रभाग श्री अरहन्तदेव को समर्पण कर बाकी बचे हुए योग्य अन्न को ग्रहण करने का विधान था।<sup>११</sup>

(३) **व्रतचर्या**— उत्कृष्ट चिह्नों से युक्त ब्रह्मचर्य आदि व्रत को धारण करना व्रतचर्या संस्कार है।<sup>१२</sup> व्रतचर्या का अभिप्राय विद्याध्ययन के समय कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक का होना है जिससे विद्याध्ययन में कोई बाधा न हो। इस संस्कार में कमर में तीन लर की मूँज की मेखला पहनायी जाती थी जो रत्नत्रय की विशुद्धि का प्रतीक माना जाता था। सफेद धोती का पहनना यह सूचित करती थी कि अरहन्तदेव का कुल पवित्र और विशाल है। सात लर का गूँथा हुआ यज्ञोपवीत सात परम स्थानों का सूचक था। स्वच्छ और उत्कृष्ट मुण्डित सिर मन, वचन और काय की पवित्रता का द्योतक था।

(४) **व्रतावरण क्रिया**— समस्त विद्याओं के अध्ययन के पश्चात् व्रतावरण क्रिया होती थी। यह क्रिया गुरु के साक्षीपूर्वक जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करके बारह अथवा सोलह वर्ष बाद की जाती थी। व्रतावरण के बाद ब्रह्मचर्य धारण करते समय वस्त्र, आभूषण और माला आदि का जो त्याग किया गया था, वह गुरु की आज्ञा से पुनः धारण कराया जाता था।<sup>१३</sup> जो शस्त्रोपजीवी अर्थात् क्षत्रिय वर्ग के थे वे पुनः अपनी आजीविका के लिए शस्त्र धारण कर सकते थे। वैश्य कृषि, व्यापार आदि कार्यों में प्रवृत्त हो सकते थे। किन्तु ब्रह्मचर्य धारण करते समय मधु, मांस, पाँच उदुम्बर फलों तथा हिंसादि स्थूल पापों का त्याग कर सदाचारमयी प्रवृत्ति को अपनाता था जिसका व्रतावरण क्रिया के बाद भी जीवनपर्यन्त पालन करना पड़ता था।<sup>१४</sup>

### शिक्षार्थी की योग्यताएँ

प्राचीनकाल में विद्यार्थियों को ज्ञानार्जन के लिए आश्रमों में गुरु के पास जाना पड़ता था। उन विद्यार्थियों में कुछ कोमल स्वभाव तथा मृदुभाषी हुआ करते थे तो कुछ उदण्ड प्रवृत्ति के होते थे जिन्हें जैन ग्रन्थों में क्रमशः विनीत-अविनीत नाम से अभिहित किया गया है। विनयी का चित्त अहंकार रहित, सरल, विनम्र और अनाग्रही होता है। ठीक इसके विपरीत अविनयी का चित्त अहंकारी, कठोर, हिंसक और विद्रोही प्रवृत्ति का होता है। 'उत्तराध्ययन' में विनीत तथा अविनीत को परिभाषित करते हुए कहा गया है- जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, गुरु के सान्निध्य में रहता है, गुरु के इंगित एवं आकार अर्थात् संकेत और मनोभावों को जानता है वह विनीत है और जो गुरु की आज्ञा

का पालन नहीं करता है, गुरु के सान्निध्य में नहीं रहता है, गुरु के प्रतिकूल आचरण करता है, असम्बुद्ध है अर्थात् तत्त्वज्ञ नहीं है वह अविनीत कहलाता है।<sup>१५</sup>

### विनीत शिक्षार्थी के लक्षण

‘उत्तराध्ययन’ में विनीत के निम्नलिखित गुण बतलाये गये हैं—

(१) नम्र होना, (२) अस्थिर होना, (३) छल-कपट से रहित होना, (४) अकौतूहली होना, (५) किसी की निन्दा न करना, (६) क्रोध को अतिसमय तक न रखना, (७) मित्रों के प्रति कृतज्ञ होना, (८) प्राप्त ज्ञान पर अहंकार न करना, (९) स्वलना होने पर दूसरों का तिरस्कार न करना, (१०) मित्रों पर क्रोध न करना, (११) अप्रिय मित्र के लिए एकान्त में भी भलाई की कामना करना, (१२) वाक्-कलह और हिंसादि न करना, (१३) अभिजात (कुलीन) होना, (१४) लज्जाशील होना और (१५) प्रतिसंलीन अर्थात् विषय के प्रति जागरूक रहना आदि।<sup>१६</sup>

शिक्षाशील वह है जिसमें निम्नोक्त आठ गुण पाये जाते हैं—

(१) जो हँसी-मजाक न करता हो, (२) जो सदा शान्त रहता हो, (३) किसी भी मर्म का उद्घोषण न करता हो, (४) अश्लील अर्थात् चरित्रहीन न हो, (५) विशील, (६) खान-पान का लोलुपी न हो, (७) अक्रोधी हो और (८) सत्य में सदा अनुरक्त हो।<sup>१७</sup> ‘आवश्यकनिर्युक्ति’ में सुयोग्य शिष्य के बारे में कहा गया है कि वह गुरु के पढ़ाये हुए विषय को ध्यानपूर्वक सुनता है, प्रश्न पूछता है, ध्यानपूर्वक उत्तर सुनता है और अर्थ ग्रहण करता है, उस पर चिन्तन करता है, उसकी प्रामाणिकता का निश्चय करता है, उसके अर्थ को याद रखता है और तदनुसार आचरण करता है।<sup>१८</sup> इसी प्रकार ‘आदिपुराण’ में भी विनीत शिक्षार्थी के आठ लक्षण निरूपित किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं<sup>१९</sup>—

- (१) शुश्रूषा— सत्कथा को सुनने की इच्छा होना शुश्रूषा गुण है।
- (२) श्रवण— सुनना।
- (३) ग्रहण— किसी भी विषय को समझकर ग्रहण करना।
- (४) धारण— पठित विषय को बहुत समय तक या सदैव स्मरण रखने की क्षमतावाला।
- (५) स्मृति— पूर्व में ग्रहण किये हुए उपदेश आदि को स्मरण रखना।
- (६) ऊह — तर्क द्वारा पदार्थ के स्वरूप निर्धारण की शक्ति का होना।



(७) अपोह — हेय वस्तुओं को छोड़ना।

(८) निर्णीत — युक्ति द्वारा पदार्थ का निर्णय करना।

विनीत शिक्षार्थियों में उपर्युक्त गुण का होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि विनय ही विद्यार्थी जीवन का मूल है। विनय से ही विद्यार्थी को यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा ज्ञान आदि प्राप्त होते हैं।

### अविनीत शिक्षार्थी के लक्षण

अविनीत शिक्षार्थियों में चौदह प्रकार के दोष बताये गये हैं<sup>२०</sup> -

- (१) बार-बार क्रोध करना।
- (२) क्रोध को लम्बे समय तक रखना।
- (३) मित्रता को टुकड़ाना।
- (४) ज्ञान प्राप्त कर अहंकार करना।
- (५) स्खलना होने पर दूसरों का तिरस्कार करना।
- (६) मित्रों पर क्रोध करना।
- (७) प्रिय मित्रों की भी परोक्ष में शिकायत करना।
- (८) असम्बद्ध प्रलाप करना।
- (९) द्रोह करना।
- (१०) अभिमान करना।
- (११) रसलोलुप होना।
- (१२) अजितेन्द्रिय होना।
- (१३) असंविभागी होना अर्थात् साथियों का सहयोग न करना, और
- (१४) अप्रीतिकर होना अर्थात् दूसरों का अप्रिय करना।

‘उत्तराध्ययन’ में अविनीत शिक्षार्थी के कुछ कार्यों का वर्णन आया है जिससे उनका स्वरूप निर्धारित होता है —

गुरु द्वारा अनुशासित किये जाने पर बीच में बोलना, आचार्य के वचनों में दोष निकालना तथा उनके वचनों के प्रतिकूल आचरण करना। किसी कार्य विशेष से भेजने पर नानाप्रकार के बहाने बनाना, किसी गृहस्वामिनी के सम्बन्ध में कहना कि वह मुझे नहीं जानती इसलिए मुझे भिक्षा नहीं देगी या वह घर से बाहर गयी होगी, अतः किसी

दूसरे साधु को भेज दीजिए या जाना पड़ा तो इधर-उधर से घूमकर लौट आना तथा पूछने पर राजाज्ञा की तरह भृकुटि तानकर जवाब देना,<sup>२१</sup> भिक्षा माँगने में अपमान समझकर भिक्षा के लिए नहीं जाना और भिक्षा माँगने में आलस्य करना आदि।<sup>२२</sup> जिस प्रकार दुष्ट बैल गाड़ी में जोते जाने पर कभी समिला अर्थात् जुए की कील को तोड़ देता है, कभी गाड़ी उन्मार्ग पर ले जाता है, कभी सड़क के पार्श्व में बैठ जाता है तो कभी गिर पड़ता है, कभी कूदता है तो कभी उछलता है, कभी जुए को तोड़ता है और तरुण गाय के पीछे भाग जाता है। इतना ही नहीं, उसी में कोई धूर्त बैल होता है जो मृतक-सा भूमि पर पड़ा रहता है। ठीक इसी प्रकार अविनीत एवं धैर्य में कमजोर शिष्य धर्मयान में जुतते हुए गुरु द्वारा सम्पादित किये जाने पर विभिन्न प्रकार की कुचेष्टाएँ करके गुरु को पीड़ित करते हैं।<sup>२३</sup> पुनः कहा गया है कि जिस प्रकार सूअर चावलों की भूसी को छोड़कर विष्टा खाता है, उसी प्रकार अज्ञानी शिष्य शील, सदाचार छोड़कर दुःशील, दुराचार में रमण करता है।<sup>२४</sup> जो अपने गुरु के प्रति आशातनाओं का आचरण करता है वह सर्वदा अपमानित होता है। आशातनाएँ तैंतीस प्रकार की बतलायी गयी हैं<sup>२५</sup>—

- (१) मार्ग में गुरु के आगे चलना।
- (२) मार्ग में गुरु के बराबर चलना।
- (३) गुरु के पीछे अकड़कर चलना।
- (४ से ६) गुरु के आगे, बराबर, पीछे अड़कर बैठना आदि तीन आशातनाएँ।
- (७ से ९) गुरु के आगे, बराबर तथा पीछे खड़ा होना आदि तीन आशातनाएँ।
- (१०) यदि गुरु और शिष्य एक साथ एक पात्र में जल लेकर शौच-शुद्धि के लिए बाहर गये हों तो गुरु से पूर्व आचमन तथा शौच करना।
- (११) बाहर से लौटने पर गुरु से पहले ही ईर्यापथ की आलोचना करना।
- (१२) रात्रि में जागते हुए भी गुरु के बुलाने पर न बोलना।
- (१३) गुरु से बात करने के लिए आये हुए व्यक्ति से, गुरु से पहले स्वयं बातचीत करना।
- (१४) आहार आदि की आलोचना पहले साधुओं के समक्ष कर बाद में गुरु के आगे करना।
- (१५) आहार आदि लाकर पहले साधुओं को दिखलाना।

१७४ जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन

- (१६) आहार आदि ग्रहण करने के लिए पहले साधुओं को आमन्त्रित करना और बाद में गुरु को आमन्त्रित करना।
- (१७) गुरु से पूछे बिना दूसरे साधु को उसकी इच्छानुसार प्रचुर आहार देना।
- (१८) गुरु के साथ आहार ग्रहण करते समय सुस्वादु आहार स्वयं खा लेना।
- (१९) गुरु द्वारा बुलाये जाने पर अनसुनी कर देना।
- (२०) गुरु के प्रति या उनके समक्ष मर्यादा से अधिक बोलना।
- (२१) गुरु के द्वारा बुलाये जाने पर उत्तर में 'क्या कहते हो' आदि अभद्र शब्दों का प्रयोग करना।
- (२२) गुरु के द्वारा कुछ पूछे जाने पर आसन पर बैठे-बैठे बात सुनना और उत्तर देना।
- (२३) गुरु के प्रति तू शब्द का प्रयोग करना।
- (२४) किसी कार्य की आज्ञा को अस्वीकार करके उल्टा उन्हीं से कहना कि तुम ही कर लो।
- (२५) गुरु के धर्मकथा कहने पर ध्यान से न सुनना और अनमनस्क रहना।
- (२६) धर्मकथा करते समय बीच में ही टोकना - आप भूल गये हैं, यह ऐसे नहीं है इत्यादि।
- (२७) धर्मकथा करते समय बीच में भंग करना।
- (२८) धर्मकथा करते समय परिषद् का भेदन करना और कहना - कब तक कहोगे, भिक्षा का समय हो गया है।
- (२९) गुरु को नीचा दिखाने के लिए सभा में ही गुरु द्वारा कथित विषय का विस्तृत विवेचन करना।
- (३०) गुरु के शय्या संस्तारक को पैर से छूकर क्षमा मांगे बिना ही चले जाना।
- (३१) गुरुदेव के शय्या संस्तारक पर खड़े होना, बैठना और सोना।
- (३२) गुरुदेव के आसन से ऊँचे आसन पर खड़े होना, बैठना और सोना।
- (३३) गुरुदेव के आसन के बराबर आसन पर खड़ा होना, बैठना और सोना।

इन तैत्तिरीय आशातनाओं का पालन करके अविनीत शिक्षार्थी अपने आपको गौरवान्वित महसूस करते हैं।

ग्रन्थों में कुछ ऐसे दुराचारी शिष्यों के उल्लेख भी मिलते हैं जो अपने आचार्य की आज्ञा पाकर हाथापायी भी कर बैठते थे। एक बार हरिकेशबल मुनि किसी ब्राह्मण के यज्ञवाटक में गये और भिक्षा याचना की तो अपने गुरु का इशारा पाते ही खण्डिए (छात्रगण) मुनि को डण्डे, फलक आदि से मारने-पीटने लगे जिससे उनके मुँह से खून निकलने लगा था।<sup>२६</sup> इसी प्रकार इन्द्रपुर के राजा इन्द्रदत्त के बाइस पुत्र थे। राजा ने अपने पुत्रों को आचार्य के पास पढ़ने के लिए भेजा। आचार्य यदि कुछ कहते तो वे आचार्य को मारते-पीटते और दुर्वचन बोलते थे। यदि आचार्य उनको अनुशासित करते तो वे अपनी माँ से जाकर शिकायत करते। उनकी माँ आचार्य के ऊपर गुस्सा करती तथा ताना मारती कि आप समझते हैं कि क्या पुत्र कहीं से ऐसे ही आ जाते हैं।<sup>२७</sup>

### विनय के फल

विनय में वह शक्ति है जो जीवन को सच्ची प्राणवत्ता देती है, सच्ची दिशा देती है। यदि मनुष्य में विनय, शालीनता, सरलता, सादगी आदि सदगुण नहीं हैं तो वह कहने मात्र का मनुष्य है, मानवता का स्वत्व उसमें नहीं हो सकता? जैनागमों में विनय के निम्नलिखित फल बताये गये हैं—

- (१) शिष्य के विनय-भाव से प्रसन्न होकर आचार्य अर्थगम्भीर और विपुल श्रुतज्ञान का लाभ करवाते हैं।<sup>२८</sup>
- (२) वह तप, सामाचारी, समाधि तथा पंचमहाव्रतों का पालन करके दिव्य ज्योति को प्राप्त करता है।<sup>२९</sup>
- (३) जिस प्रकार शकटादिवाहन को ठीक तरह से पहल करनेवाला बैल खुद को तथा अपने स्वामी को लेकर सुखपूर्वक जंगल को पार करता है, ठीक उसी प्रकार विद्यार्थी स्व और पर का कल्याण करता है।<sup>३०</sup>
- (४) जिस प्रकार पृथ्वी सभी प्राणियों का आधार है, उसी प्रकार योग्य शिष्य कीर्ति का विस्तार करके सबका आधार बनता है।<sup>३१</sup>
- (५) जो शिष्य आचार्यों और उपाध्यायों की सेवा करते हैं उनका ज्ञान खूब अच्छी तरह से सींचे हुए वृक्ष की भाँति क्रमशः बढ़ता ही जाता है।<sup>३२</sup>

- (६) जो आचार की प्राप्ति के लिए विनय का प्रयोग करते हैं, भक्तिपूर्वक गुरुवचनों को सुनकर एवं स्वीकृत करके कथित कार्य की पूर्ति करते हैं, जो कदापि गुरुश्री की आशातना नहीं करते वे शिष्य संसार में पूज्य होते हैं।<sup>३३</sup>
- (७) जो शिष्य आचार्य को विनय-भक्ति से सम्मानित करते हैं, वे स्वयं भी आचार्य द्वारा विद्यादान से सम्मानित होते हैं और यत्न से कन्या<sup>३४</sup> के समान श्रेष्ठ स्थान पर प्रतिष्ठित होते हैं। जो सत्यवादी, जितेन्द्रिय और तपस्वी विद्यार्थी अपनी योग्यता से आचार्यों का सम्मान करते हैं, वे संसार में सच्ची पूजा-प्रतिष्ठा पाते हैं।<sup>३५</sup>
- (८) गुरुओं की विनयभक्ति करनेवाला, सदा नम्र रहनेवाला, मधुर एवं सत्य बोलनेवाला, आचार्यादि की सेवा-वन्दना करनेवाला, उनके वचनों को शिरोधार्य करनेवाला शिष्य ही वस्तुतः पूज्य पुरुष होता है।<sup>३६</sup>

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विनीत शिक्षार्थी ही सर्वश्रेष्ठ है। वह देव, गन्धर्व और मनुष्यों में पूजित तथा सर्वत्र आदर को प्राप्त करता है।

### अविनय के फल

अविनीत शिक्षार्थी के लक्षण एवं कार्य के साथ-साथ अविनय के भी फल बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं—

- (१) जिस प्रकार प्रचण्ड अग्निशिखा क्षणमात्र में बड़े से बड़े पदार्थों के समूह को भस्मसात् कर देती है, ठीक उसी प्रकार गुरुजनों की अवज्ञा शिष्य के ज्ञानादि सदगुणों को भस्मसात् कर देती है।<sup>३७</sup>
- (२) गुरु की आशातना करनेवाले दुर्बुद्धि शिष्य को मुक्ति नहीं मिल सकती।<sup>३८</sup>
- (३) स्वाभिमानी एवं मदान्ध शिष्य की मूर्खता को बताते हुए कहा गया है— जो अभिमानी शिष्य आचार्य की अवज्ञा या आशातना करते हैं वे प्रचण्ड धधकती हुई अग्नि को पैरों से मल कर बुझाते हैं, बड़े भारी जहरीले साँप को क्रुद्ध करते हैं तथा जीने की इच्छा से सद्यः प्राणहारी हलाहल नामक विष को पीते हैं।<sup>३९</sup>
- (४) जिस प्रकार सड़े कान की कुतिया घृणा के साथ सभी स्थानों से निकाल दी जाती है, उसी प्रकार गुरु के प्रतिकूल आचरण करने वाला दुश्शील वाचाल शिष्य भी सर्वत्र अपमानित करके निकाल दिया जाता है।<sup>४०</sup>
- (५) जिस प्रकार गज, बैल तथा अड़ियल घोड़े आदि अविनीतता अर्थात् न चलने

पर प्रायः अंकुश और चाबुक की मार खाते हुए दुःखों को सहते हैं, उसी प्रकार अविनीत शिष्य गुरु से प्रताड़ित होते हुए दुःख का अनुभव करते हैं।<sup>४१</sup>

अतः जो शिष्य विनय धर्म को छोड़कर अविनय के मार्ग पर चलते हैं वे अपने ही पैर में अपने हाथों से कुल्हाड़ी मारते हैं।

### विनीत और अविनीत शिक्षार्थी का गुरु पर प्रभाव

विनीत जहाँ शालीनता और सदगुणों की राह पर चलता है, वहीं अविनीत असदगुणों को अंगीकार करता है। इतना तो निश्चित ही है कि जो शिष्य गुरु की दृष्टि में अनैतिक एवं दुराचारी है उसे गुरु यदि कुछ सिखाना भी चाहते हैं तो वे नहीं सिखा पाते हैं। एक ओर बिना विचारे अनाप-शनाप बोलनेवाले दुष्ट शिष्य जहाँ अपनी कुप्रवृत्तियों से विनम्र और मृदुभाषी गुरु को भी क्रुद्ध बना देते हैं, वहीं दूसरी ओर गुरु के मनोनुकूल चलनेवाले पटुता से कार्य सम्पन्न करनेवाले विनीत शिष्य शीघ्र ही रुष्ट होनेवाले गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं।<sup>४२</sup>

विनीत शिष्य को शिक्षा देते हुए गुरु वैसे ही प्रसन्न होते हैं जैसे सारथी (अश्व शिक्षक) अच्छे घोड़े को हाँकते हुए आनन्द की अनुभूति करता है, किन्तु ठीक इसके विपरीत अबोध एवं अविनीत शिष्य को शिक्षा देते हुए गुरु वैसे ही खिन्न होते हैं, जैसे दुष्ट घोड़े को हाँकता हुआ उसका वाहक।<sup>४३</sup> अविनीत शिष्य से खिन्न होकर गुरु सोचते हैं - मुझे इन दुष्ट शिष्यों से क्या लाभ? इनसे तो मेरी आत्मा व्याकुल ही होती है। इन्हें पढ़ाया-लिखाया, पाला-पोषा फिर भी ये उसी प्रकार स्वेच्छाचारी हो गये हैं, जिस प्रकार पंख निकल आने पर हंस पक्षी। अतः इन्हें छोड़ देने में ही कल्याण है।<sup>४४</sup>

### शिक्षार्थी के कर्तव्य

बिना पूछे कुछ न बोलना, सर्वदा सत्य बोलना अर्थात् क्रोधादि में असत् वचनों का प्रयोग न करना, गुरु की प्रिय और अप्रिय दोनों ही शिक्षाओं को धारण करना।<sup>४५</sup> गुरु के निकट सदैव प्रशान्त भाव से रहना अर्थात् वाचाल न बनना, अर्थपूर्ण पदों को सीखना, निरर्थक बातें न करना। गुरु द्वारा अनुशासित होने पर क्रोध न करके शान्त रहना, क्षुद्र व्यक्तियों के साथ हंसी-मजाक और अन्य क्रीड़ा न करना। अध्ययन के समय अध्ययन और बाकी समय में एकाकी ध्यान करना। अगर गलत व्यवहार कर भी ले तो उसे छिपाये नहीं, बल्कि किया हो तो 'किया' और न किया हो तो 'नहीं किया' कहना।<sup>४६</sup> अकेले में वाणी से अथवा कर्म से कभी भी गुरु के प्रतिकूल आचरण न करना।<sup>४७</sup> गुरु की आज्ञा के बिना कोई भी कार्य न करना।<sup>४८</sup> प्रिय अथवा कठोर शब्दों द्वारा आचार्य जो मुझ पर अनुशासन करते हैं, वह मेरे लाभ के लिए है- ऐसा

विचार कर उनका अनुशासन स्वीकार करना।<sup>४९</sup> गुरु मुझे पुत्र, भाई और स्वजन की तरह आत्मीय समझकर शिक्षा देते हैं, ऐसा समझकर उनके अनुशासन को कल्याणकारी मानना।<sup>५०</sup> गुरु के मनोनुकूल वैसे ही आचरण करना जैसे उत्तम शिक्षित घोड़ा चाबुक देखकर उन्मार्ग छोड़ देता है।<sup>५१</sup> न गुरु को कुपित करना और न कठोर अनुशासनादि से स्वयं ही कुपित होना और न गुरु के दोषों का अन्वेषण ही करना।<sup>५२</sup> गुरु के बुलाने पर मौन रहना, ऐसे आसन पर बैठना जो गुरु के आसन से नीचा हो, जिससे कोई आवाज न निकलती हो, जो स्थिर हो।<sup>५३</sup> उनके आसन के बराबर न बैठना, न आगे, न पीछे ही सटकर बैठना।<sup>५४</sup> गुरु के अति निकट भी न बैठना क्योंकि संघट्टा हो जाने की संभावना रहती है, यदि संघट्टा हो भी जाये तो उसी समय क्षमायाचना करते हुए कहना - भगवन्! दास का यह अपराध क्षमा करें, फिर कभी ऐसा नहीं होगा।<sup>५५</sup> गुरुश्री के एक बार अथवा अधिक बार आमन्त्रित करने पर अपने आसन पर से ही आज्ञा सुनकर उत्तर नहीं देना बल्कि आसन छोड़कर विनम्र भाव से कथित आज्ञा को सुनकर तदनुसार उत्तर देना।<sup>५६</sup> पलथी लगाकर दोनों हाथों से शरीर को बाँधकर तथा पैरों को फैलाकर भी नहीं बैठना।<sup>५७</sup> आसन अथवा शय्या पर बैठे-बैठे कभी भी गुरु से कोई बात नहीं पूछना, बल्कि उनके समीप आकर, उकड़ू आसन में बैठकर हाथ जोड़कर पूछना।<sup>५८</sup> आसन से निष्प्रयोजन न उठना, स्थिर एवं शान्त होकर बैठना।<sup>५९</sup> शिक्षा प्राप्ति के बाद गुरु की कृतज्ञता स्वीकार करते हुए विनयभाव से वन्दना करना। पांच प्रकार के विनय (खड़ा होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरुजनों की भक्ति तथा भावपूर्वक शुश्रूषा करना), पंचविध स्वाध्याय (वाचना, प्रच्छेदना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा) तथा आचार्य से सम्बन्धित दस प्रकार के वैयावृत्य में सदा संलग्न रहना।<sup>६०</sup> क्षेत्र, काल आदि भावों, गुरु के मनोगत अभिप्रायों तथा सेवा करने के समुचित साधनों को भली प्रकार से मालूम करके तत्-तत् उपायों से कार्य का सम्पादन करना।<sup>६१</sup>

## शिक्षार्थी के प्रकार

विनीत-अविनीत के अतिरिक्त शैल, कूट, छलनी, परिपूषग, हंस, महिष, मेढे, मच्छर, जलोगे, बिलाड़ी, जाहग, गाय, भेरी और आभिरी आदि की उपमा देकर शिक्षार्थी के चौदह प्रकार बताये गये हैं<sup>६२</sup>—

(१) **शैल**— कुछ शिष्य पर्वत के समान कठोर तथा कृष्णभूमि (काली मिट्टी वाली जमीन) के समान गुरु द्वारा बताये गये अर्थ ग्रहण करने में समर्थ होते हैं।

(२) **कूट**— कूट (घट) के चार प्रकार के बताये गये हैं— (क) छिद्रकुट, जिसके पेंदी में छिद्र हो, (ख) खण्डकुट - जिसके कन्ने टूटे हों, (ग) बोटकुट - जिसका

एक ओर का कपाल टूटा हो, (घ) सकलकुट - जो घड़ा पूर्ण हो। इसी तरह कुछ शिष्य छिद्रकुट, कुछ खण्डकुट, कुछ बोटकुट तथा कुछ पूर्णकुट के समान होते हैं।

(३) चालिणी— कुछ शिष्य चालिणी (छलनी) के समान होते हैं, जो गुरु के वक्तव्य को एक कान से सुनते हैं और दूसरे कान से निकाल देते हैं।

(४) छन्ना— कुछ शिष्य दूध छानने के छत्रे (परिपूषग) की भाँति होते हैं। जिस प्रकार दूध या घी छानने पर नीचे चला जाता है और गन्दगी ऊपर रह जाती है, उसी प्रकार कुछ शिष्य दोष और अवगुण ही ग्रहण करते हैं।

(५) हंस— कुछ शिष्य हंस के समान होते हैं, जैसे- हंस जलमिश्रित क्षीर में से क्षीर को ग्रहण कर लेता है और नीर को छोड़ देता है, उसी प्रकार कुछ शिष्य गुणों को ग्रहण कर लेते हैं और दोषों को छोड़ देते हैं।

(६) महिष — कुछ शिष्य महिष के समान होते हैं, जैसे महिष तालाब में घुसकर जल को गन्दा कर देता है जिसके कारण जल को न स्वयं ही पी पाता है और न दूसरा ही वैसे ही कुछ शिष्य व्याख्यान के प्रारम्भ होने पर आचार्य को अनेक प्रकार की विकथाओं से इस प्रकार थका देते हैं कि वे न तो उसे ही पढ़ा पाते हैं और न दूसरे विद्यार्थी को ही।

(७) मेढ़ा— कुछ शिष्य मेढ़े की तरह होते हैं। जिस प्रकार मेढ़ा मुँह को आगे की ओर झुकाकर चुपचाप जलग्रहण करता है, उसी प्रकार शिष्य आचार्य को उत्तेजित किये बिना चुपचाप शिक्षा ग्रहण करता है।

(८) मच्छर— कुछ शिष्य मच्छर के समान होते हैं जो बैठते ही काट लेते हैं।

(९) जलोगा— कुछ शिष्यों को जलोगे की भाँति बताया गया है। जलोगा जो शरीर को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाये बिना रुधिर का पान करता है, ऐसे शिष्य आचार्य को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाये बिना श्रुतादि ज्ञान का पान करते हैं।

(१०) बिलाड़ी— कुछ शिष्यों को उस बिलाड़ी के समान बताया गया है जो दूध को जमीन पर गिराकर बाद में उसे चाटती है। इसी प्रकार कतिपय शिष्य प्रमादवश जब आचार्य का व्याख्यान होता है तो ध्यान नहीं देते और व्याख्यान के समाप्त हो जाने पर दूरों की बातों को सुनने की कोशिश करते हैं।

(११) जाहग— कुछ शिष्य जाहग के समान होते हैं। जाहग जो थोड़ा-थोड़ा दूध गिराकर चाटता है, वैसे ही कुछ शिष्य पूर्वग्रहीत अर्थ को याद करके प्रश्न पूछते हैं और आचार्य को कष्ट नहीं देते हैं।



(१२) चार ब्राह्मण— चार ब्राह्मणों का उदाहरण देते हुए कहा गया है - कहीं से चार ब्राह्मणों को एक गाय दान में मिली। चारों बारी-बारी से उसे दूहते। कल इसे दूसरा दूहेगा, फिर मैं इसे चारा क्यों दूँ? ऐसा विचार कर के रोज दूध दूह लेते थे और गाय को चारा नहीं देते थे। परिणामतः गाय मर गयी। तदुपरान्त दुबारा किसी ने उन्हें गाय नहीं दी। इसी प्रकार जो शिष्य आचार्य की वन्दना-पूजा तथा सेवा-सुश्रूषा आदि नहीं करते हैं, वे श्रुतज्ञान से सर्वथा वंचित रह जाते हैं। अतः शिष्यों को अपने गुरु के प्रति श्रद्धा, भक्ति, आदर तथा विनय की भावना रखनी चाहिए।

(१३) अशिवोपशामिनी भेरी— गोशीर्षचन्दन निर्मित अशिवोपशामिनी भेरी का उदाहरण दिया गया जो कृष्ण के पास थी। उस भेरी की आवाज सुनने से ही छः महीने तक रोग नहीं होता था और पहले से रोगग्रस्त व्यक्ति का रोग शान्त हो जाता था। एक बार एक परदेशी गोशीर्षचन्दन की तलाश करते हुए कृष्ण के भेरीपाल के पास पहुँचा और बहुत-सा द्रव्य देकर भेरी का एक खण्ड खरीद लिया। इसी प्रकार जब भी उसे आवश्यकता होती वह भेरीपाल को द्रव्य देकर भेरी का खण्ड ले जाता। जब कृष्ण को इस बात का पता चला तो उन्होंने भेरीपाल के कुल का नाश कर दिया। इसी प्रकार सूत्रार्थ को खण्डित करनेवाले शिष्य को भेरीपाल के समान बुद्धिहीन कहा गया है।

(१४) आभीरी— आभीरी का उदाहरण देते हुए कहा गया है - कोई आभीरी अपने पति तथा सहेलियों के साथ गाड़ी में घी के घड़े भरकर नगर में बेचने चली। उसका पति गाड़ी पर था और वह नीचे खड़ी अपनी पत्नी के हाथों में घड़े पकड़ा रहा था। पति ने समझा कि आभीरी ने घड़ा पकड़ लिया और आभीरी समझी कि घड़ा अभी उसके पति के हाथ में है। इसी असमझस में घड़ा नीचे गिरकर फूट गया। आभीरी और उसके पति में तू-तू मैं-मैं होने लगी - तुमने ठीक से नहीं पकड़ा तो तुमने ठीक से नहीं पकड़ा। खींझकर आभीर ने अपनी पत्नी को खूब पीटा। इसी बीच बाकी बचे घी में से कुछ कुत्ते चाट गये और कुछ जमीन पी गयी। तब तक उसके सहयोगी अपना घी बेचकर लौट आये। आभीरी ने अपने घी को बेचा लेकिन कुछ लाभ न हुआ। इसी प्रकार जो शिष्य अपने गुरु के प्रति कटु वचन कहता है, तर्क-वितर्क कर कलह करता है, वह कभी भी प्रशस्त नहीं कहा जा सकता।

‘आदिपुराण’ में भी मिट्टी, चलनी, बकरा, बिलाव, तोता, बगुला, पाषाण, सर्प, गाय, हंस, भैंसा, फूटा घड़ा, डंस और जोक आदि की अपेक्षा से शिष्य के चौदह प्रकार बताये गये हैं।<sup>६३</sup> इन चौदह प्रकारों को गुण-अवगुणों के आधार पर तीन भागों में विभक्त किया गया है— उत्तम, मध्यम तथा अधम। जो विद्यार्थी गाय और हंस

के समान होते हैं वे उत्तम कहलाते हैं। तोता और मिट्टी के समान विद्यार्थी मध्यम हैं तथा शेष अधम की कोटि में आते हैं।

## बौद्ध परम्परा

### अध्ययन काल

बौद्ध शिक्षा-पद्धति में बालक का शिक्षारम्भ ८ वर्ष की आयु से होता था।<sup>६४</sup> इसे विद्यारम्भ संस्कार के नाम से भी सम्बोधित किया जाता था। यह संस्कार उपनयन संस्कार के पश्चात् सम्पन्न होता था।<sup>६५</sup> स्वकुल के अनुरूप विद्या ग्रहण कराने के लिए बालक को सहस्रों मंगल कर्मों के साथ लिपिशाला में ले जाया जाता था। शिक्षारम्भ के इस मौके पर विशेष रूप से बालकों को दान दिया जाता था जिसमें भोज्य और खाद्य पदार्थों के साथ हिरण्य-सुवर्ण का दान भी देने का विधान था। कुमार सिद्धार्थ को भी सर्वप्रथम लिपिशाला में ले जाया गया था। इसका विस्तृत वर्णन 'ललितविस्तर' में देखने को मिलता है<sup>६६</sup> - जब कुमार बोधिसत्त्व बड़े हुए तब उन्हें सहस्रों मंगलाचारों के साथ लिपिशाला में ले जाया गया। आदर के साथ दस हजार बालकों द्वारा घिरे हुए थे। दस हजार रथ चबाने-खाने की वस्तुओं व हिरण्य तथा सुवर्ण से परिपूर्ण थे। उन वस्तुओं की कपिलवस्तु महानगर के मार्गों पर, चौराहों पर, तिराहों पर, गलियों में तथा नगर के मध्य में बने बाजारों के प्रवेश द्वारों पर बौछार की गयी। आठ हजार बाजों के साथ फूलों की महावृष्टि की गयी। नगर के चबूतरों, अटारियों, द्वार के बाह्य भागों, गवाक्षों अर्थात् हवादार जाली वाले झरोखों, महलों पर बने कूटगारों, घरों तथा प्रासादों के तलों पर शत सहस्र कन्याएँ विविध आभूषणों से सजी हुई थीं जो बोधिसत्त्व को देखकर फूल फेंक रही थीं। आठ हजार देवकन्याएँ, अभी-अभी मानो गिर ही पड़ेंगे ऐसे अलंकारों एवं आभूषणों से सजी हुई, हाथ में रत्नभद्र लिये, मार्ग का शोधन करती हुई, बोधिसत्त्व के आगे-आगे चल रही थीं। देवता, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर, गरुड़, किन्नर तथा महोरग अर्थात् जो ऊपर के आधे शरीर से प्रकट हो, आकाश में पुष्पमालाएँ तथा पट्टमालाएँ लटका रहे थे। सब शाक्यगण राजा शुद्धोधन को आगे कर बोधिसत्त्व के आगे-आगे चल रहे थे। इस तरह साज-सज्जा के साथ बोधिसत्त्व को लिपिशाला में ले जाया गया।<sup>६७</sup> लिपिशाला में प्रवेश के पश्चात् दारकाचार्य से संख्या, लिपि,<sup>६८</sup> गणना, धातुतन्त्र, मातृकापद आदि का ज्ञान प्राप्त किया। बोधिसत्त्व के साथ दस हजार बालक भी लिपिशाला में लिपि का ज्ञान प्राप्त करते थे। इनमें कन्याएँ भी लिपि की शिक्षा प्राप्त करती थीं। उस समय विद्यारम्भ चन्दन की पट्टिका पर प्रारम्भ कराया जाता था।<sup>६९</sup> जिसकी पुष्टि गान्धार कला से होती है जिसमें लिपिफलक का चित्रण देखने को मिलता है।<sup>७०</sup>

युवानच्यांग के अनुसार बालक की शिक्षा का प्रारम्भ 'द्वादशाध्यायी' नामक पुस्तक के अध्ययन से होता था। जब बालक सात वर्ष का हो जाता था तब उसे पाँच विज्ञान— (१) व्याकरण, (२) शिल्प और कला का विज्ञान, (३) आयुर्वेद, (४) तर्कशास्त्र, और (५) आत्मविज्ञान पढ़ाया जाता था। व्याकरण की शिक्षा तीन पुस्तकों के माध्यम से दी जाती थी जिनमें प्रथम पुस्तक में ८०००, द्वितीय में ५००० तथा तृतीय में १००० श्लोक समाहित होते थे। इनके अतिरिक्त तीन और पुस्तकें विद्यार्थियों को पढ़नी पड़ती थी जो निम्नलिखित हैं—

(१) मण्डक, (२) उणादि, (३) अष्टधातु।<sup>७१</sup>

इत्सिंग ने कहा है - शिक्षा का प्रारम्भ छः वर्ष की अवस्था में होता था। बालकों को सबसे पहले 'सिद्धरस्तु' नामक पुस्तक पढ़ायी जाता थी जिसके अन्तर्गत वर्णमाला के ४० अक्षर पढ़ाये जाते थे। इसमें १०,००० शब्दांश ३०० श्लोक के अन्तर्गत निबद्ध थे। यह प्रारम्भिक शिक्षा छः महीने तक चलती थी। आठवें वर्ष में बालक को पाणिनीसूत्र और धातु का पाठ पढ़ाया जाता था। दसवें वर्ष में अष्टधातु, मण्डक और उणादि का अध्ययन प्रारम्भ होता था। इन तीनों को तीन वर्ष तक पढ़ाया जाता था। पन्द्रहवें वर्ष में 'काशिकावृत्ति' की पढ़ाई प्रारम्भ होती थी जो पाँच वर्षों तक चलती थी। इन सबके अतिरिक्त पातञ्जल महाभाष्य पर 'भर्तृहरि की टीका', 'भर्तृहरि का शास्त्र', 'वाक्यपदीय' और 'पेईन' नामक पुस्तकों का अध्ययन कराया जाता है। इस तरह व्याकरण का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके विद्यार्थी 'हेतुविद्या' और 'अभिधर्मकोश' का अध्ययन करता था।<sup>७२</sup> पुनः इत्सिंग ने लिखा है कि अधिकतर पाठ्य पुस्तकें सूत्र शैली में या पद्य में निबद्ध थीं जिससे कि विद्यार्थी उन्हें सरलता से कण्ठस्थ कर लेते थे। उनके अनुसार सिद्धिविहारिकों को 'मातृचेट' के दो सूत्र पढ़ाये जाते थे, तत्पश्चात् बालकों को पाँच और दश शीलों के सिद्धान्त को समझाया जाता था।<sup>७३</sup>

बौद्ध शिक्षा में दो प्रकार के संस्कार बताये गये हैं - (१) प्रव्रज्या और (२) उपसम्पदा संस्कार, ये बौद्धों के विशेष संस्कार हैं। प्रत्येक बौद्ध के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करना मोक्षदायक माना गया है, चाहे वह अल्प समय के लिए हो या पूर्ण समय के लिए।<sup>७४</sup> सदाचार की दृष्टि से बौद्ध आचार-व्यवस्था के चार विभाग किये गये हैं— (१) पंचशीलधारी, (२) अष्टशीलधारी, (३) दशशीलधारी और (४) दो सौ सत्ताईस शीलधारी। इनमें से प्रथम दो विभाग गृहस्थों के लिए तथा बाद के दो श्रामणेर तथा भिक्षु के हैं।

## प्रव्रज्या संस्कार

प्रव्रज्या संस्कार बौद्ध शिक्षा-प्रणाली का प्रथम संस्कार है। 'पबज्जा' पालि भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है - बाहर जाना। बाहर जाने का तात्पर्य छात्र की पूर्व स्थिति से है अर्थात् अपने परिवार से अलग होकर बौद्ध संघ में प्रवेश करना।

प्रव्रज्या संस्कार सम्पन्न होने से पूर्व विद्यार्थी से पूछा जाता था कि वह पितृहन्ता, मातृहन्ता या अर्हत् हन्ता तो नहीं है? यदि ये दोष विद्यमान रहते थे तो उसे प्रव्रज्या देने का विधान नहीं था।<sup>७५</sup> इन दोषों से रहित व्यक्ति ही प्रव्रज्या के योग्य समझा जाता था। तत्पश्चात् उसे दिनचर्या की कठिनाइयों से परिचित कराया जाता था ताकि वह प्रव्रजित होने के पूर्व इन कठिनाइयों से अवगत हो जाये, जैसे— भूमि पर घास बिछाकर सोना, पेड़ों की जड़ों पर बैठना, चाण्डाल के यहाँ भी भिक्षा माँगना, श्वान के समान थोड़ा भोजन करना, श्मशान में रहना, जंगलों में भ्रमण करना, वन्य पशुओं के भयानक गर्जन को सुनना,<sup>७६</sup> रुधिर मांस का त्याग<sup>७७</sup> आदि। नन्द को इन सब कठिनाइयों को समझाने के बाद ही प्रव्रजित किया गया था।<sup>७८</sup> नन्द को प्रव्रजित करने से पहले तथागत ने नन्द की स्वीकृति ले ली थी। प्रव्रजित होने से पूर्व विद्यार्थी की स्वीकृति अनिवार्य होती थी, क्योंकि 'सौन्दरनन्द' में वर्णन आया है - 'जब तथागत ने नन्द को दीक्षा देने के लिए कहा तब नन्द ने आनन्द से आकर कहा "मैं प्रव्रजित नहीं होऊँगा।"<sup>७९</sup> तब नन्द को तथागत ने पुनः समझाया।<sup>८०</sup> जब नन्द ने स्वीकृति दी तभी उन्हें प्रव्रजित किया गया। विद्यार्थी की स्वीकृति के साथ-साथ माता-पिता की भी स्वीकृति अनिवार्य है,<sup>८१</sup> यदि वह विवाहित हो तो पत्नी की स्वीकृति चाहिए। यह संस्कार पन्द्रह वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति को नहीं कराया जाता था।<sup>८२</sup>

## प्रव्रज्या की विधि

सर्वप्रथम बालक के सिर, दाढ़ी और मूँछ का मुण्डन किया जाता था।<sup>८३</sup> बौद्ध साहित्य में इस क्रिया को केशकर्म,<sup>८४</sup> जटाकर्म,<sup>८५</sup> चूड़ाकरण<sup>८६</sup> तथा मुण्डन<sup>८७</sup> आदि नामों से अभिहित किया गया है। तदुपरान्त वह कषाय वस्त्र धारण करता था।<sup>८८</sup> उसके बाद एक कन्धे पर उपरना कर भिक्षुओं की पाद वन्दना करता था तथा संघ के श्रेष्ठ भिक्षु बालक को उकड़ूँ बैठाकर, हाथ जोड़वाकर शरणत्रयी बोलने को कहते थे- (१) बुद्धं शरणं गच्छामि, (२) संघं शरणं गच्छामि, (३) धम्मं शरणं गच्छामि। इस शरणत्रयी को तीन बार बोलवाया जाता था।<sup>८९</sup> साथ ही पंचशील की शिक्षा भी दी जाती थी।<sup>९०</sup> लेकिन 'विनयपिटक'<sup>९१</sup> में दस शिक्षा पदों को सिखलाने का वर्णन आया है—

(१) प्राण हिंसा अर्थात् जीव हत्या न करना।

- (२) चोरी न करना।
- (३) अब्रह्मचर्य से दूर रहना।
- (४) असत्य न बोलना।
- (५) मद्य, कच्ची शराब आदि बुद्धि-भ्रष्ट करनेवाली चीजों के सेवन से बचना।
- (६) दोपहर के बाद भोजन न करना।
- (७) नृत्य, गीत, बाजा और चित्त को चंचल करनेवाले तमाशों को न देखना।
- (८) माला, गंध और उबटन के धारण, मण्डन तथा विभूषण की बात न करना।
- (९) ऊँची तथा महार्ध शय्या पर न सोना।
- (१०) सोना-चाँदी आदि दान में ग्रहण न करना।

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् विद्यार्थी गुरु को सिर झुकाकर प्रणाम करता था और गुरु के उपदेश तथा आदेश को ग्रहण करता था।<sup>९२</sup>

प्रव्रज्या संस्कार में किसी प्रकार का जातिबन्धन नहीं था। बुद्ध ने कहा है— भिक्षुओं! जिस प्रकार गंगा, यमुना, अचिरवती अर्थात् राप्ती, शरय अर्थात् सरयू और मही (मण्डक) आदि सभी नदियाँ महासमुद्र को प्राप्तकर अपने नाम-गोत्र आदि को छोड़ देती हैं<sup>९३</sup> और उनका एक नाम हो जाता है— महासमुद्र; उसी प्रकार भिन्न-भिन्न जातियाँ जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि संघ में मिलकर एकरूप हो जाती हैं तथा उनका एक ही नाम रह जाता है - श्रामणेय, भिक्षु। लेकिन जातक में कहा गया है कि विद्यालयों में चाण्डालों का प्रवेश वर्जित था। जिन विद्यालयों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, दर्जी, मछेरों आदि को शिक्षा दी जाती थी उन विद्यालयों में चाण्डालों को शिक्षा नहीं दी जाती थी।<sup>९४</sup>

### प्रव्रज्या के लिए अयोग्य विद्यार्थी

‘विनयपिटक’<sup>९५</sup> में प्रव्रज्या के लिए अयोग्य व्यक्तियों के एकतीस लक्षणों को बताया गया है। इसके आधार पर प्रव्रज्या संस्कार के लिए योग्य विद्यार्थियों के स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है—

- (१) जिसके हाथ कटे हों।
- (२) जिसके पैर कटे हों।
- (३) जिसके हाथ और पैर दोनों कटे हों।
- (४) जिसके कान कटे हों।

- (५) जिसकी नाक कटी हो।
- (६) जिसके नाक और कान दोनों कटे हों।
- (७) उँगली कटी हो।
- (८) जिसकी अंगुलियों का अग्र भाग कटा हो।
- (९) जिसकी अंगुलियों की पोर कटी हो।
- (१०) जिसके पास सभी अंगुलियों का अभाव हो अर्थात् जिसका हाथ सर्प की फण जैसा हो।
- (११) जो कुबड़ा हो।
- (१२) बौना हो।
- (१३) घेघ से ग्रसित हो।
- (१४) जो लक्षणाहत हो अर्थात् जिसको सजा रूप में आग से दागा गया हो।
- (१५) जिसको कोड़े से मारा गया हो।
- (१६) जो लिखितक हो।
- (१७) जो सीपदि रोग से ग्रसित हो।
- (१८) बुरे रोग वाला हो।
- (१९) परिषद् दूषक हो।
- (२०) जो एक आँख से देखता हो अर्थात् काना हो।
- (२१) लूला हो।
- (२२) लंगड़ा हो।
- (२३) जो पक्षाघात करता हो।
- (२४) जिसमें अच्छे रहन-सहन का अभाव हो।
- (२५) जो बुढ़ापे के कारण कमजोर हो गया हो।
- (२६) जो नेत्रहीन हो।
- (२७) गूँगा हो।
- (२८) बहरा हो।
- (२९) जो अन्धा और गूँगा हो।

(३०) जो अंधा और बहरा हो, और

(३१) जो गूंगा और बहरा हो।

उपर्युक्त अयोग्यताओं का जिन विद्यार्थियों में अभाव होता था वे प्रव्रज्या संस्कार ग्रहण करने के अधिकारी होते थे।

### उपसम्पदा संस्कार

श्रामणेर जब दस शील के आचरण में अभ्यस्त हो जाता था तब उसे भिक्षु पद की दीक्षा दी जाती थी। यह दीक्षा ही उपसम्पदा संस्कार है। यह बौद्ध शिक्षा-प्रणाली का अन्तिम संस्कार है जो प्रव्रज्या के पाँच वर्ष बाद अर्थात् जब विद्यार्थी २० वर्ष का हो जाता था तब सम्पादित होता था। इस संस्कार के उपरान्त ही भिक्षु अपनी सदस्यता को प्राप्त किया हुआ समझा जाता था। प्रव्रज्या संस्कार तो केवल अल्पकाल के लिए होता था लेकिन उपसम्पदा संस्कार जीवन भर के लिए। बौद्ध धर्म के अनुसार उपसम्पदा संस्कार होने पर श्रमण पक्का भिक्षु हो जाता है। गृहस्थी तथा सांसारिकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है।

### संस्कार की विधि

इस संस्कार के सम्पादन की विधि को बताते हुए कहा गया है- उपसम्पदा संघ के विशिष्ट योग्यता प्राप्त भिक्षुओं के समक्ष होता था, जहाँ वह उपाध्याय का चुनाव कर संघ से उपसम्पदा की याचना करता था। उपसम्पदापेक्षी संघ के पास जाकर दाहिने कंधे को खोल, एक कंधे पर उत्तरासंघ अर्थात् उपरना को करके भिक्षुओं के चरणों में वन्दना कर, उकड़ूँ बैठकर, हाथ जोड़कर ऐसा कहता था- 'भन्ते! संघ से उपसम्पदा पाने की इच्छा करता हूँ, भन्ते! संघ दया करके मेरा उद्धार करो।' <sup>१६</sup> यह उक्ति तीन बार कही जाती थी। तत्पश्चात् संघ का एक भिक्षु श्रमण का परिचय करवाते हुए संघ को सम्बोधित करता था- 'भन्ते! संघ मेरी सुने। अमुक (उपसम्पदापेक्षी का नाम) नामवाला, अमुक नामवाले भिक्षु को उपाध्याय बना, अमुक नामवाले आर्यभान का शिष्य, अमुक नामवाला यह पुरुष उपसम्पदा चाहता है। यदि संघ उचित समझे तो अमुक नाम को अमुक नाम के उपाध्याय के उपाध्यायत्व में उपसम्पदा करो।' <sup>१७</sup> तब संघ के श्रेष्ठ भिक्षु उपसम्पदापेक्षी से तेरह प्रकार के प्रश्न पूछते थे जो इस प्रकार हैं - क्या तुम इन तेरह बीमारियों से मुक्त हो?— (१) कोढ़, (२) गण्ड- एक प्रकार का बुरा फोड़ा, (३) विलास- एक प्रकार का बुरा चर्मरोग होता है, (४) शोथ, (५) मृगी, (६) तू मनुष्य है, (७) तू पुरुष है, (८) तू स्वतन्त्र है, (९) तू उच्छ्रित है, (१०) तू राजनैतिक तो नहीं है, (१०) तुझे माता-पिता से अनुमति प्राप्त है, (१२) तू पूरे बीस वर्ष का

है, (१३) तेरे पास पात्र-चीवर पूर्ण हैं, तेरा नाम क्या है? तेरे उपाध्याय का नाम क्या है? इत्यादि। इन दोषों से रहित श्रमण को ही उपसम्पदा संस्कार दिया जाता था।<sup>१८</sup>

उपर्युक्त क्रियाओं के पूर्ण हो जाने के बाद ही संघ यह निर्णय करता था कि नवशिष्य उपसम्पदा प्राप्त करने के योग्य है अथवा नहीं।

उपसम्पदा प्राप्त करने के पश्चात् भिक्षु को कुछ नियमों का पालन करना पड़ता था, जो निम्नलिखित हैं<sup>१९</sup>—

- (१) भोजन के लिए भिक्षा मांगना।
- (२) फटे-चीथरे कपड़ों से बनाये वस्त्र धारण करना। अपवाद रूप में अलसी के छाल का वस्त्र, कौशेय अर्थात् रेशमी वस्त्र, कम्बल तथा भांग की छाल का वस्त्र भी धारण करने का विधान था।

(३) वृक्ष के नीचे निवास करना।

(४) गोमूत्र को औषधि के रूप में प्रयुक्त करना।

इनके अतिरिक्त चार अकरणीय कर्म बतलाये गये हैं<sup>१००</sup>—

- (१) उपसम्पन्न भिक्षु को मैथुन से दूर रहना चाहिए।
- (२) चोरी समझी जानेवाली किसी भी वस्तु को चाहे वह तृण की शलाका ही क्यों न हो, नहीं लेनी चाहिए।
- (३) उपसम्पदा प्राप्त भिक्षु को जानबूझ कर हिंसा नहीं करनी चाहिए, चाहे वह चींटा-माँटा ही क्यों न हो। अभिप्राय है कि किसी भी प्रकार की जीव हिंसा नहीं करनी चाहिए।
- (४) अलौकिक तथा दिव्यशक्तियों को अपने में बतलाने से दूर रहना चाहिए। जो भिक्षु अविद्यमान, असत्य, दिव्यशक्ति, ध्यान, विमोक्ष, समाधि, समापत्तिमार्ग या फल को अपने में बतलाता है वह अश्रमण, अशाक्यपुत्रीय होता है।

### उपसम्पदा के लिए अयोग्य विद्यार्थी

बौद्ध परम्परा में निम्नलिखित लक्षणों से युक्त व्यक्तियों को उपसम्पदा के लिए अयोग्य समझा जाता है<sup>१०१</sup>—

- (१) पण्डक अर्थात् हिजड़ा।
- (२) चोरी से काषाय वस्त्र धारण करनेवाला।



- (३) दूसरी योनिवाला प्राणी।
- (४) माता, पिता तथा अर्हत् का घातक।
- (५) स्त्री-पुरुष दोनों लिंगवाला व्यक्ति।
- (६) जो पात्र रहित हो।
- (७) जो चीवर रहित हो।
- (८) जो पात्र और चीवर दोनों रहित हो।
- (९) जो दूसरे से पात्र मांगकर ले आया हो।
- (१०) जो दूसरे से चीवर मांग लाया हो।
- (११) जो मुफ्त के पात्र और चीवर दोनों धारण किये हो।

प्रव्रज्या संस्कार पन्द्रह वर्ष की आयु में तथा उपसम्पदा बीस वर्ष की आयु में सम्पन्न होता था। प्रव्रज्या को प्रत्येक बौद्ध के लिए मोक्षदायक माना गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रव्रज्या प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए थी। 'जातकों' में ऐसा उल्लेख मिलता है कि राजकुमारों की शिक्षा सोलह वर्ष की उम्र में पूर्ण हो जाती थी।<sup>१०२</sup> डॉ० सिंह ने बौद्ध शिक्षा-व्यवस्था की विशेषता बताते हुए लिखा है - बुद्ध के समय की यह विशेषता देखने को मिलती है कि सामान्यतया १६-१८ वर्ष की उम्र में व्यक्ति अपना अध्ययन समाप्त करके गृहस्थ बन जाते थे, जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक होते थे, जिनका उद्देश्य किसी विषय में विशेष योग्यता प्राप्त करने की रहती थी, वे किसी प्रमुख शिक्षण केन्द्र में चले जाते थे।<sup>१०३</sup> तक्षशिला में उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी और वय प्राप्त होने अथवा सोलह वर्ष की आयु हो जाने पर ही विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिये जाते थे।<sup>१०४</sup>

### शिक्षार्थी के लक्षण

'मिलिन्दप्रश्न'<sup>१०५</sup> में शिक्षार्थी (श्रमण) के बीस लक्षण बताये गये हैं—

- (१) अरण्य, वृक्षमूल तथा शून्यागार - इन तीन श्रेष्ठ भूमियों में वास करना।
- (२) सभी प्रकार की अच्छी बातों में आगे रहना।
- (३) अच्छे नियमों में प्रतिष्ठित रहना।
- (४) सदाचारी होना।
- (५-६) शान्त-दान्त होकर विहार करना।

- (७) संयमी होना।
- (८) क्षान्ति (क्षमा) से युक्त होना।
- (९) सूरत अर्थात् सहृदय तथा कृपालु होना।
- (१०) श्रेष्ठ आचार-विचार का होना।
- (११) ऊँची और पवित्र इच्छाओं वाला होना।
- (१२) विवेकशील होना।
- (१३) पाप कार्यों से लज्जा एवं भय होना।
- (१४) वीर्यवान होना।
- (१५) अप्रमादी अर्थात् लापरवाह न होना।
- (१६) शिक्षापदों की आवृत्ति में सदैव उत्साहशील रहना।
- (१७) धर्म की आवृत्ति में सदैव उत्साहशील रहना।
- (१८) शीलों के पालन में तत्पर रहना।
- (१९) तृष्णा पर विजय पाने वाला होना।
- (२०) शिक्षा पदों को पूरा करने वाला, इत्यादि।

### विनय एवं अविनय के फल

विनय को शिक्षार्थी का आवश्यक गुण माना गया है। बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों तथा उपासक-उपासिकाओं के आचार का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि साधक शील, समाधि और प्रज्ञा के क्षेत्र में जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते थे विनम्रता भी उतनी ही गम्भीर होती जाती थी। इसी प्रकार अविनय का फल बताते हुए 'उपाहन जातक' में कहा गया है कि जिस प्रकार सुख के लिए खरीदा गया जूता पैरों को काट खाता है, उसी प्रकार अविनीत शिष्य के लिए सुख लाभ के लिए सीखी गयी विद्या विनाश का कारण बनती है।<sup>१०६</sup>

### शिक्षार्थी के कर्तव्य

आचार्य (गुरु) के प्रति शिष्य के शारीरिक और नैतिक दोनों ही कर्तव्य बनते हैं और इन कर्तव्यों का उल्लेख 'विनयपिटक' में विस्तृत रूप में मिलता है जो निम्नलिखित है<sup>१०७</sup>—

- (१) सर्वप्रथम समय से उठकर, जूता छोड़कर उत्तरासंग को एक कंधे पर रख गुरु

को दातून तथा मुख धोने के लिए जल देना।

- (२) उनके बैठने के लिए आसन बिछाना।
- (३) यदि भोजन में खिचड़ी है तो पात्र धोकर देना तथा खाने के पश्चात् पात्र को बिना धोकर रख देना।
- (४) गुरु के उठ जाने पर आसन को उठाकर रखना।
- (५) यदि वह स्थान जहाँ उपाध्याय ने भोजन ग्रहण किया है, मैला हो तो झाड़ू लगाना।
- (६) यदि गुरु गाँव में जाना चाहें तो वस्त्र, चीवर, कमरबन्द, संघाटी अर्थात् दोहरा चीवर तथा पानी भरा पात्र देना।
- (७) यदि गुरु अनुगामी भिक्षु चाहते हैं तो तीन स्थानों को ढाँकते हुए घेरादार चीवर पहन, कमरबन्द बाँध, चौपेती संघाटी पहन, मुट्ठी बाँध तथा धोया हुआ पात्र लेकर उनका अनुचर बनना।
- (८) गुरु से न तो बहुत दूर होकर चलना न बहुत समीप होकर।
- (९) पात्र में मिली भिक्षा को ग्रहण करना।
- (१०) गुरु से बात करते समय बीच-बीच में बात नहीं करना।
- (११) गुरु अगर सदोष बोल रहे हों तो मना करना।
- (१२) लौटते समय पहले आकर आसन बिछाना, पादोदक अर्थात् पैर धोने का जल, पाद-पीठ, पादकठली (पैर घिसने का साधन) आदि रख देना।
- (१३) गुरु के आने पर आगे बढ़कर उनके हाथ से पात्र, चीवर आदि लेना।
- (१४) पहले का वस्त्र लेकर दूसरा वस्त्र देना।
- (१५) यदि चीवर में पसीना लगा हो तो थोड़ी देर धूप में सुखा देना।
- (१६) धूप में चीवर को नहीं डालना।
- (१७) पुनः चीवर बटोर लेना।
- (१८) यदि भिक्षात्र है और उपाध्याय भोजन करना चाहते हों तो पानी देकर भोजन देना।
- (१९) गुरु को पानी के लिए पूछना।

- (२०) भोजन कर लेने पर पानी देकर पात्र को झुकाकर अच्छी तरह धो-पोंछ कर मुहूर्त भर धूप में सुखाना।
- (२१) पात्र को धूप में अधिक समय तक नहीं डालना।
- (२२) यदि गुरु स्नान करना चाहें तो उन्हें स्नान कराना।
- (२३) यदि गुरु स्नानागार में जाना चाहें तो स्नान-चूर्ण ले जाना, मिट्टी भिगोना, स्नानागार के पीढ़े को लेकर उनके पीछे-पीछे जाना, पीढ़े को देकर तथा चीवर लेकर एक ओर रखना, स्नान चूर्ण देना, मिट्टी देना तथा शरीर मलना आदि।
- (२४) गुरु के नहाने के पूर्व ही अपनी देह को पोंछ-सुखाकर तथा कपड़ा पहन कर गुरु के शरीर से पानी पोंछना, वस्त्र देना तथा संघाटी देना।
- (२५) स्नानागार का पीढ़ा लेकर, पहले आकर आसन बिछाना।
- (२६) जिस उद्यान में गुरु विहार करते हैं, यदि वह मैला है तो समर्थ होने पर उसे साफ करना।
- (२७) उद्यान साफ करने से पहले पात्र, चीवर आदि निकालकर एक ओर रख देना।
- (२८) गद्दा, चादर तथा तकिया एक ओर निकाल कर रखना।
- (२९) चारपाई खड़ी करके दरवाजे से बिना टकराये लेकर एक ओर रखना।
- (३०) पीढ़े को खड़ा करके दरवाजे में बिना टकराये चारपाई के पावे के ओट में पौदान को एक ओर रखना, सिरहाने का पटरा एक ओर रखना।
- (३१) यदि विहार में जाला लगा हो तो उल्लोक (उर्ध्वलोक) पहले साफ करना।
- (३२) अंधेरे कोने को साफ करना।
- (३३) यदि भूमि मलिन होकर काली हो गयी हो तो कपड़ा भिंगोकर रगड़कर साफ करना जिससे धूल के कारण खराब न हो जाये।
- (३४) कूड़े को ले जाकर एक तरफ फेंकना।
- (३५) फर्श को धूप में सुखाकर फटकारकर लाना और पहले की भाँति बिछा देना।
- (३६) चारपाई को धूप में सुखाकर साफकर पुनः निश्चित स्थान पर रखना।
- (३७) गद्दा, चादर धूप में सुखाकर, साफकर, फटकारकर बिछाना।
- (३८) पीकदान सुखाकर-साफकर यथास्थान रखना।

- (३९) यदि धूल लिये हुए पुरवा हवा चल रही हो तो पूर्व की खिड़कियाँ बन्द कर देना।
- (४०) यदि जाड़े का दिन हो तो दिन में खिड़की खुला रखकर रात को बन्द कर देना।
- (४१) यदि गर्मी का दिन हो तो दिन को खिड़की बन्द कर रात को खोल देना।
- (४२) आंगन मैला हो, अग्निशाला मैली हो तथा शौचालय गंदा हो तो साफ करना।
- (४३) यदि पानी न हो तो पानी भरकर रखना।
- (४४) यदि शौचालय की मटकी में जल न हो तो भरकर रखना।
- (४५) यदि गुरु के मुख पर उदासी छायी हो तो उसे हटाना या उनसे धार्मिक कथा करना।
- (४६) गुरु को यदि शंका उत्पन्न हुई हो तो उसे दूर करना या उनसे धार्मिक कथा करना।
- (४७) गुरु में किसी विषय के प्रति उल्टी धारणा उत्पन्न हुई हो तो उसे छुड़ाना या छुड़वाना या धार्मिक कथा करना।
- (४८) यदि गुरु ने परिवास दण्ड देने योग्य बड़ा अपराध किया हो तो संघ को सूचित करना जिससे संघ उपाध्याय को परिवास दे सके।
- (४९) यदि उपाध्याय दोष के कारण मूलाय-प्रतिकर्षण के योग्य हो तो शिष्य को कोशिश करनी चाहिए जिससे संघ उपाध्याय का मूलाय-प्रतिकर्षण करे।
- (५०) यदि उपाध्याय मानवत्व के योग्य हों, आह्वान के योग्य हों और संघ उनको तज्जनीय, नियस्स, पब्बाजनीय, परिसारणीय या उरक्षेपणीय कर्मदण्ड देना चाहे तो प्रयत्न करना चाहिए जिससे कि संघ उपाध्याय को दण्डित न कर सके या हलका दण्ड दे।
- (५१) यदि संघ ने उपाध्याय को तज्जनीय, नियस्स, पब्बाजनीय, परिसारणीय या उरक्षेपणीय दण्ड दिया हो तो उन्हें समझाना चाहिए जिससे उपाध्याय ठीक से रहें, लोभ मिटा दें, निस्तार के अनुकूल बर्ताव करें जिससे कि संघ उनके दण्ड को माफ कर दे या कम कर दे।
- (५२) यदि उपाध्याय का चीवर धोने लायक है तो उनका चीवर धोना चाहिए।
- (५३) यदि उपाध्याय का चीवर बनाने तथा रंगने लायक हो तो वैसा करना।

- (५४) चीवर को रंगते समय अच्छी तरह से उलट-पुलट कर रंगना जिससे कहीं खाली न छूट जाये।
- (५५) उपाध्याय की आज्ञा के बिना न किसी को पात्र देना न किसी का पात्र ग्रहण करना, न किसी को चीवर देना और न किसी से लेना, न किसी को परिष्कार अर्थात् उपयोगी सामान देना और न किसी से लेना, न किसी के बाल काटना न किसी के कटवाना, न किसी का देह घसना न किसी से घसवाना, न किसी की सेवा करना और न किसी से करवाना, न किसी के पीछे चलनेवाला भिक्षु बनना और न किसी को बनाना, न किसी का भिक्षान्न लेना और न किसी से दिलवाना आदि।
- (५६) उपाध्याय से पूछे बिना न किसी के गाँव जाना, न साधना के लिए श्मशान जाना, न किसी दिशा की ओर चल देना।
- (५७) यदि उपाध्याय अस्वस्थ हों तो उनके स्वस्थ होने की प्रतीक्षा करना , यदि स्वस्थ न हो पायें तो जीवनभर उनकी सेवा करना।

इत्सिंग ने भी शिक्षार्थियों के कर्तव्यों तथा अनुशासन के नियमों का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि सद्धिविहारिक रात्रि के पहले और अन्तिम प्रहर में गुरु के पास जाता था। वह उपाध्याय के शरीर पर मालिश करता, उनके कपड़ों की तह करता और कभी-कभी उनकी कोठरी और आँगन में झाड़ू भी लगाता था। पानी को भली-भाँति देखकर कि उसमें कीटाणु तो नहीं हैं, वह उपाध्याय को देता था। प्रतिदिन उपाध्याय के स्वास्थ्य के बारे में पूछता था। फिर वह अपने गुरुजनों को प्रणाम करने के लिए उनके कमरों में जाता था। इसके बाद वह धर्मग्रन्थों का अध्ययन करता था और जब उपाध्याय उसे भोजन करने की अनुमति देते थे तब वह भोजन करता था।<sup>१०८</sup>

### शिक्षार्थी के प्रकार

बौद्ध ग्रन्थों में शिक्षार्थी के लिए शिष्य<sup>१०९</sup> सद्धिविहारिक,<sup>११०</sup> ब्रह्मचारी,<sup>१११</sup> श्रमण, श्रामणेय,<sup>११२</sup> समिधाहारक,<sup>११३</sup> अन्तेवासी<sup>११४</sup> आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। बौद्ध विहारों में सद्धिविहारिकों के अतिरिक्त अन्य दो प्रकार के विद्यार्थी भी होते थे<sup>११५</sup> जिनमें माणवकों की अधिक चर्चा मिलती है।<sup>११६</sup> माणवक वे विद्यार्थी कहलाते थे जो भविष्य में दीक्षा प्राप्त करने की इच्छा से बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। इनकी तीन कोटियाँ बतायी गयी हैं।<sup>११७</sup> सद्धिविहारिक वे भिक्षु होते थे जो बौद्ध-ग्रन्थों का आवश्यक ज्ञान प्राप्त करके अपनी आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते थे।<sup>११८</sup> सद्धिविहारिक शब्द 'सद्धि' और 'विहरक' के संयोग से बना है। सद्धि का

अर्थ होता है एक साथ और विहरक का अर्थ होता है 'वास करना'। सहवासी बन्धु, भिक्षु, शिष्य आदि को सद्धिविहारिक कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने उपाध्याय तथा साथ पढ़नेवाले श्रमणों के साथ रहने के कारण सद्धिविहारिक नाम दिया गया हो। ब्रह्मचारी की कोटि में वे विद्यार्थी आते थे जो धर्मेतर ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। लेकिन भविष्य में भिक्षु बनने का उनका कोई विचार नहीं होता था।<sup>११९</sup> सद्धिविहारिकों के भरण-पोषण का व्यय संघ वहन करता था तथा माणवकों और ब्रह्मचारियों को अपना सभी प्रकार का व्यय स्वयं वहन करना पड़ता था। इससे यह ज्ञात होता है कि बौद्ध शिक्षा-प्रणाली में तीन प्रकार के विद्यार्थी स्वीकार किये गये हैं— सद्धिविहारिक, माणवक और ब्रह्मचारी।

### तुलना

जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में कुछ निम्नलिखित समानताएँ तथा विषमताएँ देखने को मिलती हैं—

- (१) दोनों ही परम्पराओं में अध्ययन काल आठ वर्ष ही मान्य है।
- (२) दोनों ही परम्पराओं में शिक्षारम्भ के मौके पर बालकों को फल आदि खाद्य सामग्री देने का विधान है, परन्तु बौद्ध-परम्परा में इनके साथ हिरण्य, सुवर्ण आदि भी देने का उल्लेख मिलता है।
- (३) जैन परम्परा में शिक्षारम्भ के समय वाग्देवी की प्रतिमा के पूजन का भी विधान है जबकि बौद्ध परम्परा में यह देखने को नहीं मिलता है।
- (४) दोनों परम्पराओं में गुरु को वस्त्राभूषण आदि दान में दिये जाने का विधान है, परन्तु जैन परम्परा में इससे भी ऊँचे दान का वर्णन आया है। कहा गया है -कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य के लिए जीवन भर तथा उनके पुत्र-पौत्र तक चलने वाली आजीविका का प्रबन्ध करना चाहिए।
- (५) जैन परम्परा में चार प्रकार के संस्कार लिपि, उपनीति, व्रतचर्या और व्रतावरण क्रिया स्वीकार किये गये हैं। लिपि संस्कार की आयु पाँच वर्ष मानी गयी है। अतः कहा जा सकता है कि जैन शिक्षा का प्रारम्भ पाँच वर्ष की आयु से ही हो जाता था। जैन शिक्षा में उपनीति क्रिया से पूर्व लिपि संस्कार द्वारा शिक्षारम्भ कराये जाने का विधान था जबकि बौद्ध शिक्षा के अन्तर्गत प्रव्रज्या के पश्चात् शिक्षारम्भ कराये जाने का वर्णन है। यह जैन एवं बौद्ध शिक्षा-पद्धति का मूल अन्तर है।

- (६) यद्यपि दोनों ही परम्पराओं में विनय और सदाचार से शिक्षार्थी की योग्यता निर्धारित की गयी है लेकिन बौद्ध परम्परा में पितृहन्ता, मातृहन्ता या अर्हत्हन्ता को प्रव्रज्या संस्कार से वंचित किया गया है। जहाँ तक शिक्षार्थी के कर्तव्यों की बात है तो दोनों ही परम्पराओं में विस्तार से वर्णन किया गया है।
- (७) जैन परम्परा में चौदह प्रकार के शिक्षार्थी बताये गये हैं जबकि बौद्ध परम्परा में मुख्य रूप से तीन प्रकार के शिक्षार्थियों का वर्णन आया है। प्रकारों के इस अन्तर के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में शिक्षार्थी के गुण-अवगुण के आधार पर उसके प्रकार निर्धारित किये गये हैं, जबकि बौद्ध परम्परा में शिक्षार्थी के उद्देश्य के आधार पर उसके भेद-विभेद किये गये हैं।
- (८) बौद्ध परम्परा में विकलांगों को प्रव्रज्या से वंचित किया गया है। ऐसा उद्धरण जैन परम्परा में नहीं मिलता है।

### सन्दर्भ :

१. 'जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन', पृ०-४२.
२. 'संस्कृत शब्दार्थ कोश'
३. 'कल्पसूत्र टीका', ५, १२०
४. 'भगवतीसूत्र', भाग ४, ११/११/४०५.
५. 'राजप्रश्नीयसूत्र', मधुकर मुनि, ४०९.
६. 'भगवती' (अभयदेववृत्ति), ११/११/४२९, पृ०-९९९.
- ७-८. ततोऽस्य पंचमे वर्षे प्रथमाक्षरदर्शनि। ज्ञेयः क्रियाविधिर्नाम्ना लिपिसंख्यान संग्रहः। 'आदिपुराण', ३८/१०२.
९. ततो भगवतो वक्त्रात्रिःसृतामक्षरावलीम् ।  
सिद्धं नम इति व्यक्तमङ्गलां सिद्धमातृकाम ॥  
अकारादिहकारान्तां शुद्धामुक्तावलीमिव ।  
स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीम् ॥ वही, १६/१०५-१०६.
१०. क्रियोपनीतिर्नामास्य वर्षे गर्भाष्टये मता।  
यत्रापनीतकेशस्य मौञ्जी सव्रतबन्धना॥ वही, ३८/१०४.
११. शिखी सितांशुकः सान्तर्वासा निर्वेषविक्रियः।  
व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ॥  
चरणो चितमन्यच्च नामधेयं तदस्य वै।  
वृत्तिश्च भिक्षयाऽन्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात्॥  
सोऽन्तःपुरे चरेत् पात्र्यां नियोग इति केवलम्।  
तदग्रं देवसात्कृत्य ततोऽन्नं योग्यमाहरेत्॥ वही, ३८/१०६-१०८



१२. वही, ३८/११०-११३.
१३. वही, ३८/१२३-१२४.
१४. मधुमांसपरित्यागः पंचोदुम्बरवर्जनम्।  
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात् सार्वकालिकम्। वही, ३८/१२२.
१५. आणानिदेसकरे गुरुणमुववायकारए।  
इंगियागारसंपन्ने, से 'विणीए' ति वुच्चई॥  
आणाडऽनिदेसकरे गुरुणमणुववायकारए।  
पडिणीए असंबुद्धे, 'अविणीए' ति वुच्चई॥ 'उत्तराध्ययन', १/२-३
१६. वही, १०/११-१३
१७. अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले ति वुच्चई।  
अहस्सिरे सया दन्ते, न य मम्ममुदाहरे॥  
नासीले न विसीले, न सिया अडलोलुए।  
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले ति वुच्चई॥ वही, ११/४-५
१८. 'आवश्यकनिर्युक्ति', २२.
१९. शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।  
स्मृत्यूहापोहनिर्णीतीः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः॥ 'आदिपुराण', १/१४६
२०. अह चउदसहिं ठाणेहिं वट्टमाणे उ संजए।  
अविणीए वुच्चई सो उ निव्वाणं च न गच्छइ॥  
अभिकखणं कोही हवइ पबन्ध च पकुव्वई।  
मेत्तिज्जमाणो वमइ सुयं लद्धूण मज्जई॥  
अवि पावपरिक्खेवी अविमित्तेसु कुप्पई।  
सुप्पियस्सावि मित्तस्स रहे भासइ पावगं॥  
पइण्णवाई दुहिले थद्धे लुद्धे अण्णिगगे॥  
असंविभागी अचियते अविणीए ति वुच्चई॥ 'उत्तराध्ययन', ११/६-९
२१. सो वि अन्तरभासिल्लो दोसमेव पकुव्वई।  
आरियाणं तं वयणं पडिकूलेइ अभिकखणं॥  
न सा ममं वियाणाइ न वि सा मज्झ दाहिई।  
निगगया होहिई मन्ने साहू अन्नोऽत्थ वच्चउ॥  
पेसिया पलिउंचन्ति ते परियन्ति समन्तओ।  
रायवेड्ढिं व मन्नन्ता करेन्ति भिउडिं मुहे॥ वही, २७/११-१३
२२. भिक्खालसिए एगे, एगे ओभाणभीरुए थद्धे॥ वही, २७/९-१०
२३. वही, २७/४-८
२४. कण-कुण्डगं चइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरो।  
एवं सील चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए॥ वही, १/५.

२५. 'समवायांग', ३३, 'श्रमणसूत्र', ४७६.
२६. 'उत्तराध्ययन', १२/१८-२९
२७. 'उत्तराध्ययन' (टीका) ३/६५
- २८-२९. पुज्जा जस्स पसीयन्ति, संबुद्धापुव्वसंथुया।  
पसन्ना लाभइस्सन्ति, विउलं अट्ठियं सुयं।  
तवोसमायारिसमाहिंसंबुद्धे।  
महज्जुई पंच वयाई पालिया। 'उत्तराध्ययन', १/४६-४७
३०. वहणे वहमाणस्स, कन्तारं अइवत्तई।  
जोए वहमाणस्स, संसारो अहवत्तई। वही, २७/२
३१. वही, १/४५.
३२. जे आयरिय-उवज्झायणं, सुस्सूसा वयणंकरा।  
तेसिं सिक्खापवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा। 'दशवैकालिक' (विनयसमाधि), ९/१२.
३३. आयारमट्ठा विणयं पउंजे, सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं।  
जहोवइड्ढं अभिक्खमाणो, गुहं तु नाऽऽसाययई स पुज्जो। वही, ९/३/२३.
३४. प्राचीनकाल में भारतीय माता-पिता अपनी कन्याओं को बाल्यावस्था में शिक्षा-दीक्षा द्वारा सुयोग्य करते थे और फिर उसका यौवनावस्था में सुयोग्य वर से योग्यकुल में विवाहकर देते थे जिससे उनकी सदाचारी और विदुषी पुत्रियों को किसी प्रकार का दुःख नहीं होता था।
३५. जे माणिया समयं माणयंति, जत्तेण कन्नं व निवेसयंति।  
ते माणए माणरिहे तवस्सी, जिईदिए सच्चरए सपुज्जो। वही, ९/३/१३
३६. राइणिएसु विणयं पउंजे, डहरा वि य जे परियायजेट्ठा।  
नियत्तणे वट्ठइ सच्चवाई, ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो। 'दशवैकालिक', ९/३/३
३७. पगईए मंदा वि भवंति एगेऽहरा वि य जे सुयबुद्धोववेया।  
आयारमंता घुणसुट्ठियप्पा जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा। वही, ९/१/३
३८. न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए। वही, ९/१/७
३९. जो पावगं जलियमवक्कमेज्जा, आसीविदं वा वि दुहु कोवएज्जा।  
जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी, एसोवमाऽऽसायणया गुरुणं। वही, ९/१/६.
४०. जहा सुणी पूर्व-कण्णी निककसिज्जइ सव्वसो।  
एवं दुस्सील-पडिणीए, मुहरी निककसिज्जई। 'उत्तराध्ययन', १/४
४१. खलुंके जो उ जोएइ विहम्माणो किलिस्सई।  
असमाहिं च वेएइ तोत्तओ य से भज्जई। वही, २७/३.
४२. अणासवा थूलवया कुसीला, मिउंपि चण्डं पकरेंति सीसा।  
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया पसायए तेहु दुरासयं पि। वही, १/१३

४३. रमए पण्डिए सासं, हयं भदं वाहए।  
बालं सम्मइ सासन्तो, गलियस्सं व वाहए॥ वही १/३७
४४. वही, २७/१४-१५
४५. नापुटो वागरे किंचि, पुटो वा नालियं वए।  
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा धारेज्जा पियमप्पिय॥ वही, १/१४
४६. वही, १/८-११
४७. पडिणीय च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मणा।  
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि॥ वही, १/१७.
४८. पुच्छज्जा पंजलिउडो किं कायव्वं मए इहं? वही, २६/९
४९. जं मे बुद्धाणुसासन्ति सीएण फरुसेण वा।  
'मम लाभो' ति पेहाए पयओ तं पडिस्सुणे॥ वही, १/२७
५०. 'पुत्तो मे भाय णाइ' ति साहू कल्लाण मन्नई।  
पावदिट्ठी उ अप्पाणं सासं 'दासं व' मन्नई॥ वही, १/३९
५१. मा गलियस्से व कसं वयणमिच्छे पुणो पुणो।  
कसं व दडुमाइण्णे पावगं परिवज्जए॥ वही, १/१२
५२. न कोवए आयरियं अप्पाणं पि न कोवए।  
बुद्धोवधई न सिया न सिया तोत्तगवेसए॥ वही, १/४०
५३. आसणे उवचिट्ठेज्जा, अणुच्चे अकुए थिरे। वही, १/३० तथा  
देखें- दशवैकालिक, ९/२/१७.
५४. न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ। 'उत्तराध्ययन', १/१८.
५५. संघट्ठिता काएणं, तहा उवहिणामवि।  
खमेह अवराहं मे, वइज्ज न पुणो ति या। 'दशवैकालिक', ९/२/१८ तथा  
देखें- 'उत्तराध्ययन', १/१८.
५६. आलवंते लवंते वा, निसिज्जाइ पडिस्सुणे।  
मुत्तूण आसणं धीरो, सुस्सूसाए पडिस्सुणे॥ 'दशवैकालिक', ९/३/२०
५७. नेव पल्हत्थियं कुज्जा पक्खपिण्डं व संजए।  
पाए पसारिए वावि न चिट्ठे गुरुणोन्तए॥ 'उत्तराध्ययन', १/१९
५८. आसण-गओ न पुच्छेज नेव सेज्जा-गओ कया।  
आगम्मुक्कुडुओ सन्तो पुच्छेज्जा पंजलीउडो॥ वही, १/२२
५९. अप्पपुट्टाई निरुट्ठाई निसी एज्जप्पकुक्कुए। वही, १/३०
६०. वही, ३०/३२-३४.
६१. कालं छंदोवयारं च, पडिलेहिताण हेउहिं।  
तेण तेण उवाएणं, तं तं संपडिवायए॥ 'दशवैकालिक', ९/८/२१.

६२. सेलघण कुडग चालिणी, परिपूणग हंस महिस मेसे या  
मसग जलूग बिराली, जाहग गो भेरी आभीरी। 'बृहत् कल्पसूत्र', पीठिका, ३३४।
६३. मृच्चालिन्यजमार्जारशुककङ्कशिलादिभिः।  
गोहंसमहिषच्छिद्रघटदंशजलोककैः॥ 'आदिपुराण', १/१३९
६४. 'महावस्तु', जि० २/४३४/१०
६५. 'सौन्दरनन्द', २/६३
६६. 'ललितविस्तर', पृ०-२४९
६७. वही
६८. बौद्ध साहित्य में ६४ लिपियाँ मानी गयी हैं
६९. लेफमैन, 'ललितविस्तर', १२५/१७
७०. पुरी, 'इण्डिया अण्डर दी कुषाणाज', पृ०-१२७.
७१. वाटर्स, 'ऑन युवानच्यांग ट्रैवेल्स', पृ० १५४-५५, बील १२२
७२. 'इत्सिंग रेकर्ड', पृ०-१७०-१७४.
७३. वही, पृ०-१८४
७४. 'महावस्तु', जि० ३/१५०/१४-१५
७५. 'दिव्यावदान', १६०/२४-३०.
७६. 'महावस्तु', जि० ३/२६४/८-१२
७७. वही, जि० ३/२६५/१३-१४
७८. ततः स कृत्वा मुनये प्रणामं गृहप्रयाणाय मतिं चकार।  
अनुग्रहार्थं सुगतस्तु तस्मै पात्रं ददौ पुषकरपत्रनेत्रः॥ 'सौन्दरनन्द', ५/११
७९. नन्दं ततोन्तर्मनसा रुदन्तम् एहीति वैदेहमुनिर्जगाद।  
शनैस्ततस्तं समुपेत्य नन्दो न प्रव्रजिय्याम्यहमित्युवाच॥ वही, ५/३५
८०. इत्येवमुक्तः स विनायकेन हितैषिणा कारुणिकेन नन्दः।  
कर्तास्मि सर्व्वे भगवन् वचस्ते तथा यथाज्ञापयसीत्युवाच॥ वही, ५/५०
८१. 'अवदान', जि० १/१३६/५.
८२. विनयपिटक, राहुल सांकृत्यायन, पृ०-१२२-१२३.
८३. वही, पृ०-११९; अवदान, जि० १/१३६/५-६; मित्रा, 'ललितविस्तर', २७०/  
१७-१८; 'बुद्धचरित', ६/५७.
८४. 'महावस्तु', जि० ३/१९१/१२.
८५. वही, जि० २/२६३/१६.
८६. वही, जि० ३/२६३/१८.
८७. 'दिव्यावदान', २२/१८.
८८. 'विनयपिटक', पृ०-१२३ तथा 'दिव्यावदान', २९/३०.

८९. वही
९०. 'विनयपिटक', पृ०-१२३
९०. 'महावस्तु', ३/२६८/१०-१३
९१. 'विनयपिटक', पृ०-१२३-२४.
९२. काषायवासाः कनकावदातस्ततः स मुद्दर्ना गुरवे प्रणेमे। 'सौन्दरनन्द', १८/५
९३. 'विनयपिटक', पृ०-५१०-५११.
९४. 'जातक', ४/२४४.
९५. 'विनयपिटक', पृ०-१२९-१३०.
९६. वही, पृ०-१०६
९७. वही, पृ०-१०६
९८. वही, पृ०-१३२
९९. वही, पृ०-१३४-३५
१००. वही, पृ०-१३५
१०१. वही, पृ०-१२५-१२९.
१०२. जातक, १, पृ०-२५९.
१०३. डॉ० मदनमोहन सिंह, 'बुद्धकालीन समाज और धर्म', पृ०-९३.
१०४. 'जातक' १, पृ० ३४१; २, पृ०-५२
१०५. 'मिलिन्दप्रश्न' (अनु०), पृ०-२०१
१०६. 'जातककालीन भारतीय संस्कृति', पृ०-१०५
१०७. 'विनयपिटक', पृ०-१०१-१०३
१०८. 'इत्सिंग रेकर्ड', पृ०-११७-१२०
१०९. 'विनयपिटक', पृ०-१००.
११०. 'इत्सिंग रेकर्ड', पृ०-१८४.
१११. 'करुणापुण्डरीक', ३१/१८, १९, ६०/५
११२. 'विनयपिटक', पृ०-११९, १२०, १२३
११३. 'मिलिन्दप्रश्न' (हिन्दी), पृ०-२०१
११४. 'विनयपिटक', पृ०-१०९
११५. 'प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास', पृ०-२३२.
११६. 'करुणापुण्डरीक', ३१/१८, १९
११७. माणवकानांश्रयः कोटो, वही, ६२/१०.
११८. 'प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास', पृ०-२३२.
११९. वही, पृ०-२३३.



## सप्तम अध्याय

# गुरु-शिष्य सम्बन्ध एवं दण्ड-व्यवस्था

भारतीय समाज में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। देव, गुरु और धर्म में गुरु का पद मध्यस्थ है। वे मध्यवर्ती होकर देव और धर्म की पहचान कराते हैं। अंधेरे में जिस प्रकार व्यक्ति को कोई भी पदार्थ दिखायी नहीं देता है, ठीक उसी तरह अज्ञानरूपी अन्धकार में मनुष्य बिना ज्ञानमय नेत्रों के अपनी आत्मा के निजी गुणों को नहीं पहचान पाता है। व्यक्ति यह भी नहीं जान पाता है कि हेय क्या है? उपादेय क्या है? पाप क्या है? पुण्य क्या है? बन्धन क्या है? मोक्ष क्या है? इन सब सवालों के जवाब के लिए गुरु की आवश्यकता पड़ती है। जहाँ तक गुरु और शिष्य के सम्बन्ध की बात है तो कहा जा सकता है कि एक के बिना दूसरा अपूर्ण है, क्योंकि जब हम 'गुरु' कहते हैं या किसी के द्वारा सुनते हैं तो शिष्य की छवि स्वयमेव सामने आ जाती है और जब विद्यार्थी या शिष्य कहते हैं तो 'गुरु' का स्वरूप स्वभावतः सामने आ जाता है। जब गुरु है तो कोई न कोई उसका शिष्य भी होगा और जब शिष्य है तो कोई न कोई उसका गुरु भी होगा।

तत्कालीन परिस्थितियों के अध्ययन से पता चलता है कि छात्र गुरुकुल में अपने सहपाठियों एवं शिक्षकों के साथ बड़े ही उल्लास के साथ सह-जीवन प्रारम्भ करता था। गुरुकुलों का वातावरण आत्मीयता से ओत-प्रोत होता था। गुरु और शिष्य दोनों निकट सम्पर्क में रहते थे और उनकी यह निकटता एकरसता के भाव को जोड़नेवाली होती थी। 'उपनिषद्' में वर्णित दीक्षान्त सन्देश से प्राचीनकालीन गुरु-शिष्य के सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश पड़ता है-

“तुम सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, जो अध्ययन किया है उसके स्वाध्याय-चिन्तन में कभी लापरवाह मत होना और जीवन में कर्तव्य करते हुए कभी कर्तव्य-अकर्तव्य का प्रश्न तुम्हारे सामने आये, सदाचार और अनाचार की शंका उपस्थित हो तो जो हमने सदाचरण किये हैं, जो हमारा सुचरित्र है, उसी के अनुसार तुम आचरण करते जाना, पर अपने कर्तव्य से कभी मत भटकना।”<sup>१</sup>

उपर्युक्त कथन एक ओर तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था में गुरु के हृदय में शिष्य के प्रति अगाध स्नेह होने का संकेत देता है वहीं दूसरी ओर गुरु के मन में शिष्य के प्रति उच्च आदर्श, प्रेरणा तथा शुभ संकल्पों का अनुपम आदर्श प्रस्तुत करता है। जैन शिक्षा-पद्धति में गुरु-शिष्य-सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए जैन विद्वान् डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ने लिखा है - अध्यापक और विद्यार्थियों के सम्बन्ध प्रेमपूर्ण हुआ करते थे और विद्यार्थी अपने गुरुओं के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान का भाव रखते थे।<sup>२</sup>

जैन ग्रन्थों में मुख्य रूप से तीन प्रकार के आचार्यों (गुरुओं) का वर्णन है- कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य। इन आचार्यों के प्रति शिष्य के कर्तव्य को बताते हुए कहा गया है कि कलाचार्य और शिल्पाचार्य का उपलेपन और सम्मर्दन करना चाहिए, उन्हें पुष्प समर्पित करना चाहिए तथा स्नान कराने के पश्चात् वस्त्राभूषणों से मण्डित करना चाहिए। तत्पश्चात् भोजन आदि कराकर जीवन भर के लिए प्रीतिदान देकर पुत्र-पौत्र तक चलनेवाली आजीविका का प्रबन्ध करना चाहिए। धर्माचार्य को देखकर उनका सम्मान करना चाहिए और उनके लिए भोजन आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।<sup>३</sup> यदि गुरु दुर्भिक्ष प्रदेश में रहते हों तो शिष्य का कर्तव्य है कि उन्हें सुभिक्ष देश में ले जाये, दीर्घकालीन रोग से उन्हें मुक्त करने की चेष्टा करे।<sup>४</sup>

अध्यापक भी विद्यार्थियों के प्रति पूर्ण स्नेह रखते थे। उनके साथ पुत्रवत् व्यवहार करते थे। यदि शिष्य अपने दोषों की स्वयं आलोचना नहीं करता था तो गुरु उसे जबरदस्ती आलोचना करने को बाध्य करते थे। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार माँ अपने रोते हुए बालक को मुँह फाड़कर उसे औषधि पिलाती है, जिससे उसका कल्याण होता है।<sup>५</sup> कुछ विद्यार्थी अध्यापक के घर रहकर पढ़ते थे और कुछ नगर के धनवान् व्यक्तियों के घर अपने रहने-सहने और खाने-पीने का प्रबन्ध कर लेते थे।<sup>६</sup> कभी-कभी विद्यार्थियों का विवाह अपने गुरु की कन्या से ही सम्पन्न हो जाता था। 'उत्तराध्ययन टीका' में ऐसा वर्णन है कि मगध देश के अचल ग्राम में धरणिजड़ नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसके पुत्र का नाम कपिल था। वह रत्नपुर नगर में गया और वहाँ उपाध्याय के घर रहकर विद्याभ्यास करने लगा। कुछ समय व्यतीत होने के बाद गुरु ने अपनी कन्या का उसके साथ विवाह कर दिया।<sup>७</sup>

बौद्ध शिक्षा-पद्धति में भी गुरु-शिष्य-सम्बन्ध मधुर एवं सम थे।<sup>८</sup> गुरु और शिष्य के इस घनिष्ठ सम्बन्ध पर जातकों में वर्णित कथाओं से अत्यधिक प्रकाश पड़ता है। छात्र विद्याध्ययन के लिए उन प्रतिष्ठित आचार्यों के पास जाते थे जिनकी विद्वता की ख्याति चारों ओर व्याप्त थी। विद्यार्थियों का अध्यापक से सीधा सम्बन्ध होता था।

विप्र (गुरु) शिष्यों से घिरे रहते थे।<sup>१०</sup> गुरु की भक्ति और उनकी सेवा समाज में प्रचलित थी।<sup>१०</sup> शिष्य अपने गुरु का आदर करने के साथ ही सेवक की तरह श्रद्धापूर्वक उनका सभी कार्य करते थे।<sup>११</sup> दोनों के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध था, जैसे कोई पुत्र पिता की अर्थी को कन्धा देता है या दास अपने स्वामी की सेवा करता है उसी प्रकार बौद्ध विहारों में छात्र अपने आचार्य की सेवा करते थे।<sup>१२</sup> राजा, माता-पिता तथा देवता की भाँति गुरु का सम्मान करना छात्रों का कर्तव्य था।<sup>१३</sup> प्रातः समय से उठकर आचार्य का अभिवादन करना, सर्वदा उनसे नीचे आसन पर बैठना, भड़कीले वस्त्र न पहनना आदि उनकी शालीनता थी।<sup>१४</sup> अग्निशाला तथा सोने-बैठने के स्थान को ठीक रखना, हाथ-पैर दबाना, पीठ मलना तथा शौच स्थान को स्वच्छ रखना आदि उनके दैनिक कार्य थे।<sup>१५</sup> शिष्य अपने आचार्य के पाँव धाते, उनका छाता, जूता और थैली आदि अपने हाथ में लेकर चलते थे।<sup>१६</sup>

शिष्य गुरु के परिवार के एक सदस्य के रूप में रहते थे।<sup>१७</sup> गुरु के लिए वनों से लकड़ियाँ लाना, गुरु के माता-पिता के भोजन करने के समय पानी का बर्तन ले जाना, थूकने का बर्तन तथा दूसरे पात्र ले जाना तथा पंखा एवं पानी लेकर खड़ा रहना शिष्य अपना कर्तव्य समझते थे। शौच जाते समय परदे की जगह तक पानी का बर्तन लेकर जाते थे। इस प्रकार ये सभी कार्य गुरु के प्रति उनकी (शिष्यों की) कर्तव्यनिष्ठता थी।<sup>१८</sup> गुरु की माँ को नहलाना, खिलाना, हाथ, पैर, सिर और पीठ आदि दबाना रोज का नियम था।<sup>२०</sup>

अध्यापक भी अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। वे अध्यापन के लिए उन्हीं विद्यार्थियों को चुनते थे जो सच्चे, उत्साही और सदाचारी होते थे। छात्र या तो गुरु के घर में रहते थे या उनकी देखरेख में।<sup>२१</sup> विहार में छात्रों को बहुत ही सादा जीवन व्यतीत करना पड़ता था, चाहे वे सम्पन्न परिवार के हों या गरीब परिवार के। 'जातकों' में वर्णन आया है कि सम्पन्न राजकुमार भी आचार्य के निकट सादा जीवन व्यतीत करते थे। आचार्यकुल में उन्हें भी सबके समान सादा भोजन दिया जाता था।<sup>२२</sup> अगर कोई दम्पति उन्हें भोजन पर आमन्त्रित करता था तभी उन्हें दही, दूध आदि से परिपूर्ण स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होता था।<sup>२३</sup>

अध्यापक शिष्य की मदद भी करते थे। वे गरीब विद्यार्थियों से शुल्क नहीं लेते थे। भोजन-वस्त्र आदि जुटाने में भी उनकी मदद करते थे। शिष्य के बीमार होने पर उसकी परिचर्या भी करते थे। इत्सिंग ने लिखा है - छात्र की रुग्णावस्था में अध्यापक पिता की भाँति उसकी चिकित्सा और शुश्रूषा का भार भी वहन करते थे।<sup>२४</sup> गुरु शिष्य के यहाँ भी जाते थे और उनके निवास की पूरी व्यवस्था करते थे। गुरु शिष्यों का



आतिथ्य सत्कार भी करते थे।<sup>२६</sup> पढ़ाते समय कुछ भी छिपाकर नहीं रखते थे, जो कुछ भी आता था सब कुछ बता देते थे।<sup>२७</sup> अध्यापन के साथ-साथ उनके चरित्र पर भी ध्यान रखते थे। उन्हें बताते थे कि कहाँ पर किस प्रकार जाना चाहिए, किस प्रकार आना चाहिए। इसी प्रकार देखना, पहनना, सिकुड़ना, पसरना, ओढ़ना, पात्र लेना, गुजारे भर लेना, प्रत्यवेक्षणा कर भोजन ग्रहण करना, इन्द्रियसंयमी होना, भोजन में मात्रा होना, जागरूक होना, अतिथि कर्तव्य, जानेवाले के प्रति कर्तव्य आदि बातों को सिखलाते थे।<sup>२८</sup> शिष्य आचार्य से एक दूसरे की शिकायत भी करते थे।<sup>२९</sup> कभी-कभी आचार्य बाहर जाते समय योग्य विद्यार्थियों को पढ़ाने का काम सौंप जाते थे। वे शिष्य से कहते थे - जब तक मैं बाहर रहूँ तब तक विद्यार्थियों को पढ़ाना। एक बार गाँव के लोगों ने आचार्य को पाठ करने के लिए निमन्त्रित किया, तब आचार्य ने शिष्य को बुलाकर कहा - मैं नहीं जाऊँगा, तुम इन पाँच सौ ब्रह्मचारियों के साथ वहाँ जाकर पाठ समाप्त होने पर हमारा हिस्सा ले आना।<sup>३०</sup> इससे यह ज्ञात होता है कि बौद्ध शिक्षा में गुरु-शिष्य-सम्बन्ध घनिष्ठ, मधुर तथा अच्छे थे।<sup>३१</sup> गुरु-शिष्य की घनिष्ठता का सबल प्रमाण इससे भी मिलता है कि गुरु योग्य शिष्य से अपनी कन्या का विवाह भी कर देते थे।<sup>३२</sup> कतिपय आचार्यों के परिवारों में यह परम्परा इतनी दृढ़ थी कि शिष्यों को उनकी इच्छा के विपरीत गुरु-कन्याओं का पाणिग्रहण करना पड़ता था।<sup>३३</sup>

गुरु-शिष्य के मधुर सम्बन्धों के बावजूद कहीं-कहीं गुरु और शिष्य के द्वेषपूर्ण सम्बन्धों के उल्लेख भी मिलते हैं, जैसे - कभी-कभी शिष्य गुरुओं को प्रतियोगिता के लिए ललकारते थे। 'जातक' में ऐसा वर्णन मिलता है कि एक शिष्य ने गुरु से मुकाबला कर दिया। यह मुकाबला जनता के सामने हुआ। जनता को फैसला करना था कि गुरु अर्थात् आचार्य अधिक जानते हैं या उनका उदण्ड शिष्य। उस समय आचार्य पद बहुत ऊँचा था। लोगों ने पत्थरों से मार-मार तक उस उदण्ड शिष्य को समाप्त कर दिया।<sup>३४</sup> ऐसे कृतघ्न शिष्य समाज में हेय दृष्टि से देखे जाते थे, किन्तु ऐसे शिष्य अपवाद रूप में मिलते थे।

## तुलना

दोनों परम्पराओं में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में काफी समानता दिखायी पड़ती है। दोनों ही परम्पराओं में गुरु अपने शिष्य से पुत्रवत् व्यवहार करते थे। दोनों परम्पराओं में शिष्य के लिए गुरु माता-पिता आदि से उच्च माने गये हैं। दोनों परम्पराओं में यह भी देखने को मिलता है कि आचार्य लोग योग्य शिष्य से अपनी कन्या का विवाह कर देते थे। एक अन्तर देखने को मिलता है - जैन प्रणाली में आचार्य शिष्य से उनके दोषों की आलोचना जबरदस्ती करवाते थे जिस प्रकार माँ अपने रोते हुए बच्चे को

मुँह फाड़कर दवा पिलाती है जिससे कि बालक का भला होता है किन्तु बौद्ध प्रणाली में यह देखने को नहीं मिलता है। बौद्ध प्रणाली में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध प्रेमपूर्ण होते हुए भी कहीं-कहीं द्वेषपूर्ण देखने को मिलते हैं। जैन शिक्षण-प्रणाली में इस प्रकार की कहीं चर्चा नहीं आती है।

### दण्ड-व्यवस्था

किसी भी संस्था या संगठन को सुचारु रूप से चलाने तथा नियमों को दृढ़तापूर्वक स्थापित करने के लिए दण्ड देने का विधान किया जाता है। जैन एवं बौद्ध शिक्षण-प्रणाली में भी विद्यार्थियों के लिए दण्ड की व्यवस्था थी। वर्तमान में भी यही दण्ड-व्यवस्था है।

जैन शिक्षण-प्रणाली में दो प्रकार के दण्ड निर्धारित किये गये थे—

- (१) लघुमासिक प्रायश्चित्त या उद्धातिक प्रायश्चित्त।
- (२) गुरुमासिक प्रायश्चित्त या अनुद्धातिक प्रायश्चित्त।

#### लघुमासिक प्रायश्चित्त

जो प्रतिसेवना लघु प्रायश्चित्त द्वारा सरलता से शुद्ध की जा सके, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त या उद्धातिक प्रायश्चित्त कहते हैं।

#### गुरुमासिक प्रायश्चित्त

जो प्रतिसेवना गुरु प्रायश्चित्त से कठिनता से शुद्ध की जा सके, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त या अनुद्धातिक प्रायश्चित्त कहते हैं।

जैनधर्म में प्रायश्चित्त के दस प्रकार बताये गये हैं<sup>२५</sup>—

(१) आलोचना— विकृत हुए व्रतों का यथाविधि पालन करते हुए दोषों को गुरु के समक्ष निवेदित करना आलोचना है।

(२) प्रतिक्रमण— कर्तव्य का पालन करते हुए जो भूलें हो जाती हैं, उनके लिए यह कहकर दोष-निवृत्त होना— 'मिच्छामि दुक्कडं' अर्थात् मेरे द्वारा किये गये दुष्कर्म मिथ्या हों। दैनिक क्रियाओं में प्रमाद के कारण दोष लगने पर उसकी निवृत्ति के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक माना गया है।

(३) तदुभय— दोषों के निवारणार्थ आलोचना तथा प्रतिक्रमण दोनों करना तदुभय प्रायश्चित्त है।

(४) **विवेक**— सदोष ज्ञात होने पर ग्रहण किये हुए भोजन-पान का त्याग कर देना विवेक है।

(५) **व्युत्सर्ग**— गमनागमन करते समय, निद्रावस्था में सावद्य स्वप्न आने तथा नदी को नौका आदि से पार करने पर कायोत्सर्ग करना अर्थात् खड़े होकर ध्यान करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है।

(६) **तप**— प्रमाद आदि के कारण किये गये अनाचार पर गुरु द्वारा दिये गये तप को स्वीकार करना तप प्रायश्चित्त है। इसका समय छः मास का होता है।

(७) **छेद**— अनेक व्रतों की विराधना करनेवाले और बिना कारण अपवाद मार्ग का सेवन करनेवाले भिक्षु या भिक्षुणी का दीक्षा-काल कम करना अर्थात् वरीयता कम करना छेद प्रायश्चित्त है।

(८) **मूल**— जान-बूझकर किसी पंचेन्द्रिय प्राणी का घात तथा मृषावाद का सेवन करने पर पूर्व दीक्षा का समूह छेदन करना मूल प्रायश्चित्त है। इस दण्ड के अन्तर्गत साधु-साध्वी को फिर से नवीन दीक्षा लेनी पड़ती है।

(९) **अनवस्थाप्य**— घोर पाप करने पर जिसकी शुद्धि मूल प्रायश्चित्त से भी सम्भव न हो, ऐसी स्थिति में वापस गृहस्थ वेश धारण करके पुनः नवीन दीक्षा लेना अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है।

(१०) **पारांजिक**— ऐसा पाप जिसकी शुद्धि अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त से भी सम्भव न हो। ऐसे घोर पाप करनेवाले को कम से कम एक वर्ष तक तथा ज्यादा से ज्यादा १२ वर्षों तक गृहस्थ वेश धारण कराके श्रमण के सभी व्रतों का पालन करने के पश्चात् जो नवीन दीक्षा ली जाती है, वह पारांजिक प्रायश्चित्त है। यह दण्ड की अन्तिम अवस्था है।

‘तत्त्वार्थसूत्र’ में प्रायश्चित्त के नौ भेदों का वर्णन मिलता है।<sup>३६</sup> वहाँ मूल, अनवस्थाप्य और पारांजिक के स्थान पर परिहार एवं उपस्थापना- इन दो प्रायश्चित्तों का उल्लेख मिलता है। दिगम्बर साहित्य में नौ प्रायश्चित्तों का ही उल्लेख है।<sup>३७</sup>

जैन दण्ड विधान में यदि कोई शिक्षार्थी (भिक्षु) एक ही नियम का बार-बार अतिक्रमण करता है तो उसका प्रायश्चित्त निरन्तर गुरुता को प्राप्त करता जाता है, यथा - जैनधर्म में शिक्षार्थी को दिन में एक बार भिक्षा के लिए जाने का विधान था। यदि वह एक से अधिक बार भिक्षा को जाता था तो उसका दण्ड क्रमशः बढ़ता ही जाता था,<sup>३८</sup> जैसे—

- (क) यदि कोई शिक्षार्थी दिन में दो बार जाता था तो उसके लिए लघु मासिक प्रायश्चित्त के दण्ड का विधान था।
- (ख) यदि कोई शिक्षार्थी तीन बार जाता था तो उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त लगता था।
- (ग) यदि कोई शिक्षार्थी चार बार जाता था तो उसे चातुर्मासिक लघु प्रायश्चित्त था।
- (घ) यदि कोई शिक्षार्थी पाँच बार जाता था तो उसे चातुर्मासिक गुरु प्रायश्चित्त था।
- (ङ) यदि कोई शिक्षार्थी छः बार जाता था तो उसे षट्मासिक लघु प्रायश्चित्त था।
- (च) यदि कोई शिक्षार्थी सात बार जाता था तो उसे षट्मासिक गुरु प्रायश्चित्त था।
- (छ) यदि कोई शिक्षार्थी आठ बार जाता था तो उसे छेद प्रायश्चित्त था।
- (ज) यदि कोई शिक्षार्थी नौ बार जाता था तो उसे मूल प्रायश्चित्त था।
- (झ) यदि कोई शिक्षार्थी दस बार जाता था तो उसे अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त था।
- (ञ) यदि कोई शिक्षार्थी ग्यारह बार जाता था तो उसके लिए पारांजिक प्रायश्चित्त का विधान था।

वर्तमान में भी ये दण्ड-व्यवस्थाएँ जिनशासन में विद्यमान हैं।

### बौद्ध दण्ड-प्रक्रिया

बौद्ध शिक्षण-प्रणाली में नियमों के पालन में शिथिलता या अवहेलना करने पर शिक्षार्थियों को दण्ड देने का विधान था। बौद्ध शिक्षण-प्रणाली में दो प्रकार के दण्ड निर्धारित किये गये थे— (१) कठोर दण्ड, (२) नरम दण्ड।

#### कठोर दण्ड

पारांजिक और संघादिसेस नामक दण्ड कठोर दण्ड के अन्तर्गत आते हैं। इसके दुट्टलापत्ति, गरुकापत्ति,<sup>३९</sup> अदेसनागामिनी आपत्ति,<sup>४०</sup> शुल्लवज्जा आपत्ति,<sup>४१</sup> अनवसेसापत्ति<sup>४२</sup> आदि नाम भी मिलते हैं।

#### नरम दण्ड

पारांजिक एवं संघादिसेस को छोड़कर बाकी सभी दण्ड नरम दण्ड के अन्तर्गत आते हैं। इसके अदुट्टुएलापत्ति, लहुकापत्ति, अशुल्लवज्जा आपत्ति,<sup>४३</sup> सावसेसापत्ति, देसनागामिनी आपत्ति आदि नाम भी हैं।

यद्यपि तथागत ने छोटी-छोटी गलतियों को क्षमा कर देने की सलाह दी थी,

परन्तु उनके परमप्रिय शिष्य आनन्द उन गलतियों को पूछना भूल गये। इसलिए बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् प्रथम बौद्ध संगीति में इस जनापवाद के भय से कि लोग कहीं यह न कहें कि बुद्ध के निर्वाण प्राप्त करते ही संघ छिन्न-भिन्न हो गया इसलिए धर्म एवं संघ की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु संघ-नियमों की कठोरता से पालन करने की प्रतिज्ञा की गयी।<sup>४४</sup>

बौद्ध दण्ड-प्रणाली में जिन अपराधों के कारण शिक्षार्थियों को दण्डित करने का विधान था उसे आपत्ति कहते हैं। शिक्षापदों तथा विभंग के नियमों की अवहेलना करना या उनका अतिक्रमण करना आपत्ति है।<sup>४५</sup>

मुख्य रूप से पाँच प्रकार के दोष माने गये हैं— (१) पारांजिक, (२) संघादिसेस, (३) निस्सग्गिय पाच्चित्तिय, (४) पाच्चित्तिय और (५) पाटिदेसनीय। इनके अतिरिक्त भी तीन प्रकार के दोष मिलते हैं— (१) शुल्लवच्चय, (२) दुक्कट, (३) दुब्भासित। इस तरह बौद्ध परम्परा के अनुसार आठ प्रकार के दोष हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है -

**पारांजिक**— जिन अपराधों को करने से शिक्षार्थी को संघ से निकाल दिया जाता था उसे पारांजिक कहते हैं।<sup>४६</sup> यह सबसे कठोर अपराध माना जाता था। ऐसा दोषी व्यक्ति सत्यपथ से पराजित समझा जाता था।<sup>४७</sup> पारांजिक अपराधी की तुलना उस व्यक्ति से की गई है जिसका सिर काट दिया गया हो, उस मुरझाये पत्ते से की गयी है जो वृक्ष से गिर गया हो, ऐसे पत्थर से की गयी है जो दो भागों में बँट गया हो।<sup>४८</sup>

**संघादिसेस**— इस दोष के लिए कुछ समय का परिवास आदि दण्ड संघ की ओर से दिया जाता था। बहुत एक या अधिक भिक्षु मिलकर इसका निर्णय नहीं कर सकते थे इसलिए इसे संघादिसेस कहा गया।<sup>४९</sup> यह पारांजिक के बाद दूसरा गम्भीर अपराध माना जाता था। प्रायश्चित्त की गुरुता के दृष्टिकोण से यह पारांजिक की श्रेणी में ही आता है। यह दण्ड मुख्य रूप से कामासक्तता, दूसरे पर पारांजिक का दोषारोपण करने, संघ में फूट डालने आदि पर दिया जाता था।

**निस्सग्गिय पाच्चित्तिय**— जिन अपराधों का प्रतिकार संघ, बहुत से भिक्षु या एक भिक्षु के सामने स्वीकार करने से हो जाता था उसे निस्सग्गिय पाच्चित्तिय अर्थात् नैसर्गिक प्रायश्चित्त कहते हैं।<sup>५०</sup> यह दण्ड मुख्य रूप से चीवर तथा पान के सम्बन्ध में दिया जाता था। इस प्रकार के अपराध करनेवाले व्यक्ति को अपने वस्त्रों तथा पात्रों को कुछ समय के लिए त्यागना पड़ता था।

**पाचित्तिय**— अपने अपराधों को संघ या पुग्गल के सम्मुख स्वीकार करने पर इसका निराकरण हो जाता था। भिक्षुओं के लिए ९२ (बानबे) पाचित्तिय दोष तथा भिक्षुणियों के लिए १६६ (एक सौ छियासठ) दोषों का उल्लेख मिलता है।<sup>५१</sup> ऐसा आचरण करनेवाले को धर्म से पतित तथा आर्य-मार्ग का अतिक्रमण करनेवाला माना जाता था।

**पाटिदेसनीय**— पाटिदेसनीय अर्थात् प्रतिदेसना अपराध मुख्य रूप से भोजन आदि खाद्य सामग्री से सम्बन्धित है जिसका निराकरण किसी योग्य भिक्षु के समक्ष अपने अपराध को स्वीकार कर लेने से हो जाता था।

**शुल्लवच्चय**— यद्यपि पातिमोक्ख में इस दण्ड का उल्लेख नहीं है, फिर भी जो आत्महत्या, संघ की शान्ति एवं मर्यादा भंग करने की कोशिश करता था या कोई ऐसी वस्तु चुराता था जिसका मूल्य एक मासक से ज्यादा या पाँच मासक से कम होता था तो वह शुल्लवच्चय का अपराधी<sup>५२</sup> माना जाता था। इसका निराकरण किसी योग्य भिक्षु के सम्मुख अपने अपराधों को स्वीकार करने से हो जाता था। यह पारांजिक तथा संघादिसेस की तरह ही एक गम्भीर अपराध माना जाता था।

**दुक्कट**— छोटे अपराधों पर दोषी शिक्षार्थी को यह दण्ड दिया जाता था,<sup>५३</sup> यथा— मन में बुरी भावना लाने या बुरे कर्मों को करने पर यह दण्ड देने का विधान था। सेखिय नियमों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति इस दण्ड का भागी बनता था। यद्यपि पातिमोक्ख में इस दण्ड की चर्चा नहीं की गयी है।

**दुग्भासित**— यह दण्ड बौद्ध धर्मसंघ या किसी के प्रति कटु या बुरे वचनों का प्रयोग करने पर दिया जाता था।<sup>५४</sup> इस दण्ड का विधान मुख्यतया शिक्षार्थियों को अपनी वाणी पर संयम रखने के लिए किया गया है।

उपर्युक्त विवरण से ऐसा लगता है कि शिक्षार्थी को अपराध की गम्भीरता के अनुसार दण्ड दिया जाता था। विषयों की गम्भीरता के आधार पर कुछ दण्ड-विधान के उदाहरण निम्न हैं—

### चोरी सम्बन्धी दण्ड

**जैनमत**— अपने गच्छ या संघ अथवा दूसरे धर्मावलम्बियों की वस्तु चुराने पर अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का विधान था।<sup>५५</sup>

**बौद्धमत**— किसी वस्तु को बिना दिये हुए ग्रहण करने अथवा चुराने पर पारांजिक प्रायश्चित्त दिया जाता था।

### आहार सम्बन्धी दण्ड

#### जैनमत

- (१) नाव में या जल में बैठकर या खड़े होकर भोजन ग्रहण करने पर चातुर्मासिक उद्धातिक प्रायश्चित्त दण्ड दिया जाता था।<sup>५६</sup>
- (२) अन्य धर्मावलम्बियों से भोजन की याचना करने पर मासिक उद्धातिक अर्थात् लघुमासिक प्रायश्चित्त दण्ड दिया जाता था।<sup>५७</sup>
- (३) स्वादिष्ट भोजन ग्रहण कर खराब भोजन फेंक देने या स्वामी के घर का भोजन ग्रहण करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त दिया जाता था।<sup>५८</sup>
- (४) राजाओं के यहाँ से भोजन की याचना करने या उनके अन्तःपुर के नौकरों, दासों से भोजन माँगने या राजाओं के घोड़े, हाथी आदि का भोजन माँगने पर गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त दिया जाता था।<sup>५९</sup>
- (५) आचार्य या उपाध्याय को दिये बिना भोजन ग्रहण करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त का दण्ड दिया जाता था।<sup>६०</sup>
- (६) गृहस्थ के बर्तन में भोजन करने पर लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त दिया जाता था।<sup>६१</sup>

#### बौद्धमत

- (१) लहसुन का सेवन करने पर पाचित्तिय प्रायश्चित्त का दण्ड दिया जाता था।<sup>६२</sup>
- (२) कच्चे अनाज को माँगकर या भूनकर खाने पर पाचित्तिय प्रायश्चित्त दण्ड दिया जाता था।<sup>६३</sup>
- (३) यदि कोई गृहस्थ भिक्षु को आग्रहपूर्वक पूआ (पाहुर), मंथ (मट्ठा) यथेच्छ प्रदान करे तो इच्छा होने पर पात्र के मेखला तक ग्रहण करे। उससे अधिक ग्रहण करने पर पाचित्तिय दण्ड देने का विधान था।<sup>६४</sup>
- (४) निरोग भिक्षु को एक निवास स्थान में एक ही बार भोजन ग्रहण करने का विधान था। यदि इससे अधिक ग्रहण करता था तो पाचित्तिय दण्ड का भागी होता था।<sup>६५</sup>

### स्वाध्याय-सम्बन्धी दण्ड

#### जैनमत

- (१) अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय और स्वाध्याय काल में अस्वाध्याय करने पर चातुर्मासिक उद्धातिक प्रायश्चित्त दण्ड देने का विधान था।<sup>६६</sup> अस्वाध्याय काल

में प्रातःकाल, सन्ध्याकाल, दोपहर और आधी रात तथा स्वाध्याय काल में दिन और रात्रि का प्रथम तथा चौथा प्रहर आता है।

- (२) आचार्य द्वारा नीचे के (प्रथम के) समवशरणको छोड़कर ऊपर के (अन्य) सूत्र की वाचना पहले देने अर्थात् आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययन को छोड़कर अन्य सूत्र पहले पढ़ावें तो उनके लिए लघु चौमासिक प्रायश्चित्त का विधान था।<sup>६७</sup>
- (३) जो आचार्य या उपाध्याय उन दो शिष्यों, जो सूत्र ग्रहण करने योग्य वय, बुद्धि, विनयादि गुण सम्पन्न हों, में से एक को सूत्र पढ़ाने पर उनके लिये लघु चौमासिक प्रायश्चित्त का विधान था।<sup>६८</sup>
- (४) जो शिक्षार्थी आचार्य, उपाध्याय से बाँचनी लिये बिना अपने मन से शास्त्र की वाचना करने लगता था उसके लिये लघु चौमासिक प्रायश्चित्त का विधान था।<sup>६९</sup>
- (५) जो भावहीन होकर सूत्र का उच्चारण करता था या शब्दों को छोड़कर पढ़ता था उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।<sup>७०</sup>

### बौद्धमत

- (१) जो झूठी विद्याओं को सीखते थे या पढ़ाते थे उन्हें दुक्कट का दोष आता था।<sup>७१</sup>
- (२) धर्म के सार को संक्षिप्त रूप से कहने का विधान होने पर भी जो भिक्षु (शिक्षार्थी) इस नियम का अतिक्रमण करता था तो उसके लिए पाचित्तिय प्रायश्चित्त का विधान था।<sup>७२</sup>
- (३) जो उपदेश सुनने या उपसोथ में नहीं जाते थे उनके लिये पाचित्तिय प्रायश्चित्त का विधान था।<sup>७३</sup>

### तुलना

जैन एवं बौद्ध दण्ड-व्यवस्था के नियमों में काफी समानताएँ दिखायी पड़ती हैं। दोनों ही प्रणालियों में संघ के प्रति किया गया थोड़ा भी अनादर भाव अथवा उसके नियमों की अवहेलना करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। यदि किसी शिक्षार्थी को किसी अपराध के लिये संघ से निकाल दिया जाता था और कोई दूसरा शिक्षार्थी उस अपराधी व्यक्ति का अनुसरण करता था तो वह भी उसी के समान अपराधी समझा जाता था। संघ में प्रवेश के समय दोनों संघों में अत्यन्त सतर्कता रखी जाती थी, क्योंकि दूषित व्यक्ति संघ में अनेक दुराचारों को जन्म दे सकता था। दोनों संघों में शिक्षार्थिनी को परिहार दण्ड देने का निषेध था। सम्भवतः ऐसी उनकी शील सुरक्षा की दृष्टिकोण से किया गया था।



किन्तु दण्ड देने की प्रक्रिया में दोनों शिक्षण प्रणालियों में कुछ अन्तर भी देखने को मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं-

- (१) बौद्ध संघ में सारी प्रक्रिया संघ के समक्ष प्रस्तुत की जाती थी। ज्ञापित की तीन बार वाचना तथा अन्त में धारणा के द्वारा संघ की मौन सहमति को उसकी स्वीकृति जानकर अपराधी को दण्डमुक्त किया जाता था। जैन प्रणाली में ऐसा विधान नहीं पाया जाता है। शिक्षार्थी पूरे संघ के समक्ष वाचना नहीं करता था, बल्कि अपने गच्छ या संघ के पदाधिकारियों के सम्मुख ही निवेदन करता था। यह प्रक्रिया आज भी विद्यमान है।
- (२) जैन प्रणाली में एक ही अपराध करने पर जो दण्ड शिक्षार्थियों के लिए था वही दण्ड शिक्षार्थीनियों को भी दिया जाता था, परन्तु बौद्ध प्रणाली में यह नियम देखने को नहीं मिलता है। वहाँ पुरुष एवं महिला के लिए अलग-अलग विधान थे। पुरुष की अपेक्षा महिला के लिए नियमों की संख्या अधिक थी।
- (३) जैन प्रणाली में एक विशेषता देखने को मिलती है कि उसमें पद के अनुसार दण्ड का विधान है। एक ही अपराध के लिए उच्च पदाधिकारियों को कठोर दण्ड दिया जाता था और निम्न पदाधिकारियों को नरम। बौद्ध प्रणाली में यह बात नहीं मिलती। यहाँ सभी को समान दण्ड दिये जाने का विधान है, चाहे वह अधिकारी हो या सामान्य व्यक्ति। दोनों परम्पराओं की दण्ड-व्यवस्था का यह मूलभूत अन्तर है।
- (४) जैन प्रणाली में दस प्रकार के दोष मान्य हैं, जबकि बौद्ध प्रणाली में आठ प्रकार के।
- (५) जैन प्रणाली में परिस्थितियों के अनुरूप दण्ड दिया जाता था। यदि शिष्य जानबूझ कर अपराध करता था तो उसे गम्भीर (कठोर) दण्ड दिया जाता था तथा वही अपराध अनजाने में अथवा विवशता में हो जाता था तो नरम दण्ड का विधान था। बौद्ध प्रणाली में इस विधान का अभाव पाया जाता है।
- (६) बौद्ध प्रणाली में चाण्डालों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं था, जबकि जैन प्रणाली में चाण्डाल भी श्रमण बन सकता था, जैसा कि 'उत्तराध्ययन' में हरिकेशबल मुनि का वर्णन आता है।

**सन्दर्भ**

१. 'चिन्तन की मनोभूमि', पृ०-३८०.
२. 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज', पृ०-२८७.
३. 'राजप्रश्नीयसूत्र', १९०, पृ०-२३८.
४. 'स्थानांग', ३/१/८७/३
६. 'भगवती आराधना' (मूल), ४७९-४८०
७. 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज', पृ०-२९१.
८. 'उत्तराध्ययन टीका' १८, पृ०-२४३, उद्धृत वही
९. 'सौन्दरनन्द', १८/२-२०.
१०. 'अवदान', जि० १/१०२/३, 'जातक' (अनु० हिन्दी) जि०४, पृ०-२५१.
११. महावस्तु, २/२२५/२.
१२. 'जातक' (अनु० हिन्दी) जि० १, पृ० ४४७, जि० २, पृ०-७८.
१३. प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ०-४५.
१४. वही, पृ०-४४ 'राजवच्च पितृवच्च मातृवच्चाप्रमतः परिचरेता'
१५. वही, पृ०-४४-४५
१६. 'जातक' (अनु० हिन्दी) जि० २, पृ०-१९०-१९१
१७. वही
१८. वही, जि० ४, पृ०-२२५
१९. वही, जि० ४, पृ०-४००
२०. वही, जि० १, पृ०-४१७-१८
२१. वही, जि० २, पृ०-८१-८५.
२२. 'प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति', पृ०-४७.
२३. 'जातक' (अनु० हिन्दी) जि० १, पृ०-४५९.
२४. वही, जि० २, पृ०-७९.
२५. 'इत्सिंग रेकर्ड', पृ०-१२०
२६. जातक (अनु० हिन्दी), जि० ३, पृ०-७.
२७. वही, जि० २, पृ०-४२४
२८. 'प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति', पृ०-४२ तथा 'जातक' (अनु० हिन्दी) जि० ४, पृ०-१४१.
२९. 'जातक' (अनु० हिन्दी) जि० ४, पृ०-१४५-४६
३०. वही, जि० ३, पृ०-३३३.
३१. 'भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास', पृ०-१६६ तथा 'जातक' (अनु० हिन्दी), जि० ३, पृ०-१९९.

३२. 'जातक' (अनु० हिन्दी), जि० ३, पृ०-३८०-८१.
३३. 'प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति', पृ०-४७.
३४. 'जातक' (अनु० हिन्दी), जि० २, पृ०-४५८-४६१ तथा देखें - 'प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति', पृ०-४८; जा०का०भा०सं०, पृ०-१०५.
३५. दसविहे पायच्छित्ते, तं जहा- आलोयणारिहे, ( पडिकम्मणारिहे, तदुभयारिहे, विवेगारिहे, विउसग्गारिहे, तवारिहे, छेयारिहे, मूलारिहे), अणचट्टप्पारिहे, पारंचियारिहे। 'स्थानांग', १०/७३  
तं दस विट्ठयालोयण पडिकम्मणोभयविवेगवोसग्गा।  
तवछेंदमूलअणवट्ठया य पारंचियं चैवा। 'जीतकल्पसूत्र', ४.
३६. 'तत्त्वार्थसूत्र', ९/२२
३७. 'मूलाचार', ३६२
३८. 'बृहत्कल्पभाष्य', भाग ३, १६९७-१७०० टीका
३९. 'चुल्लवग्ग', पृ०-१७०, १७८
४०. 'परिवारपालि', पृ०-२११
४१. थुल्लवज्जा ति थूल्लदोसे पज्जता गरूकापत्ति। - 'परिवारपालि', पृ०-२१२.
४२. एको पाराजिकापत्तिक्खन्धो अनवसेसापत्ति नामा वही (समन्तपासादिका), भाग तृतीय, पृ०-१३६८
४३. अथुल्लवज्जा ति लहुकापत्ति। वही, भाग तृतीय, पृ०-१४२०
४४. 'चुल्लवग्ग', पृ०-४०६
४५. सिक्खापदे च विभङ्गे च बुत्ता आपत्ति जानतब्बा। 'समन्तपासादिका', भाग-३, पृ०-१४१९.
४६. 'विनयपिटक', पृ०-८
४७. 'समन्तपासादिका', भाग-३, पृ०-१४५७
४८. 'पाचिन्तियपालि', पृ०-२८७, २९१
४९. 'विनयपिटक', पृ०-११.
५०. वही, पृ०-१७.
५१. 'विनयपिटक', रा०सां०, पृ०-२३, ५२.
५२. 'पाराजिकपालि', पृ०-६६.
५३. यं हि दुट्ठकतं विरूपं वा कतं तं दुक्कटम्। - 'समन्तपासादिका', भाग-३, पृ०-१४५८.
५४. दुब्भासितं दुराभट्ठं ति दुट्ठं आभट्ठं भासितं लपितं स दुराभट्ठमा यं दुराभट्ठं तं दुब्भासितम्। - 'समन्तपासादिका', भाग-३, पृ०-१४५९
५५. 'बृहत्कल्पसूत्र' ४/३.

५६. 'निशीथसूत्र', १८/१९-२३
५७. वही, ३/१-१५
५८. वही, २/४३-४५
५९. वही, ९/१-६
६०. जे भिक्खू आयरिय अदित्तं आहारेइ, आहारंते वा साइज्जइ।  
जे भिक्खू आयरियं उवज्झाएहिं अविदीणं विथगयं आहारेइ, आहारंत वा साइज्जइ।  
जे भिक्खू ठवणाकुलाई अजाणियं अपुच्छियं अगवासयं पुव्वामेव पिंडवाय पडियाए।  
अणुपविसइ, अणुपविसंतं वा साइज्जइ॥ - 'निशीथसूत्र', २२-२४
६१. ण्हिमते भुजइ भुजंतं वा साइज्जइ। 'निशीथसूत्र', १२/१४
६२. 'विनयपिटक', रा०सां०, पृ०-५२
६३. वही
६४. वही, पृ०-२५
६५. वही, पृ०-२५
६६. 'निशीथ', १९/१०-१८
६७. जे भिक्खू हेठिल्लाइं समोसरणाइं अवामत्ता, उवरिम सुयं वासति, वायंतं वा साइज्जइ। जे भिक्खू णवबंभवेराइ अवाएत्ता अवरिमसुयं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ।  
'निशीथसूत्र', १९/१९-२०
६८. जे भिक्खू दोण्हपि सरिसमाणं एक्कसं सिक्कावेति, एकं न विक्खावेति एक्क वाएइ।  
एक्कं नवाएइ, एक्कं न सं सिक्खावहतं वा एक्कं णवायंतं वा साइज्जइ। - वही,  
१९/२५
६९. जे भिक्खू आयरियं उवज्झाएहिं अविदिण्णगिरं आतियइ, आतियंतं वा साइज्जइ। -  
वही, १९/२५
७०. 'बृहत्कल्पभाष्य', भाग-१, २८८-९९.
७१. 'विनयपिटक', पृ०-४४५.
७२. 'पातिमोक्ख', भिक्खुनीपाचित्तिय, ४९-५०
७३. वही, १०३



## अष्टम अध्याय

### उपसंहार

मानव इतिहास में 'शिक्षा' मानव समाज के विकास-क्रम में सतत् आधार रही है। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप शिक्षा ही लोगों में शक्ति प्रदान करती है, मानव को सामाजिक विकास के लिए प्रेरित करती है तथा उसे समाज में योगदान देने के योग्य बनाती है। परन्तु जीवन के कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो शाश्वत और चिरन्तन होते हैं जिनका समाधान मानव-मस्तिष्क देश और काल के अनुरूप प्रत्येक युग में देता आया है। ये प्रश्न ऐसे हैं जिनका प्रारम्भ कहाँ से हुआ और अन्त कहाँ पर होगा- यह बताना मुश्किल है। शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिए और उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कौन-सी पद्धति होनी चाहिए? इन सब सवालों को लेकर प्रबुद्ध वर्ग में अशान्ति छायी रहती है। जहाँ तक शिक्षा के उद्देश्यों की बात है तो प्राचीन काल से लेकर अब तक दार्शनिकों, विचारकों और शिक्षाविदों ने अपने-अपने अनुरूप उद्देश्यों को बताने का प्रयास किया है। किसी ने पूर्ण मानव जीवन का चारित्रिक विकास तो किसी ने विद्या की प्राप्ति को शिक्षा का उद्देश्य बताया है। किसी ने ज्ञान तथा आनन्द की प्राप्ति को तो किसी ने बौद्धिक विकास तथा सामाजिक और सांस्कृतिक स्तरों को ऊँचा करने को शिक्षा का उद्देश्य बताया है।

यदि हम शिक्षा का अर्थ मानव के चारित्रिक विकास या चारित्रिक निर्माण से लेते हैं तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या शिक्षा के उद्देश्य शाश्वत हैं अथवा परिवर्तनशील? इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि शिक्षा का उद्देश्य तो एक होता है, परन्तु व्यवहार में उसका रूप व अर्थ देश तथा काल के अनुरूप भिन्न भी हो सकता है। यदि चरित्र-निर्माण को शिक्षा का सर्वसम्मत उद्देश्य स्वीकार कर भी लिया जाए तो भी यह देश और काल के साथ-साथ भिन्न हो सकता है। अतः हमें शिक्षा-सम्बन्धी उस चिर सत्य एवं लक्ष्य को पहचानना होगा जिसकी नींव पर शिक्षा का भव्य प्रासाद खड़ा है, क्योंकि शिक्षा पर ही मानव जीवन की सफलता और असफलता निर्भर करती है। शिक्षा का सम्बन्ध मानव के सम्पूर्ण जीवन से है। शिक्षा ही वह उपयुक्त साधन है जिससे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जिस प्रकार बच्चे का क्रमिक विकास होता

है उसी प्रकार उचित शिक्षा द्वारा उसके व्यक्तित्व का विकास होता है जो आगे चलकर एक सम्पूर्ण मानवता को खड़ी करती है।

ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में मुख्य रूप से तीन तत्त्व अनिवार्य हैं— गुरु, शिष्य और शिक्षण-पद्धति। इन तीनों में अनुस्यूत सम्बन्ध होता है। शिक्षा देनेवाला गुरु होता है, शिक्षा ग्रहण करनेवाला शिष्य और उन दोनों को जोड़नेवाली कड़ी होती है— शिक्षण-पद्धति या शिक्षा।

## गुरु

प्राचीनकाल में गुरु को सामान्यता आचार्य नाम से सम्बोधित किया जाता था। आचार्य अर्थात् आचारवान्। आदर्श जीवन का आचरण करते हुए विद्यार्थियों से तदनु रूप उसका आचरण करवा लेनेवाला ही आचार्य होता था। वह आचार्य ही गुरु, शिक्षक, अध्यापक कहला सकता था जो अपने शिष्यों में सदाचार, नैतिकता, अनुशासन की भावना का सन्निवेश करता था, शास्त्र के अर्थों का जीवनोपयोगी व विविध विषयों का यथोचित बोध कराता था।

आज हमारे देश और समाज के विकास का श्रेय किसी को है तो वह है आचार्यों की गुरुकुल-परम्परा को जिनकी शिक्षा-पद्धति मनुष्यों को न केवल आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति कराती रही है बल्कि व्यक्ति में ऐसी शक्ति और प्रतिभा प्रदान करती रही है जिससे व्यक्ति स्वयं एवं समाज को सुव्यवस्थित करता रहा है। परन्तु आज हमारी प्राचीन गुरुकुल-परम्परा नहीं रही। समय और परिस्थितियों ने गुरुकुल-परम्परा को छिन्न-भिन्न कर दिया है। परिणामस्वरूप आज अध्यापकों का उत्तरदायित्व सीमित हो गया है। स्कूल, कालेजों में दो-चार घण्टे के अतिरिक्त विद्यार्थियों के जीवन से उनका कोई सम्पर्क नहीं रहता है। आज अध्यापन उनके लिए एक पेशा मात्र बनकर रह गया है। विद्यार्थी और अध्यापक के बीच कोई सीधा सम्पर्क भी नहीं रहता है। आत्मीयता के भाव की तो बात ही क्या? प्रायः शिक्षक और शिक्षार्थी में सामान्य परिचय भी नहीं रहता।

## शिष्य

ज्ञानार्जन का दूसरा अंग है 'शिष्य'। ज्ञानार्जन की प्रक्रिया पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा सम्पन्न होती है। ज्ञान के लिए एक ओर जहाँ ज्ञानेन्द्रियों की निर्मलता अत्यन्त आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर मस्तिष्क की स्वच्छता और ज्ञान को धारण करने की शक्ति भी अनिवार्य है। यही कारण है कि शिष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह शरीर और मस्तिष्क से पूर्णतः स्वस्थ और निर्मल हो।

प्राचीनकाल में शिक्षा प्रारम्भ करने से पहले विद्यार्थी का उपनयन संस्कार होता था। उस संस्कार के बाद गुरु शिक्षा आरम्भ करते थे। विद्यार्थी के लिए सदाचार का पालन करना, स्वास्थ्य को उत्तम बनाना आवश्यक समझा जाता था। यही कारण है कि नैतिक शिक्षा तत्कालीन शिक्षा का आधार स्तम्भ बन गयी थी जिसमें चारित्रिक उन्नति का आदर्श एक प्रमुख स्थान रखता था। जब से विद्यार्थी को गुरु शिक्षा देना स्वीकार करते थे तब से लेकर एक निश्चित अवधि तक उसे बड़े अनुशासन में रहना पड़ता था। चारित्रिक विकास के साथ-साथ स्मरणशक्ति का भी प्रमुख स्थान था। विद्यार्थी को यम, नियम आदि अनेक व्रतों का पालन भी करना पड़ता था। गुरुकुल में समस्त विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन गुरु-शिष्य एक साथ रहकर किया करते थे। उनके आवास भोजनादि का प्रबन्ध भी वहीं होता था। गुरुकुल में सच्चरित्र एवं सुसंस्कृत विद्यार्थी ही प्रवेश का अधिकारी होता था। गुरुकुल के पवित्र वातावरण में विद्याध्ययन करनेवाले छात्र विनयी होते थे।

आधुनिक प्रसंग में उपर्युक्त कसौटियाँ व्यर्थ हो गयी हैं, क्योंकि लाखों-करोड़ों में कुछ ही ऐसे छात्र होते हैं जो शिष्यता की कसौटी पर खरा उतरने की क्षमता रखते हैं। आज शिक्षा जगत के लिए बढ़ता हुआ छात्र असन्तोष एक चुनौती बना हुआ है। विभिन्न कालेजों, विश्वविद्यालयों के छात्रों द्वारा अपनी मांगों के समर्थन में आन्दोलन चलाये जाते हैं। आये दिन यह सुनने या समाचारपत्रों में पढ़ने को मिलता है कि छात्रों ने विद्यालयों में तोड़फोड़ किया, अध्यापकों की पिटाई कर दी, विद्यालय, कार्यालय और सरकारी दफ्तरों में आग लगा दी; बसें, मोटरें आदि जला दी। इसका कारण क्या है? जहाँ तक मेरा मानना है कि इसका मूल कारण है - उद्देश्यहीन शिक्षा। आजकल विद्यार्थी स्कूल-कालेजों में दाखिला तो ले लेते हैं लेकिन उन्हें यह भी पता नहीं होता कि उनकी शिक्षा का उद्देश्य क्या है? फलतः वे विभिन्न राजनीतिक दलों के शिकार हो जाते हैं। यही कारण है कि वे अपनी छोटी-छोटी मांगों के लिए आन्दोलन का सहारा लेते हैं।

### शिक्षण-पद्धति

गुरु और शिष्य के बाद तृतीय स्थान शिक्षण-विधि का है। प्राचीनकाल में शिक्षण-विधि के तीन महत्वपूर्ण अंग थे— श्रवण, मनन और निदिध्यासन। गुरु का उपदेश सुनना, प्राप्त उपदेश पर मनन करना और शंका उपस्थित होने पर तर्क कर पुनः गुरु से पूछना क्रमशः श्रवण, मनन और निदिध्यासन है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन के अतिरिक्त स्वाध्याय भी शिक्षण-विधि के अन्तर्गत आता है। स्वाध्याय शिक्षण की वह विधि है जिस पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता, यह विधि प्राचीनकाल से चली

आ रही है और कालान्तर में भी निरर्थक सिद्ध नहीं होगी।

गुरुकुल की शिक्षा का रूप न केवल सैद्धान्तिक था, बल्कि व्यावहारिक भी था। आश्रम में गुरु और शिष्य एक परिवार के सदस्य के रूप में रहते थे। गुरु और शिष्य के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध था। गुरु शिष्यों पर उसी प्रकार ध्यान देते थे जिस प्रकार पिता अपने पुत्र पर देता है। इस वातावरण में शिष्य का व्यक्तित्व गुरु के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित होता था। गुरु के आदर्शों को प्राप्त करना ही शिष्य का उद्देश्य होता था। गुरु अपने आचरण से शिष्य को आचारवान बनाते थे। आश्रम में ही विद्यार्थी आत्मनिर्भरता, परिश्रम का महत्त्व, बड़ों के प्रति श्रद्धाभाव, सहपाठियों के साथ भ्रातृभाव का पाठ ग्रहण करता था।

प्राचीन शिक्षण-प्रणाली के ठीक विपरीत आज की आधुनिक शिक्षण-प्रणाली है जो अधूरी तथा अव्यावहारिक है। आज की शिक्षण-प्रणाली में जो बुराईयाँ आ गयी हैं, उनमें सबसे पहला दोष है कि शिक्षा निरुद्देश्य होती जा रही है। वर्तमान शिक्षण-प्रणाली विद्यार्थी को डॉक्टर, इंजीनियर, अधिवक्ता आदि तो बना दे रही है, पर सही मायने में इंसान नहीं बना पा रही है। शिक्षण केन्द्र की व्यवस्था ऐसी है कि शिक्षक और शिक्षार्थी का एक-दूसरे से सीधा सम्पर्क नहीं हो पाता है। दोनों के बीच अलगाव की खाई-सी बनती जा रही है। दोनों में अपने-अपने उत्तरदायित्वों के प्रति उदासीनता और उपेक्षा की भावना जोर पकड़ती जा रही है।

आज की शिक्षा इतनी व्यय-साध्य है कि अभिभावकों को खर्च करते-करते मानो उनकी कमर ही टूट जाती है। वर्तमान शिक्षण-प्रणाली ने छात्र को किताबी कीड़ा तो अवश्य बना दिया है, किन्तु पूर्ण ज्ञाता या विषय का मर्मज्ञ बनाने में अक्षम है। छात्र चाहे मेधावी हों या अल्पमति, सबको एक ही प्रणाली में शिक्षा ग्रहण करना पड़ता है। नतीजा यह होता है कि अल्पमति के विद्यार्थी कुछ प्रश्नों को रटकर या अन्यान्य प्रकार से वर्ष के अन्त में परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त कर लेते हैं। प्राचीन शिक्षा में जहाँ व्यक्ति के चरित्र-निर्माण पर बल दिया जाता था, वहीं आधुनिक शिक्षा में नैतिकता, चरित्र-निर्माण, सहनशीलता, तप, त्याग, अनुशासन, आज्ञापालन, कर्तव्यपालन, विनम्रता आदि गुणों का सर्वथा अभाव होता जा रहा है। आज व्यक्ति सच्ची शिक्षा ग्रहण नहीं करना चाहता है उसे सिर्फ उपाधि से मतलब होता है, क्योंकि आज शिक्षा और ज्ञान से ज्यादा रोटी की समस्या कठिन हो गयी है। यही कारण है कि शिक्षा को व्यवसाय से जोड़ दिया गया है, यथा - तकनीकी शिक्षा, वैज्ञानिक शिक्षा तथा औद्योगिक शिक्षा आदि।



शासन भी इसी भावना से ग्रसित है। नैतिक शिक्षा या चारित्रिक-शिक्षा में शासन को उसकी धर्मनिरपेक्षता दूषित होती दिखायी पड़ती है। लेकिन धर्मनिरपेक्षता का यह तो मतलब नहीं है कि धर्म और नीति से विमुख हो जाया जाये। परन्तु आज यही हो रहा है। धर्मनिरपेक्षता के नाम पर शिक्षा से नैतिकता और चरित्रता को निकाल फेंक दिया गया है। आज की शिक्षा योजना में आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की शिक्षा का कोई स्थान नहीं है जबकि अब तक के शिक्षा आयोगों ने अपनी अनुशंसाओं में आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की आवश्यकताओं को प्रतिपादित किया है।

हमारे सामने एक और समस्या है और वह है भाषा की। प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति होती है, अपनी भाषा होती है। परन्तु आज समाज में उसे ही श्रेयस्कर माना जा रहा है, उन्हें ही उच्च स्थान प्राप्त है जो अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। लेकिन सत्य तो यह है कि कोई भी विद्यार्थी अपनी मातृभाषा के माध्यम से जितना विस्तृत ज्ञान सहजतया प्राप्त कर सकता है, उतना किसी अन्य भाषा से नहीं। किसी भी राष्ट्र की शिक्षा वहाँ की मातृभाषा या राष्ट्रीय भाषा में दी जाती है तो वह श्रेयष्कर मानी जाती है, किन्तु आज हम स्वतन्त्र होकर भी दूसरे की भाषा को अपनी जुबान पर बैठाये हुए हैं। जैसी मान्यता है - आधुनिक शिक्षा की नींव लार्ड मैकाले द्वारा डाली गयी, परन्तु आधुनिक शिक्षा में है क्या इसे देखने का प्रयास करते हैं।

आधुनिक शिक्षा को सामान्य तौर पर हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं - उच्च शिक्षा, मध्यम शिक्षा तथा निम्न शिक्षा।

**उच्च शिक्षा**— इसके अन्तर्गत चिकित्सा, अभियांत्रिकी, तकनीकी, कम्प्यूटर आदि की शिक्षा को रख सकते हैं जिसे पाने के लिए देश के उच्चकोटि के मेधावी छात्र उद्यत रहते हैं।

**मध्यम शिक्षा**— इसके अन्तर्गत कला, वाणिज्य आदि को रखा जा सकता है। इस शिक्षा को पाकर भी पानेवालों को यह नहीं मालूम होता कि मैंने क्या पाया? क्योंकि यह शिक्षा दिशाविहीन जैसी प्रतीत होती है।

**निम्न शिक्षा**— वेद, पुराण, संस्कृत आदि की शिक्षा को हम निम्नकोटि में रख सकते हैं। संस्कृत जो कभी भारतीय शिक्षा का गौरव थी और जिसका विश्व इतिहास में सर्वोच्च स्थान था वह आज निम्न श्रेणी में आ गयी है।

शिक्षा की उपर्युक्त तीन कोटियों से मेरा मतलब समाज में शिक्षा के प्रति व्याप्त धारणाओं से है। जहाँ तक उच्च शिक्षा, निम्न शिक्षा का सवाल है तो इतना कहा जा सकता है कि शिक्षा चाहे उच्च हो या निम्न, परन्तु उसके उद्देश्य निश्चित होने चाहिए।

परन्तु आज सबसे दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति तो यह है कि हममें से कोई भी शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं हैं - न अभिभावक, न शिक्षक, न समाजसुधारक और न समाज ही। सरकार भी यह स्पष्ट नहीं कर पा रही है कि देश के लिए किस तरह की शिक्षा-व्यवस्था की जाये जिससे देश की उन्नति हो। यद्यपि सरकार ने नयी शिक्षा नीति बनायी है जिसमें १०+२+३ की नयी शिक्षण-प्रणाली स्वीकृत है। इसका मुख्य उद्देश्य है सबको नये रोजगार के अवसर प्रदान करना तथा विश्व के अन्य उन्नत देशों के समक्ष खड़ा करना। इस शिक्षण-प्रणाली में त्रिभाषा फार्मूला पारित किया गया है - (१) राष्ट्रभाषा हिन्दी, (२) विदेशी भाषा, और (३) प्रान्तीय भाषा। इस त्रिभाषा फार्मूला में भारत की मूल भाषाएँ संस्कृत, प्राकृत और पालि को कोई स्थान नहीं दिया गया है। १०+२+३ शिक्षण-प्रणाली से पहले भी तो ११+१+३ शिक्षण-प्रणाली थी। दोनों में समय तो लगभग बराबर लगते हैं, फिर मात्र विषयों के हेरा-फेरी से क्या लाभ ? इससे पहले भी शिक्षा में कई सुधार किये गये हैं, जैसे विश्वविद्यालय कमीशन, मुदालियर कमीशन, शैक्षणिक पंचवर्षीय कार्यक्रम, स्त्री-शिक्षा के लिए बालिका विद्यालय एवं नयी शिक्षा- नीति के तहत नवोदय विद्यालय की स्थापना आदि अनेक सुधार के प्रयास किये गये हैं। फिर भी यह निश्चित नहीं हो पाया कि शिक्षा कैसी होनी चाहिए?

आज हम जब बालकों के चरित्र-निर्माण या संस्कार-निर्माण की बातें करते हैं तो इसके पीछे क्या आशय निहित होता है? क्या ऐसा तो नहीं कि हम आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के द्वारा ऐसे समाज की रचना करना चाहते हैं जो एक ओर धार्मिक गृहों, यथा-मन्दिरों, मस्जिदों, चर्चों में अथवा सामाजिक समारोहों और मंचों पर बाहर से धर्म, सदाचार, नैतिकता और सौजन्यता का दिखावा करता हो वहीं दूसरी ओर जीवन के कर्मक्षेत्र में कुटिलता और वासना से रंजित हो? या फिर कहीं हम ऐसी संस्कृति की रचना तो नहीं करना चाहते जो आन्तरिक मूल्यों से रिक्त हो और बाहरी दिखावे पर खड़ा हो? या हम सदाचार और नैतिकता के आन्तरिक मूल्यों से रिक्त तथा भोगवाद और औपचारिक शिष्टाचार पर जीवित पाश्चात्य सभ्यता को पुनर्जीवित तो नहीं करना चाहते हैं? या हम अपनी शिक्षण-प्रणाली को बिल्कुल साम्प्रदायिक मदान्धता या रूढ़िवादिता पर आधारित तो नहीं देखना चाहते हैं?

धर्म, नैतिकता, सत्यनिष्ठा तथा आध्यात्मिकता से हीन वर्तमान शिक्षा राष्ट्र के प्रत्येक स्तर पर अस्थिरता एवं अशान्ति का निमित्त बन रही है। समाज के उच्च वर्ग तथा मध्यम वर्ग सभी को पाश्चात्य ढंग के स्कूलों में बच्चों को पढ़ाने की ललक पड़ी हुई है। यद्यपि ऐसे स्कूलों से निकले बालक औपचारिक सौजन्य और बाह्य शिष्टाचार में तो निश्चित ही आगे होते हैं; किन्तु वे किसी आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यवादी

जीवन दृष्टि से सम्पन्न होते हैं या नहीं यह कहना कठिन है। वर्तमान में उद्वेगता, अनुशासनहीनता, अनैतिकता, चारित्रिक अधःपतन, माता-पिता तथा गुरु के प्रति श्रद्धाहीनता, राष्ट्रीय भावना की कमी, स्वार्थान्धता आदि दोष इसलिए आ गये हैं कि हमने अपनी मौलिक भूमिका को छोड़कर पराई विधि-विधानों को अपनाने का प्रयास किया है जिनका कि हमारी संस्कृति से तालमेल नहीं बैठता। यद्यपि ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि भारतीय पद्धति के अतिरिक्त अन्य पद्धतियाँ बिल्कुल ही गलत हैं। किन्तु हम दूसरे की नकल करते हैं तो उसकी अच्छाइयों को छोड़ देते हैं और बुराइयों को ग्रहण कर लेते हैं क्योंकि ऐसा हम आसानी से कर लेते हैं।

### शिक्षा-सुधार : कुछ पहल

शिक्षा के प्रमुख तीन आयाम होते हैं जिन पर सुदृढ़ शिक्षा की नींव स्थापित होती है। वे हैं— अभिभावक, शिक्षक और समाज। ये तीन ऐसे प्रमुख स्तम्भ हैं जिन पर बालकों की सुदृढ़ शिक्षा आधारित होती है। इन तीनों के अपने-अपने उत्तरदायित्व होते हैं।

परिवार बालकों की प्रथम पाठशाला है जिसके अध्यापक, माता-पिता होते हैं। माता-पिता द्वारा बालकों में संस्कारों के बीज बोये जाते हैं। परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आज के माता-पिता अपने बालकों को शिष्टाचार का पालन करनेवाला और सुसंस्कारी बनाने में सक्षम हैं। संस्कारी से मेरा मतलब है विनय और शिष्टाचार का पालन करनेवाला। किन्तु आज बच्चे संस्कारी कैसे बन सकते हैं, क्योंकि माता-पिता का अधिकांश समय आफिसों, क्लबों और होटलों में बीतता है तथा बच्चे नौकरों और आयाओं के द्वारा पलते हैं। ऐसे में हम कैसे सुसंस्कारी बालक की उम्मीद कर सकते हैं? उन पर संस्कार पड़ेगा भी तो नौकरों और आयाओं का। किन्तु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि सभी नौकरों और आयाओं के संस्कार बुरे ही होते हैं। सन्तान में सुसंस्कार लाने के लिए स्वयं के जीवन को अर्पण करना पड़ता है। माता-पिता को त्याग एवं संयम का जीवन बिताना पड़ता है। बच्चे के प्रति अभिभावकों के कुछ कर्तव्य बनते हैं जो इस प्रकार हैं —

- (क) अभिभावक अपने को संस्कारी तथा सदाचारी बनायें।
- (ख) अपने बालकों को उनके दुश्चरित्र मित्रों से बचायें।
- (ग) बालकों को नौकरों और आयाओं के पास ज्यादा समय न छोड़ें।
- (घ) समय-समय पर बालकों को आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का बोध कराते रहें।

- (ड) बालकों को पाठशाला में दाखिला कराते समय अच्छे और अनुशासित पाठशाला में दाखिला करायें।
- (च) यदि उच्च शिक्षा हेतु बालकों को परिवार से अलग रहना पड़े तो उन्हें विश्वविद्यालय के ऐसे छात्रावासों में प्रवेश दिलावें जहाँ आचार-विचार का समुचित ध्यान दिया जाता हो।

बालकों के निर्माण में शिक्षक बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। माता-पिता के संस्कारों से सन्तान के प्रारम्भिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है, तत्पश्चात् उसका परिवेश और वातावरण उसके संस्कारों को जन्म देता है और वह संस्कार पल्लवित होता है। अपनी देखरेख में शिक्षार्थी को योग्य और अनुकूल बनाना शिक्षक का महीन गुण है। शिक्षक का आदर्श जीवन विद्यार्थी के लिए प्रेरणा-पुंज का काम करता है, किन्तु क्या वर्तमान में ऐसे शिक्षक आसानी से मिल सकते हैं जो बालकों को सही मार्ग दिखा सकें, उसे नैतिकता-सम्पन्न तथा संस्कारी बना सकें। एक समय था जब गुरु की गरिमा ही विद्यार्थियों को आश्रम में आने के लिए आकर्षित करती थी, पर तत्समय गुरु स्वामी होता था, सेवक नहीं। आज समाज और सरकार ने गुरु को सेवक ही बना दिया है। समाज में उसका स्थान पहले से गिर गया है और जब तक शिक्षक को समाज में राजनीतिज्ञों एवं पूँजीपतियों से ऊपर स्थान नहीं दिया जाता, शिक्षक को सेवक के स्थान से ऊपर उठाकर गुरु के गरिमामय पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया जाता, शिक्षक पद के लिए बौद्धिक योग्यता के साथ-साथ चरित्रनिष्ठा को नहीं परखा जाता है तब तक उससे समाज-निर्माण तथा बालकों में चरित्र-निर्माण की अपेक्षा करना यथोचित नहीं है। यदि शिक्षक अपने आपको इन सब बाधाओं से अलग कर लें तो आज भी चरित्र-निर्माण और समाज-निर्माण में अहम् भूमिका अदा कर सकते हैं। शिक्षकों के भी बालकों के प्रति कुछ कर्तव्य बनते हैं जो इस प्रकार हैं —

- (क) सर्वप्रथम शिक्षक अपने को सदाचारी एवं चरित्रनिष्ठ बनावें ताकि उनके प्रति विद्यार्थियों के मन में श्रद्धा, विनय एवं समादर की भावना जाग्रत हो।
- (ख) शिक्षकों का सभी विद्यार्थियों के प्रति समान व्यवहार होना चाहिए।
- (ग) शिक्षक तथा शिक्षण संस्थाएँ छात्रों के आचार-विचार पर समुचित दृष्टि रखें तथा सच्चरित्र, सुसंस्कारी, विनयशील एवं सेवाभावी छात्रों को पुरस्कृत एवं प्रोत्साहित कर छात्र वर्ग में इन गुणों के प्रति निष्ठा जाहिर करें।
- (घ) शिक्षक विद्यार्थियों के साथ पुत्रवत् व्यवहार करें।

(ड) अनुकूल अनुशासन और स्वच्छन्द वातावरण के निर्माण के लिए शिक्षक को चाहिए कि वे सदैव विद्यार्थी बने रहें और विद्यार्थी को चाहिए वह शिक्षा ग्रहण करने के लिए सत् प्रयत्नशील रहे।

तीसरा अंग समाज है जिसके परिवेश में बालकों की शिक्षा सम्पन्न होती है। सामाजिक परिवेश में ही विद्यार्थी को जीवन बिताना है। समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि व्यक्ति में सुधार लाने के लिए समाज में सुधार लाना आवश्यक है। सामाजिक परिवेश को सुधारे बिना हम व्यक्ति के सुधार की कल्पना नहीं कर सकते हैं। अतः समाज का भी विद्यार्थियों के प्रति कुछ उत्तरदायित्व बनता है —

- (क) समाज उन विद्यार्थियों और व्यक्तियों को सम्मानित करे जिनका जीवन सदाचार, सेवा, परोपकार आदि उच्च मूल्यों को साकार करने में लगा हो।
- (ख) गुरुकुल पद्धति पर आधारित आवासीय शिक्षण-संस्थाओं का निर्माण किया जाये जिससे विद्यार्थी समाज के दूषित वातावरण से अलग रहे।
- (ग) मादक द्रव्यों के सेवन; व्यभिचार, वेश्यावृत्ति आदि को समाप्त करने का सफल प्रयास किया जाये।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि अभिभावक, शिक्षक और समाज ये त्रिकोणीय स्तम्भ आपस में मिलकर, एकजुट होकर शिक्षा के क्षेत्र में सामूहिक विचार करें, सामूहिक निर्णय लें तो अवश्य ही हमारी भारतीय शिक्षण-प्रणाली पुनः सुचरित्र, सदाचारी एवं कुशाग्र बुद्धि के विद्यार्थियों को जन्म दे सकती है।

इस प्रश्न का उठना भी यहाँ स्वाभाविक है कि आज की सामाजिक तथा शैक्षिक समस्याओं को सुधारने में जैन एवं बौद्ध शिक्षा दर्शन कहाँ तक और किस रूप में भूमिका अदा कर सकते हैं। ये दोनों परम्परायें प्राचीन हैं और इनकी पद्धतियाँ भी पुरातन हैं। मानव जीवन के विविध पक्ष होते हैं और उनकी अपनी-अपनी समस्याएँ होती हैं। शिक्षा की भी अपनी समस्यायें हैं। व्यक्ति को शिक्षित करना, सुव्यवस्थित जीवन के लिए दिशा-निर्देश करना शिक्षा का कार्य है। यह बात प्राचीनकाल में थी और आज भी है। परन्तु देश और काल के अनुसार प्राचीन और अर्वाचीन में अन्तर होता है। प्राचीनता अपने को अर्वाचीनता के बीच तभी प्रतिष्ठित कर पाती है जब अपने में कुछ परिवर्तन लाकर अर्वाचीन के साथ सामञ्जस्य कायम करती है। यही बात जैन एवं बौद्ध शिक्षा दर्शनों के साथ है। इनका उपयोग तभी देखा जा सकता है जब इनमें आज के अनुसार परिवर्तन हों। जैन-परम्परा की दिगम्बर शाखा में आचार्य आज भी नग्न ही रहते हैं।

आज भी दिगम्बर-परम्परा के लोग उनसे आध्यात्मिक एवं नैतिक शिक्षा ग्रहण करने आश्रमों में जाते हैं जहाँ वे गुरुजन रहते हैं। किन्तु क्या यह सम्भव है कि उन्हें सामान्य तौर से शिक्षक के रूप में पूरे समाज के सामने लाया जाये और समाज के सभी वर्ग उन्हें शिक्षक के रूप में स्वीकार कर लें। पहले शिक्षा जंगलों में दी जाती थी। गुरु और शिष्य जंगलों में ही रहा करते थे तथा भिक्षाटन के आधार पर जीवनयापन करते थे, किन्तु आज के परिवेश में यह भी सम्भव नहीं है।

जैन एवं बौद्ध परम्पराएँ मूलतः निवृत्तिमार्गी हैं। इन दोनों ही परम्पराओं में मोक्ष को प्रथम वरीयता प्राप्त है। यद्यपि जैन धर्म के आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने सभ्यता के प्रारम्भ में असि, मषि और कृषि की शिक्षा दी थी। बौद्ध-परम्परा में भी वस्त्र आदि बनाने का उल्लेख मिलता है पर आध्यात्मिकता ही इन परम्पराओं में प्रमुखता रखती है। इसमें कोई शक नहीं कि भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता को श्रेष्ठता प्राप्त है, परन्तु आज के वैज्ञानिक युग में सिर्फ आध्यात्मिक शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है इसलिए जैन एवं बौद्ध शिक्षा दर्शनों को वैज्ञानिक पद्धतियों को भी अपनाना होगा, तभी उनकी उपयोगिता आज के युग में प्रमाणित हो सकती है। यद्यपि जैन और बौद्ध दर्शनों की जो मौलिक अवधारणाएँ हैं उनकी आज भी समाज को आवश्यकता है। खून-खराबा से भरा हुआ आज का अशान्त समाज अहिंसा को अपनाकर ही शान्ति प्राप्त कर सकता है। भारतीय समाज की बढ़ती हुई आबादी को रोकने के लिए ब्रह्मचर्य से बढ़कर और कोई साधन नहीं। सामाजिक विषमता को अपरिग्रह से हटाया जा सकता है। अतः इससे हम इन्कार नहीं कर सकते कि यदि भारतीय समाज को अथवा सम्पूर्ण विश्व को शान्ति चाहिए, सद्भाव चाहिए, समानता चाहिए तो जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शनों को भी आत्मसात करना होगा।



## सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

- ‘अंगुतरनिकायपालि’ : भिक्षु जगदीश कश्यप, नालन्दा-देवनागरी-पालि ग्रंथमाला, १९६०
- ‘अनुत्तरौपपातिकसूत्र’ : नियोजक- मुनि श्री कन्हैयालालजी, प्रकाशक- अ०भा०श्रे०स्था० जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट (सौराष्ट्र), १९५९.
- ‘अनुयोगद्वारसूत्र’ : युवाचार्य मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १८८७
- ‘अभिधर्मकोषभाष्यम्’ : सम्पा०-प्रो० पी प्रधान, के० पी० जयसवाल शोध संस्थान, पटना, १९६७
- ‘अभिधर्मकोश’ : आचार्य नरेन्द्रदेव, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९७३
- ‘अवदानशतक’, भाग १-२ : जे०एस० स्पेयर (सम्पा०), सेण्ट पिटर्सवर्ग, १९०२, १९०९.
- ‘अश्वघोषकालीन भारत’ : डॉ० अंगनेलाल, कैलाश प्रकाशन, लखनऊ, १९७३.
- ‘आचारांगसूत्रम्’ (प्रथम स्कन्ध) : अनु०- श्री आत्मारामजी म०, सम्पा०- मुनि समदर्शी, प्रका०- आचार्य श्री आत्मारामजी जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना, १९६३.
- ‘आचारांगसूत्रम्’ (द्वितीय स्कन्ध) : अनु०- श्री आत्मारामजी, सम्पा०- मुनि समदर्शी, प्रका०- आचार्य श्री आत्मारामजी जैन प्रकाशन समिति, जैनस्थानक, लुधियाना, १९६४.
- ‘आचारांगसूत्र’ (भाग एक तथा दो) : युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, श्री आगम

- प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), १९८१.
- ‘आचारांगसूत्रम्’ (तीनों भाग) : वाचना प्रमुख- मुनि श्री कन्हैयालालजी, प्रका०-  
अ०भा०श्वे०स्था० जैनशास्त्रोद्धार समिति, मु०-  
राजकोट, १९५७.
- ‘आदिपुराण’ (महापुराण, भाग १-२) : आचार्य जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ,  
काशी, १९५१.
- ‘ऑन यूवानच्यांग ट्रेवेल्स इन इण्डिया’ : थामस वाटर्स, सम्पा०- टी डब्ल्यू राइस  
डेविस, रॉयल एशियाटिक सोसायिटी,  
लन्दन, १९०४
- ‘आयारो’ : वाचना प्रमुख - आचार्य तुलसी; सम्पा० एवं  
विवे०- मुनि नथमल, प्रका०- जैन विश्वभारती  
प्रकाशन, विक्रम संवत् २०३१.
- ‘आवश्यकसूत्रं’ : आमोलक ऋषि, हैदराबाद सिकन्दराबाद जैन  
संघ, वीराद २४४६.
- ‘आवश्यकसूत्रम्’ : घासीलालजी, शान्तिलाल मंगलदास, प्रका०-  
अ०भा०श्वे०स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट  
(सौराष्ट्र), १९५८.
- ‘उत्तरज्झयाणाणि’ : वाचना प्रमुख- आचार्य तुलसी, अनु० एवं  
सम्पा० - मुनि नथमल, प्रका०- जैन श्वेताम्बर  
तेरापंथी महासभा आगम सा० प्रकाशन समिति,  
कलकत्ता, १९६७.
- ‘उत्तराध्ययनसूत्र’ : साध्वी चन्दना, वीरायतन प्रकाशन, आगरा,  
१९७२.
- ‘उत्तराध्ययनसूत्रम्’ : अनु०- श्री आत्मारामजी महाराज, प्रका०-  
खजानची राम जैन, जैन शास्त्रमाला कार्यालय,  
सैदमिड्डा, लाहौर, १९३९.
- ‘उपासकाध्ययन’ : पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रका०- भारतीय  
ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९६४.



- ‘ऋषभदेव : एक परिशीलन’ : देवेन्द्रमुनि शास्त्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६७.
- ‘एणिसयेण्ट इंडियन एजुकेशन’ : आर०के० मुकर्जी, मैकमिलन एण्ड कं० लि०, सेण्ट मार्टिन्स स्ट्रीट, लन्दन, १९४७
- ‘औपपातिकसूत्र’ : युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), १९८२.
- ‘करुणापुण्डरीक’ : राय शरतचन्द्र, दास बहादुर तथा शरतचन्द्र शास्त्री (सम्पा०), सोसायटी, कलकत्ता।
- ‘कल्पसूत्र’ : आचार्य देवेन्द्रमुनि शास्त्री, श्री तारक जैन गुरु ग्रंथालय, उदयपुर, १९८५
- ‘कल्पसूत्र’ : सम्पा०-महो० विनयसागर, प्राकृत भारती, जयपुर (राज०), १९८४
- ‘खुद्दकनिकाय’ : राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौसल्यायन और जगदीश काश्यप, प्रका०- श्री नालन्दा महाविहार, १९३७.
- ‘चिन्तन की मनोभूमि’ : सम्पा०-डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा, सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा, १९७०
- ‘चुल्लवग्ग’ : भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, १९५८
- ‘जातक’ (हि०अनु०), भाग १-६ : भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
- ‘जातककालीन भारतीय संस्कृति’ : पं० मोहनलाल महतो ‘वियोगी’, पटना, १९५८.
- ‘जातकमाला’ : अनु० जे०एस० स्मेयर, एस०वी०वी०, १८९५
- ‘जैन आगम साहित्य - मनन और मीमांसा’ : देवेन्द्रमुनि शास्त्री, प्रकाशक- श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर(राजस्थान), १९७७.
- ‘जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज’ : डॉ०जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५

- ‘जैन दर्शन’ : डॉ० मोहनलाल मेहता, प्रका०-पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी.
- ‘जैन दर्शन’ : पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, प्रका०- श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, भदैनौघाट, काशी, १९५५.
- ‘जैन-धर्म में अहिंसा’ : ले० डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा, प्रका०- सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, १९७२.
- ‘जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारः दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन’ : डॉ० सागरमल जैन, प्रका०- राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान), १९८२.
- ‘जैन साहित्य का इतिहास’, : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, गणेशप्रसाद वर्णी जैन भाग १ तथा २ ग्रन्थमाला, अस्सी, वाराणसी।
- ‘जैन साहित्य का बृहद् इतिहास’, : मोहनलाल मेहता, वाराणसी, १९६६-६७. भाग १ से ४
- ‘जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश’ (भाग ४) : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, प्रका०- भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९७३.
- ‘तत्त्वार्थवार्तिक’ (भाग १-२) : सम्पा०- डॉ० महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य, प्रका०- भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७.
- ‘तत्त्वार्थसूत्र’ : विवेचक - पं० सुखलाल संघवी, प्रका०- पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७६.
- ‘थेरगाथा’ : भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५५.
- ‘दर्शन और चिन्तन’, (खण्ड २) : पं० सुखलाल जी के हिन्दी लेखों का संग्रह, पं० सुखलाल जी सन्मान समिति, गुजरात विद्या सभा, भद्र, अहमदाबाद, १९५७.
- ‘दर्शन-प्रकाश’ : मुनि श्री धनमुनि जी ‘प्रथम’, संजय साहित्य

संगम, जयपुर, १९७२.

- ‘दशवैकालिकसूत्र’ : आत्मारामजी म०, ज्वालाप्रसाद माणिकचन्द जोहरी, महेन्द्रगढ़ (पटियाला)
- ‘दशवैकालिकसूत्र’ : युवाचार्य मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८५
- ‘दसवेआलियं’ : वाचना प्रमुख- आचार्य तुलसी, सम्पा० एवं विवे० - मुनि नथमल, प्रका०- जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान), वि०सं० २०३१.
- ‘दिव्यावदान’ : पी०एल० वैद्य (सं०), मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९३६.
- ‘दीघनिकाय’ (द्वितीय संस्करण) : राहुल सांकृत्यायन, जगदीश काश्यप, भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद,, बुद्ध विहार, लखनऊ, १९७९.
- ‘धर्मामृत’ (अनगार) : सम्पा०- पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका०- भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७७.
- ‘धर्मामृत’ (सागार) : सम्पा०- पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका०- भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९७८.
- ‘नन्दिसूत्र’ : युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), १९८२.
- ‘निशीथसूत्र’ : अमोलक ऋषि, जैन शास्त्रोद्धार मुद्रणालय, सिकन्दराबाद।
- ‘पङ्णयसुत्ताई’ (प्रथम भाग) : सम्पा०- पुण्यविजय मुनि, प्रका०- श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९८४.
- ‘परिवार’ : भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, १९५८
- ‘प्रश्नव्याकरणसूत्र’ : व्याख्याकार- श्री हेमचन्द्रजी म०, सम्पा०- उपाध्याय अमरमुनिजी, प्रका०- सन्मति ज्ञानपीठ,

आगरा, १९७३.

- ‘पालि साहित्य का इतिहास’ : डॉ० भरतसिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, इलाहाबाद, १९५१, १९८६.
- ‘पालि हिन्दी कोश’ : भदन्त आनन्द कौसल्यायन, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, १९७५
- ‘प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन’ : सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री सरस्वतीसदन, मसूरी, १९७५.
- ‘प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास’ : जयशंकर मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, इण्डिया पटना, १९७४.
- ‘प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास’ : ओमप्रकाश, मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, नयी दिल्ली, १९८२.
- ‘बुद्धकालीन समाज और धर्म’ : डॉ० मदनमोहन सिंह, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९७२.
- ‘बुद्धचर्या’ (द्वितीय संस्करण) : राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५२.
- ‘बुद्धचरित’ (अनु०) भाग १ एवं २ : सूर्यनारायण चौधरी, प्रका०- संस्कृत भवन, पूर्णिया (बिहार), १९५३-५५
- ‘बुद्धचरितम्’ (प्रथम संस्करण) : अनु०- रामचन्द्र दास शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३.
- ‘बुद्धिज्म’ : टी०वी० राइस डेविस, इण्डोलोजिकल बुक हाउस, दिल्ली, १९७३
- ‘बोधिचर्यावतार’ : अनु०- शान्ति भिक्षु शास्त्री, बुद्ध विहार, लखनऊ, १९८३.
- ‘बौद्ध दर्शन-मीमांसा’ : पं० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७८.
- ‘भगवती आराधना’, भाग १-२ : सम्पा०-अनु०- पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, प्रका०- सेठ लालचन्द हीराचन्द जैन संस्कृत संरक्षक संघ, शोलापुर, १९७८.

- ‘भगवतीसूत्र’ : घासीलालजी, जैन शास्त्रोद्धार समिति, १९७१.
- ‘भारतीय शिक्षा की समस्याएँ तथा प्रवृत्तियाँ’ : सुबोध अग्रवाल और माधवेन्द्र उनियाल, उत्तर उत्तर हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९८२.
- ‘भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास’ (अनु०) : रिगजिन लुण्डूप लामा, काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना, १९७१.
- ‘भारतीय संस्कृति का इतिहास’ : पुरी, बी०एन०, इलाहाबाद, १९५८.
- ‘भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास’ : पुरी, बी०एन० चोपड़ा, पी०एन०, दास एम० एन०, दी मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, १९७५.
- ‘मज्झिमनिकाय’ : सम्पा०-भिक्षु जगदीश कश्यप, नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, १९५८
- ‘मज्झिमनिकाय’ (हिन्दी) : महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी।
- ‘मनुस्मृति’ : पं० श्री हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६५.
- ‘महापरिनिब्बानसुत्त’ (अनु०) : भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, संवत् २०१५
- ‘महावग्ग’ : भिक्षु जगदीश काश्यप, श्री नालन्दा महाविहार, १९५६.
- ‘महावंश’ : भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९४२.
- ‘मिलिन्दपन्हपालि’ : सम्पा०- स्वामी द्वारकादास शास्त्री, प्रका०-बौद्धभारती, वाराणसी, १९७९.
- ‘मिलिन्दप्रश्न’ : अनु०-भिक्षु जगदीश काश्यप, जेतवन महाविहार पालि संस्करण संस्थान, श्रावस्ती, १९७२.
- ‘मूलाचार’ (पूर्वार्द्ध) : हिन्दी टीका- आर्थिकारत्न ज्ञानमतीजी, प्रका०-भारतीय ज्ञानपीठ, १९८४.
- ‘रायपसेणयइय-सुत्त’ : सम्पा०-पं० बेचरदास जीवराज दोशी, गूर्जर

ग्रन्थरत्न कार्यालय, गाँधी मार्ग, अहमदाबाद।

- ‘ललितविस्तर’ : राजेन्द्र लाल मित्रा (सं०) एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता।
- ‘ललितविस्तर’ : अनु०- शान्तिभिक्षु शास्त्री, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९८४
- ‘विनयपिटक’ : अनु०- राहुल सांस्कृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९३५.
- ‘विशेषावश्यकभाष्य’ : सम्पा०-दलसुख मालवणिया, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, १९६८
- ‘विश्वदर्शन की रूपरेखा’ : पं० विजयमुनि, श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, पूना, १९७१.
- ‘व्यवहारसूत्र’ : अमोलक ऋषि, ज्वालाप्रसाद माणिकचन्द्र जोहरी, महेन्द्रगढ़ (पटियाला)
- ‘शिक्षा के दार्शनिक आधार’ : आर०आर० रस्क (अनु०) डॉ०लक्ष्मीलाल के० ओड, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९८२.
- ‘शिक्षा के दार्शनिक एवं समाज-शास्त्रीय सिद्धान्त’ : रामबिहारी लाल रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ, छठा संस्करण १९८२.
- ‘शिक्षा के मूल दार्शनिक आधार : एवं महान शिक्षाशास्त्री’ : नरेशचन्द्र ग्वाड़ी, बी०बी० सिंह, वसुन्धरा प्रकाशन, २३६, दाउदपुर, गोरखपुर।
- ‘शिक्षा-दर्शन’ : रामशकल पाण्डेय, इलाहाबाद, १९८३.
- ‘शिक्षासमुच्चय’ : पी०एल० वैद्य, दरभंगा।
- ‘श्रमण-सूत्र’ : अमर मुनि जी महाराज, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६६.
- ‘श्रीमद्भगवद्गीता’ (शांकरभाष्य) : गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, सासुन बिल्डिंग, एलफिन्टून सर्कल, मुंबई, १९३८

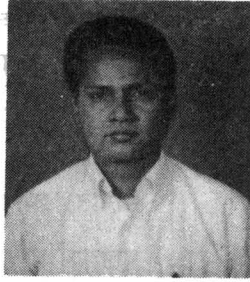
- ‘सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र’ : नलिनाक्ष दत्त (सं०), एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९५३.
- ‘सद्धर्मपुण्डरीक’ : अनु०- डॉ० राममोहन दास, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६६.
- ‘संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन’ (प्रथम संस्करण) : डॉ० अंगनेलाल, कैलाश प्रकाशन, लखनऊ, १९६८.
- ‘संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ’ : चतुर्वेदी, द्वारका प्रसाद शर्मा एवं पं० तारणीश झा, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९५७.
- ‘संस्कृत-हिन्दी-कोश’ : वामन शिवराम आपटे, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।
- ‘समयसार’ : पं० जयचन्द, प्रका०- जिनवाणी प्रकाशन विभाग, श्री जैन मन्दिर सराय, रोहतक, वि०सं० २४६८.
- ‘समवायांगसूत्र’ : अनु०- वि० सम्पा०- पं० हीरालाल जी शास्त्री, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राजस्थान), १९८२.
- ‘समवायांग’ : युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राजस्थान), १९८२.
- ‘समन्तपासादिका’ : संशोधक-वीरबल शर्मा, नवनालन्दा-महाविहार ग्रन्थमाला, १९६७.
- ‘संयुक्तनिकाय’ (हिन्दी) : जगदीश काश्यप एवं धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५४.
- ‘सर्वार्थसिद्धि’ : सम्पा०- पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५५.
- ‘सामायिकसूत्र’ : उपाध्याय अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा, १९६९.
- ‘सुत्तनिपात’ : भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५०.

- ‘सुभाषित रत्न भाण्डार’ : वासुदेव शर्मा, तुकाराम जावजी, बम्बई, १९११.
- ‘स्थानांगसूत्र’ : युवाचार्य मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राजस्थान), १९८१
- ‘स्थानांगसूत्र’ : पं० हीरालाल शास्त्री, प्र० सम्पा०- युवाचार्य श्री मिश्रीलाल मधुकर, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राजस्थान), १९८१.
- ‘सूत्रकृतांग सूत्र’ : युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राजस्थान, १९८२.
- ‘सौन्दरनन्द’ : सूर्यनारायण चौधरी (सं० तथा अनु०), संस्कृत भवन, पूर्णिया (बिहार)
- ‘सौन्दरनन्दकाव्य’ : चिन्ताहरण चक्रवर्ती, रॉयल एशियाटिक सोसायिटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, १९३९.
- ‘हेनसांग की भारत यात्रा’ : अनु०- ठाकुर प्रसाद शर्मा, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद, १९७२.
- ‘ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र’ : अनु०- पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, सम्पा०- श्री मिश्रीलाल मधुकर, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राजस्थान), १९८१.





## लेखक परिचय



### डॉ० विजय कुमार

- जन्म** : २८.०२.१९६५
- आत्मज** : डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा एवं श्रीमती शान्ति सिन्हा
- जन्म स्थान** : जलालपुर दयाल, पोस्ट-गोपालपुर नेऊरा, जिला-मुजफ्फरपुर (बिहार)
- शिक्षा** : हाईस्कूल : १९७९, श्री महाराज सिंह उच्च विद्यालय, सिरसा रामराय, वैशाली  
 इण्टरमीडिएट : १९८१, माध्यमिक शिक्षा परिषद्, इलाहाबाद, उ०प्र०.  
 बी०ए० : १९८३, म०गां० काशी विद्यापीठ, वाराणसी  
 एम०ए० : दर्शनशास्त्र, १९८५, म०गां०का०वि०, वाराणसी  
 पी०एच०डी० : १९८९, दर्शन विभाग, का०हि०वि०वि०
- पद** : प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
- पुस्तक** : पाश्चात्य दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त  
 स्थानकवासी जैन परम्परा का इतिहास (प्रेस में)
- सम्पादित पुस्तकें** : १. जैन विद्या के विविध आयाम, भाग-६ (साधना खण्ड)  
 २. जैन विद्या के विविध आयाम, भाग-७  
 ३. समाधिमरण  
 ४. जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन  
 ५. ज्ञाताधर्मकथांग का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन  
 ६. पार्श्वनाथ विद्यापीठ हीरक जयन्ती स्मारिका  
 ७. श्री पार्श्वप्रभु बनारस प्रतिष्ठा महोत्सव स्मारिका  
 ८. अर्हत् धर्म-दर्शन की आधारशिला (प्रेस में)  
 ९. अहिंसा की प्रासंगिकता (प्रेस में)
- प्रकाशित शोध-निबन्ध** : २४
- सेमिनार/संगोष्ठी** : ४ पत्र प्रस्तुत

## Our Important Publication

Studies in Jaina Philosophy	Dr. Nathmal Tatia	200.00
Jaina Temples of Western India	Dr. Harihar Singh	300.00
Jaina Epistemology	Dr. I.C. Shastri	150.00
Concept of Matter in Indian Thought	Dr. J.C. Sikdar	300.00
Jaina Theory of Reality	Dr. J.C. Sikdar	300.00
Jaina Perspective in Philosophy	Dr. Ramji Singh	200.00
Aspects of Jainology (Complete Set : Vols. 1 to 7)		2500.00
An Introduction to Jaina Sādhana	Prof. Sagarmal Jain	40.00
Pearls of Jaina Wisdom	Dulichand Jain	120.00
Scientific Contents in Prakrit Canons	Dr. N.L. Jain	400.00
The Heritage of the Last Arhat: Mahāvira	Dr. C. Krause	25.00
The Path of Arhat	T.U. Mehta	200.00
Multi-Dimensional Application of Anekāntavāda Ed. Prof S.M. Jain		
	& Dr. S.P. Pandey	500.00
The World of Non-Living	Dr. N.L. Jain	400.00
जैनधर्म और त्रांत्रिक साधना	डॉ० सागरमल जैन	३५०.००
सागर जैन-विद्या भारती (पाँच भाग)	डॉ० सागरमल जैन	५००.००
गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण	डॉ० सागरमल जैन	६०.००
अहिंसा की प्रासंगिकता	डॉ० सागरमल जैन	१००.००
अष्टकप्रकरणम्	डॉ० अशोककुमार सिंह	१२०.००
दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन	डॉ० अशोककुमार सिंह	१२५.००
जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन	डॉ० शिवप्रसाद	३००.००
अचलगच्छ का इतिहास	डॉ० शिवप्रसाद	२५०.००
तपागच्छ का इतिहास	डॉ० शिवप्रसाद	५००.००
सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय	१००.००
जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन	डॉ० सुधा जैन	३००.००
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सम्पूर्ण सेट सात खण्ड)		१४००.००
हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सम्पूर्ण सेट चार खण्ड)		७६०.००
जैन प्रतिमा विज्ञान	डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी	३००.००
महावीर और उनके दशधर्म	प्रो० भागचन्द्र जैन	८०.००
वज्जालगं (हिन्दी अनुवाद सहित)	पं० विश्वनाथ पाठक	१६०.००
प्राकृत हिन्दी कोश	सम्पा०-डॉ० के०आर०चन्द्र	४००.००
भारतीय जीवन मूल्य	प्रो० सुरेन्द्र वर्मा	७५.००
नलविलासनाटकम्	सम्पा०-प्रो० सुरेशचन्द्र पाण्डे	६०.००
समाधिमरण	डॉ० रज्जनकुमार	२६०.००
हिन्दी गद्य के विकास में पं० सदासुखदासजी का योगदान	डॉ० मुन्नी जैन	३००.००
पञ्चाशक-प्रकरणम्	अनु०-डॉ० दीनानाथ शर्मा	२५०.००
जैनधर्म में अहिंसा	डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा	३००.००
बौद्ध प्रमाणमामांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा	डॉ० धर्मचन्द्र जैन	३५०.००
महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श	भगवतीप्रसाद खेतान	१५०.००
भारत की जैन गुफाएँ	डॉ० हरिहर सिंह	१५०.००